कबीर साहित्य

का

अध्ययन

लेखक

पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव, एम० ए०

प्रकाशक

साहित्य-रत्न-माला कार्यालय

२०, धर्म्म कूप, बनारस

डाक्टर श्यामसुंदर दास

पं० रामचंद्र शुक्ल

पं० केशवप्रसाद मिश्र

डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल

को

उनके शिष्य द्वारा

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्व भूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।

× × ×

तं ह देवं आत्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥
(श्वेताश्वतर उप०)

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥
(भर्तृहरि)

ईश्वरः सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(गीता १८।६१-६२)

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
(गीता ७।१६-१७)

निवेदन

आज हिंदी पाठकों की सेवा में यह तुच्छ भेंट प्रस्तुत करते हुए मुझे अवर्ण-नीय शांति और संतोष का अनुभव हो रहा है। स्वर्गीय आचार्य केशवप्रसाद मिश्र की अवधानता में तीन वर्ष के निरंतर परिश्रम के बाद यद्यपि सन् ४५ में ही इसका लिखना समाप्त हो चुका था, किंतु परिस्थितियों ने मुझे काशी छोड़ने के लिये विवश कर दिया जिससे उस समय इसे प्रकाश्य रूप न मिल सका। इस बीच मैं बराबर इसमें लगा ही रहा हूँ, किंतु इसे प्रकाश में लाने की ओर मेरी प्रवृत्ति नहीं रह गई थी। आज जब किसी प्रकार इसे यह रूप मिला, तो दुःख है, मेरे पूज्य गुरु पंडित केशवप्रसाद मिश्र तथा डाक्टर श्यामसुंदरदास—जिन्होंने उपसंहार और परिशिष्ट को छोड़कर इसका मुख्य भाग, प्रायः संपूर्ण, ध्यान से सुना और प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया था—आज इसे देखने के लिये संसार में नहीं हैं।

पुस्तक जैसी कुछ है, विज्ञ पाठकों के हाथ में है। तब यहाँ इसका पृथक् परिचय देने की आवश्यकता नहीं, अपना परिचय यह स्वयं है। परंतु इतना निवेदन कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि अपनी 'आदर्श और यथार्थ' पुस्तक में मैंने काव्य के संबंध में अपने जो विचार व्यक्त किए थे, सात-आठ वर्षों तक भारतीय दर्शन और संस्कृति तथा कबीर एवं अन्य निर्गुण-सगुण भक्त कवियों के व्यापक अध्ययन के फलस्वरूप उनमें मुझे कुछ परिवर्तन करना पड़ा। मैंने यह अनुभव किया कि कलाकृतियों के रूप में प्रसिद्ध 'प्राकृत' काव्यों की दृष्टि ही सम्यक् काव्य-दृष्टि नहीं है। मानव-अनुभूति का एक वास्तविक और आवश्यक पक्ष उसमें छूट जाता है। वह हमारी रुचि के अनुकूल न पड़े यह बात दूसरी है, परंतु उसकी उपेक्षा से हमारे साहित्य और संस्कृति का अध्ययन पूरा

नहीं हो सकता। भक्ति-काव्यों में 'कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना' कहनेवाले महाकवि तुलसीदास के सगुण काव्य का भी अध्ययन अधिकतर 'प्राकृत' काव्य की ही दृष्टि से किया गया है, तब काव्यकोटि के बाहर गिनी जानेवाली निर्गुण रचनाओं की तो बात ही क्या ? भक्ति-काव्य के अध्ययन के लिये, चाहे वह निर्गुण हो या सगुण, हमें अपनी काव्यदृष्टि को और अधिक व्यापक बनाकर उसे भक्ति की भाव-भूमिका से देखना आवश्यक है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में मैंने कबीर के भावों को कबीर की ही दृष्टि से समझने का यथासंभव प्रयास किया है, जिसके फलस्वरूप मेरा विश्वास है कि असंस्कृत रचना के धोखे मे निर्गुण काव्यों की उपेक्षा कर हम भारतीय संस्कृति के मूल मे निहित एक अमूल्य भाव-संपत्ति से अपने को वंचित रख रहे हैं।

कबीर-साहित्य संबंधी सभी जिज्ञासाओं के समाधान का प्रयत्न तो प्रस्तुत पुस्तक मे किसी भी प्रकार संभव नहीं था, परंतु विषय की सीमा के अंतर्गत उसे सुस्पष्ट करने का इसमे हर प्रकार से प्रयत्न किया गया है और यदि इससे कबीर-साहित्य के प्रेमियों एवं जिज्ञासुओं का कुछ परितोष हुआ तो मै अपना अनेक वर्षों का परिश्रम सफल मानूँगा और कबीर का एक उत्तम संग्रह तथा कबीर-शब्द-कोष भी शीघ्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूँगा।

× × ×

मैं उन सभी ज्ञात और अज्ञात ऋषियों, संतों और विद्वानों की सादर वंदना करता हूँ जिनकी कृतियों से मुझे प्रस्तुत अध्ययन में प्रेरणा तथा सहायता मिली है और उन लेखकों का विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रंथों का उपयोग पुस्तक के दूसरे अध्याय में अध्ययन के इतिहास में किया गया है। उसमें इस बात का पूरा प्रयत्न किया गया है कि उनके भावों को ठीक-ठीक व्यक्त करने में कहीं से भ्रम का अवकाश न रहे, और जहाँ तनिक भी भ्रम होने का भय था वहाँ यथासंभव उन्हीं के शब्दों को उद्धृत किया है। फिर भी संक्षेप के कारण यदि कोई अत्यावश्यक बात छूट गई हो तो ध्यान में आने पर अथवा सूचना मिलने पर अगले संस्करण में उसे सन्निविष्ट कर लिया जायगा। छठे अध्याय में

भारतीय श्रेयमार्गों के परिचय के लिये मैंने प्रायः सर्वत्र प्राचीन तथा आधुनिक मूल ग्रंथों का ही उपयोग किया है और उसका क्रम भी अपनी ही दृष्टि से रक्खा है। परंतु भारतीय दर्शन की स्पष्ट रूपरेखा समझने में मुझे डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् की 'इंडियन फ़िलॉसफ़ी' तथा पं० बलदेव उपाध्याय, एम० ए० की 'भारतीय दर्शन' पुस्तक से यथेष्ट सहायता मिली है।

इस अध्ययन में मेरे उपयोग के लिये आवश्यकतानुसार कुछ मुद्रित तथा हस्तलिखित पुस्तकें सुलभ कर देने के लिये मैं रामकटोरा मिशन (काशी) के श्री जे० एस० मून तथा श्री राजेंद्रचंद्र दास, कबीरचौरा मठ के महंत श्री रामविलास जी, हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी-प्राध्यापक श्री पद्मनारायण आचार्य एम० ए०, श्री उदयशंकर शास्त्री (भारत कलाभवन) और काशी नागरीप्रचारिणी सभा का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

कई वर्षों तक सब काम छोड़कर इस कार्य में लगे रहने पर मेरे परिवार ने मुझसे भी बढ़कर जिस धैर्य और कष्टसहिष्णुता का परिचय दिया उसका सस्नेह स्मरण होना स्वाभाविक है। अध्ययन के बीच कबीर-ग्रंथावली के २४५ पृष्ठों की पूरी शब्दानुक्रमणी तैयार करने में भी मेरी पत्नी तथा तीनों बच्चों ने अपने शक्त्यनुसार हाथ बँटाया।

मान्यवर बाबू रामचंद्र वर्मा कागज आदि की कठिनाइयाँ होते हुए भी यदि इसके प्रकाशन में सहर्ष दत्तचित्त न होते तो यह न जाने कब प्रकाशित होती! परंतु बड़ों को धन्यवाद आदि देना तो धृष्टता है।

शीघ्रता के कारण मुद्रण आदि में जो त्रुटियाँ रह गई हों, आशा है, पाठक उन्हें कृपा कर क्षमा करेंगे।

अनंत चतुर्दशी, २००८ —लेखक

काशी।

संत-समाज

इस पुस्तक के आवरण-पृष्ठ पर संत-समाज का जो चित्र है, वह एक प्राचीन और प्रामाणिक चित्र की प्रतिकृति है। उसमें बीच में, सबसे आगे कबीर वीरासन से बैठे हैं और उनके दाहिने सटे हुए उनके पुत्र कमाल हैं। कबीर जी के ठीक पीछे औघड़नाथ और उनके दाहिने पीपा जी हैं। कमाल के कुछ पीछे, पर दाहिनी ओर नामदेव और उनसे सटे हुए रैदास हैं। नामदेव और रैदास के पीछे सेना भगत हैं, जिनका मुँह पीपा जी की ओर है। कबीर के बाएँ सामने गोरखनाथ और उनके दाहिने सटे हुए मछिंदर (मत्स्येंद्र) नाथ हैं। गोरखनाथ के कुछ पीछे, नंगे बदन और नंगे सिर, चिद्रूप हैं। उनके बाद पीछे की ओर जो और दो महात्मा हैं, उनकी पहचान अभी तक नहीं हो सकी है।

विषय-सूची

(दिए हुए अंक पृष्ठों के हैं)

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

पहला अध्याय

अध्ययन का प्रयोजन और पद्धति

भक्तिविमुख जो धरम ताहि अधरम करि गायो।
जोग जग्य व्रत दान सकल करि तुच्छ लखायो॥
हिंदू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी।
पच्छपात नहिं बचन सबहि के हित की भाखी॥
आरूढ़ दसा ह्वै जगत पर मुख देखी नाहिंन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं बरनास्रम षटदरसनी॥

उक्त थोड़े से शब्दों में कबीरदास का जैसा सुंदर सटीक परिचय भक्तवर नाभादास जी ने सं० १६४२ के लगभग दिया था वैसा अन्यत्र आज तक दुर्लभ है। इसके अनुसार भक्ति की दृष्टि से कबीर का स्थान कितना ऊँचा ठहरता है इसकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं। कबीर अपने जीवनकाल में ही इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे कि तत्कालीन प्रसिद्ध भक्त रैदास उन्हें बड़ा भाई और गुरुतुल्य मानते थे। तब से लेकर संतपरंपरा में सारे भारतवर्ष में उनकी गणना सर्वश्रेष्ठ भक्तों में होती रही। प्रसिद्ध महाराष्ट्र भक्त तुकाराम उनकी गणना उन चार व्यक्तियों में करते थे जिन्हें वे संतशिरोमणि मानते थे। वर्णाश्रम और षड्दर्शन की मर्यादा न माननेवाले, उत्तर भारत के जुलाहे कबीर का दूर दक्षिण महाराष्ट्र में पहुँचकर ज्ञानदेव, नामदेव और एकनाथ की पंक्ति

में प्रतिष्ठित होना निश्चय ही उनके साधारण प्रभाव का द्योतक नहीं है। पर यह एक अप्रिय और खेदजनक सत्य है कि दो चार कीर्तिसूचक वाक्यों अथवा जन्म मृत्यु आदि संबंधी कुछ अलौकिक कथाओं के अतिरिक्त ऐसे संतशिरोमणि के संबंध में हम असंदिग्ध रूप से कुछ भी नहीं जानते।

कबीर के राम की तरह उनकी निज की भी कुछ ऐसी अकथ कथा[1] है कि 'कहने-सुनने' में भूले जग को[2] अभी तक उनका पूर्ण परिचय नहीं प्राप्त हो सका है। परंतु जैसे अनुभवैकगम्य राम से 'परचा' (परिचय, प्रत्यभिज्ञान) न होने तक संतों के लिये उनके विषय में अनेक प्रकार से कथन-श्रवण अनिवार्य होता है और उसी में उन्हें आनंद प्राप्त होता है[3] उसी प्रकार संत-परिचय के लिये हमारे पास भी उनके विषय में कुछ कहने-सुनने के अतिरिक्त और साधन ही क्या है! परंतु कर्ता का सम्यक् परिचय उसकी कृति के भीतर से ही संभव है, इसलिये कबीर की रचनाओं के अध्ययन की ओर प्रवृत्ति होना सर्वथा स्वाभाविक है। फिर भी हरिस्मरण के लिये संतों के इस पारमार्थिक व्याज के अतिरिक्त साहित्य के विद्यार्थी के पास उक्त प्रवृत्ति के लिये साहित्यक हेतु भी अपर्याप्त नहीं है।

अध्ययन का साहित्यिक हेतु—कबीर को चाहे सचमुच उच्च कोटि का कवि मान कर सहज भाव से, या हिंदी के शैशव-काल में उसे स्वावलंबन सिखलाने के कारण आदर की दृष्टि से, अथवा उनकी प्रखर प्रतिभा से प्रभावित होकर कुछ दुविधा और कुछ विवशता के साथ ही क्यों न हो, उन्हें

१—कथ्यौ न जाई आहि अकथे। क० ग्रं०, पृ० २३०

२—कहन सुनन को जिहि जग कीन्हा। जग भुलान सो किनहूं न चीन्हा॥
—वही पृ० २२५

३—जस कथिये तस होत नहि, जस है तैसा सोइ।
कहत सुनत सुख ऊपजै, अरु परमारथ होइ॥ वही, पृ० २३०
कहिबो सुनिबो करौ ज्ञान उपजै न जहाँ लौ। (सुंदरदास, ज्ञानसमुद्र)

हिंदी साहित्य के इतिहास के भीतर एक प्रमुख स्थान कभी का दिया जा चुका है। किसी कवि वा लेखक की प्रतिभा वा कला के संबंध में रुचि-भेद से विद्वानों के बीच थोड़ा बहुत मतांतर होना स्वाभाविक है। परंतु हिंदी साहित्य के क्षेत्र में कदाचित् कबीर ही वह सबसे विलक्षण व्यक्ति हैं जिसमें यदि सहृदयों को गुण मिले तो ऐसे कि उनके आधार पर यदि एक ओर वे आगस्टाइन, राइब्रूक, जलालुद्दीन रूमी जैसे विश्व के गिने-चुने मरमी संतों के बीच प्रतिष्ठित हो सके,[१] तो दूसरी ओर उनमें काव्य-शक्ति का चरम निदर्शन पाया गया[२] और हिंदी के सर्वोत्तम कवियों में वे तुलसी और सूर के बाद तीसरे अथवा कम से कम केशव और मतिराम के बीच सातवें पद पर, बैठने के अधिकारी समझे गए,[३] और दोष भी पाए गए तो ऐसे कि या तो उनमें काव्य-गुणों का एक प्रकार से सर्वथा अभाव दिखाई पड़ा और वे अशिक्षित, असाहित्यिक, दंभी, अभिमानी, वेदशास्त्र-निंदक, हिंदू महापुरुषों को उन्मार्गगामी बतानेवाले और हिंदू धर्मनेताओं की धूल उड़ानेवाले समझे गए[४] अथवा उन्हें अद्वैतवादियों, वैष्णवों, सूफियों, हठयोगियों आदि से अव्यवस्थित रूप में सामग्री एकत्र कर एक अद्भुत पंथ खड़ा करनेवाला बताया गया[५]।

कबीर का काव्य ही नहीं, उनकी भाषा, उनकी जीवन-दृष्टि, उनकी उपासना-पद्धति, उनकी विचार-परंपरा सभी विचित्र पहेली बनी हुई हैं। उनमें परस्पर विरुद्ध बातों का ऐसा प्रभूत समुच्चय दिखाई पड़ता है कि उन सबको संहित करके किसी एक निश्चय पर पहुँचने में प्रायः विद्वानों को भी कठिनाई हुई है। फिर सामान्य विद्यार्थी के लिये तो प्राप्त सामग्री के आधार पर अपने संतोष के लिये कोई मत स्थिर कर लेना निश्चय ही नितांत

१—रवींद्रनाथ ठाकुर : वन हंड्रेड पोएम्ज् ऑव कबीर, भूमिका पृष्ठ २३

२—हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृष्ठ २२०

३—मिश्रबंधु : हिंदी नवरत्न, पृ० ५१२

४—हरिऔध : कबीर वचनावली, भूमिका।

५—रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, कबीर।

कठिन है। जिन कबीर का आदि से अंत तक संपूर्ण जीवन ही विचित्र करामातों से ढका हुआ दिखाई पड़ता है उनकी कृतियों में भी यदि इस प्रकार की विलक्षणताएँ पाई जाएँ तो इसमें कोई आश्चर्य की बात भले ही न हो, पर इससे उन विलक्षणताओं का मूल आधार जो साहित्य है उसके संबंध में कुतूहल और जिज्ञासा के साथ उसके सम्यक् अध्ययन की प्रवृत्ति प्रबल हो उठना अत्यंत स्वाभाविक है।

साहित्य का आधुनिक अध्ययन—यों साहित्य का अध्ययन अपने लिये स्वयं भी अपर्याप्त प्रयोजन नहीं है, किंतु आज जो उसका क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है उसका कुछ और उद्देश्य भी है। साहित्य का आधुनिक अध्ययन किसी विशेष रचना में शास्त्रोक्त रस, अलंकार, गुण, दोषादि के विवेचन तक ही सीमित नहीं है। वह तभी पूर्ण समझा जाता है जब इससे कुछ आगे बढ़कर उसके ऐतिहासिक और दार्शनिक तथ्यों का भी अनुशीलन करके रचयिता की जीवन-घटनाओं, उसकी आशा-आकांक्षाओं तथा उसके विचारों को उसके देश-काल की सामान्य भूमिका में रखकर देखा जाय। इस प्रकार जहाँ एक ओर हम रचयिता को प्रभावित करनेवाली तथा उससे प्रभावित होनेवाली परिस्थितियों के प्रकाश में उसकी प्रतिभा और कला के रूप को अधिक स्पष्टता के साथ देख सकते हैं और उसके संबंध में कोई मत स्थिर करने में अधिक न्याय और सहृदयता दिखला सकते हैं, वहीं दूसरी ओर स्वयं रचयिता के मुख-प्रमाण से न केवल उसके देशकाल के सामान्य तथा सांस्कृतिक इतिहास के संबंध में हमारी जानकारी बढ़ने की संभावना हो जाती, अपितु उसके द्वारा प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप में उपस्थित की गई उसकी एक जीवन-दृष्टि भी हमें प्राप्त हो जाती है, जिसका मानव-समाज अपने हिताहित के विचार से संग्रह वा त्याग कर सकता है। इस दृष्टि से किसी कवि की रचनाओं का सम्यक् रूप से अध्ययन उचित ही नहीं, आवश्यक भी है। फिर कबीर का अध्ययन तो सारी बातों को ध्यान में रखते हुए निस्संदेह रोचक भी होगा।

अध्ययन की पद्धति

इस विज्ञानप्रधान युग में प्रायः सभी विषयों के अध्ययन एवं शोध में वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक पद्धति का प्राधान्य तथा प्रभुत्व है, अतः प्रस्तुत अध्ययन में इन पद्धतियों तथा इनके प्रयोग के विषय में कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है।

वैज्ञानिक पद्धति—विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ आज ज्ञान के सभी क्षेत्रों, सभी विषयों के अध्ययन-अनुशीलन एवं शोध को एक नया दृष्टिकोण, नया विस्तार, नई दिशा और नई गहराई प्राप्त हो गई है। किसी भी विषय का अध्ययन सम्यक् एवं पूर्ण नहीं समझा जाता जब तक वह वैज्ञानिक न हो।

वैज्ञानिक अध्ययन या शोधपद्धति की प्रधान विशेषता, उसका प्राण, है पद पद पर निरीक्षण, विश्लेषण और परीक्षण। उसका मुख्य संबल है पद-पद पर शंका, तर्क, बुद्धि। मनुष्य की ज्ञानेंद्रियों द्वारा जिसे प्रत्यक्ष न किया जा सके ऐसे सत्य को—यदि ऐसा कोई सत्य हो—वह किसी भी प्रकार ज्ञेय नहीं मानता। भौतिक इंद्रियग्राह्य सत्य को ही वह सत्य, तथा प्रत्यक्ष प्रमाण को ही प्रमाण मानता है। किसी बड़े से बड़े ऋषि, संत या ग्रंथ के कथन ही नहीं, किसी भी पदार्थ में, बिना अपनी विधि से भली भाँति निरखे-परखे वह विश्वास नहीं कर सकता। अतः अध्यात्म जैसी वस्तु का उसके सामने कोई प्रश्न नहीं उठता। सामान्य अर्थों में हम वैज्ञानिक के मार्ग को बुद्धि का मार्ग कह सकते हैं। इस मार्ग पर वैज्ञानिक सत्य के अन्वेषण में अपने को तटस्थ द्रष्टा के रूप में रखता है, अपनी या अन्य किसी की भावनाओं या मतों को अपने प्रयोगों के बीच बाधक नहीं होने देता, जो निस्संदेह—यदि आदि से अंत तक इसमें सफलता मिल जाय तो—स्वयं ही मानव की एक अद्भुत सफलता है।

सत्य के परीक्षण की प्रक्रिया में विज्ञान आगमन (Induction) का आश्रय लेता है। अर्थात् किसी पूर्वनिर्धारित सामान्य तथ्य के आधार पर

वस्तुओं की परीक्षा न करके वह प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्र रूप से सभी संभव परिस्थितियों में परीक्षा करता और प्राप्त निष्कर्ष के आधार पर ही कोई सामान्य तथ्य निर्धारित करता है। यतः सभी परिस्थितियों पर उसका अधिकार नहीं होता, अतएव अपने प्राप्त सामान्य निष्कर्ष को वह तभी तक सत्य समझता है जब तक नई परिस्थितियों से उसका विरोध या खंडन नहीं होता। इस दृष्टि से कोई आगमन अंतिम सत्य नहीं हो सकता। अतः नई परिस्थितियों, खोजों और परीक्षणों के अनुसार वैज्ञानिक को अपने निष्कर्ष में परिवर्तन करने के लिये सदा तैयार रहना पड़ता है।

वैज्ञानिक प्रयोगों और निष्कर्षों में अशंकित भूलों के प्रति निरंतर सावधानी के साथ-साथ निष्पक्षता एवं तटस्थता सबसे आवश्यक गुण हैं।

ऐतिहासिक पद्धति—विभिन्न क्षेत्रों में मौलिक तथ्यों के शोध के हेतु उपर्युक्त वैज्ञानिक पद्धति का आजकल व्यापक रूप में प्रयोग किया जाता है, इस कारण विज्ञान की अनेक शाखाएँ स्थापित हो गई हैं। किसी तथ्य की कारण-परंपरा का अनुगमन करते हुए उसके मूल कारण या उद्‌गम तक पहुँचना—उसके अनुक्रमिक इतिहास का पता लगाना—वैज्ञानिक पद्धति का एक मुख्य अंग है। परंतु हम स्वतंत्र विषय के रूप में जिस इतिहास का पठन-पाठन करते आए हैं वह मानव जाति के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में घटी घटनाओं के विवरण का ही नाम है। काव्य अथवा धर्म और दर्शन की भाँति इतिहास का भी लक्ष्य आज तक मनोरंजन और उपदेश ही रहा है। यह बात मेकाले, कार्लाइल और वाल्टेयर के विषय में जितनी सत्य है उतनी ही हमारे प्राचीन इतिहास रामायण, महाभारत और पुराणों के संबंध में भी। परंतु विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ अब इतिहास का दृष्टिकोण भी बदल गया है। उसका भी प्रथम लक्ष्य विज्ञान की भाँति मौलिक तथ्यों की खोज है। यही क्यों, इतिहास स्वयं भी प्रधानतः एक विज्ञान माना जाने लगा है और विद्याओं (Arts) में उसकी गणना केवल गौण रूप से की जाती है। मानव जाति के जीवन की अतीत घटनाओं की सत्यता अब केवल

प्राचीन लिखित इतिहासों के आधार पर—शब्द या आप्त प्रमाण के बल पर—प्रमाणित नहीं मानी जाती, जब तक निश्चित वैज्ञानिक परीक्षण द्वारा उसकी खरी जाँच न कर ली जाय। इस जाँच के मुख्य विषय केवल इतिहास रूप में लिखे गए ग्रंथ ही नहीं, सभी प्रकार के लेख और प्राचीन सामग्रियाँ हैं; यथा साहित्य और अन्य विषयों के ग्रंथ, शिलालेख, ताम्रपत्र, मुद्राएँ इत्यादि। इनके विशेष अध्ययन के लिये शोध के भिन्न भिन्न विभाग स्थापित हो गए हैं जिनसे इतिहास के सम्यक् अध्ययन में सहायता ली जाती है। यथा भाषा-विज्ञान, लिपिविज्ञान, मुद्राविज्ञान, नृतत्त्व एवं पुरातत्त्व। वैज्ञानिक इतिहासकार अब इन सभी विज्ञानों द्वारा प्रस्तुत शोधों की कसौटी पर प्रत्येक तथ्य को कसता है और इनके द्वारा सत्य प्रमाणित होने पर ही किसी तथ्य को ग्रहण करता है। यही है आधुनिक ऐतिहासिक पद्धति। संप्रति इस वैज्ञानिक ऐतिहासिक पद्धति का इतना प्रभाव है कि केवल इतिहास ही नहीं, जिस किसी भी क्षेत्र में अनुसंधान करना हो, इस पद्धति के बिना वह अपूर्ण तथा अवैज्ञानिक समझा जाता है।

वैज्ञानिक ऐतिहासिक पद्धति और ग्रंथ-समीक्षा—ऊपर कहा जा चुका है कि इतिहास अपने तथ्य-संग्रह के लिये शिलालेख, ताम्रपत्र, मुद्रा, आदि सामग्रियों एवं विभिन्न विषयों के ग्रंथों का आलोड़न, अनुशीलन तथा विविध विधियों से परीक्षण करता है। इस दृष्टि से अन्य ग्रंथों के साथ काव्य ग्रंथ भी उसकी परीक्ष्य सामग्री के अंतर्गत आते हैं और उन्हें इतिहास-शोधक की कठोर कसौटी पर चढ़ना पड़ता है। ग्रंथ-परीक्षा की ऐतिहासिक पद्धति एवं क्रम सामान्यतः इस प्रकार हुआ करता है—

(१) सबसे पहले प्राप्त ग्रंथ की रचना अथवा लिपि के काल का निर्णय करना आवश्यक होता है। यदि ग्रंथ में रचनाकाल दिया हुआ हो तो भी सहसा उसे स्वीकार न कर उसकी सत्यता की जाँच की जाती है। यदि वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, वार सब दिए हों तब तो गणना द्वारा जाँच सरल हो जाती है। परंतु इसमें भी कभी-कभी धोखा हो आता है, जब जान-बूझ कर किसी

विशेष उद्देश्य से गणना ठीक करके ही ग्रंथ में वर्ष आदि लिख दिए जाते हैं।

यदि समय न दिया हो तो लिपितत्त्व और भाषातत्त्व की सहायता से ग्रंथ की लिपि, भाषा आदि की परीक्षा की जाती है और निश्चित काल वाले समसामयिक ग्रंथों से तुलना करके समय निर्धारित किया जाता है। इसमें १००–५० वर्षों तक का अंतर पड़ जाना तो साधारण बात है।*

(२) ग्रंथ की प्राचीनता निर्दिष्ट हो जाने पर उसकी प्रामाणिकता का प्रश्न आता है। यदि ग्रंथ की भाषा, शैली, शब्दों और भावों पर विचार करने से आदि से अंत तक ग्रंथ में एकरूपता जान पड़े तो साधारणतः उसे प्रामाणिक अर्थात् एक ही कर्ता की मौलिक कृति मान लेने में कोई आपत्ति नहीं। परंतु ऐसा न होने पर बहुत सावधानी से क्षेपकों को अलग करना आवश्यक हो जाता है। विभिन्न उद्देश्यों से ग्रंथों में जाल करने अथवा बिना किसी दुरुद्देश्य के ही उनमें संशोधन या घट-बढ़ करने की परिपाटी के कारण कभी कभी यह कार्य अत्यंत दुरूह हो जाता है।

(३) इसके पश्चात् कृति के अनुवचन (Interpretation) का प्रश्न सामने आता है। अब भाषाविज्ञान की सहायता विशेष रूप से लेनी पड़ती है और कृति के वास्तविक अर्थ को, रचयिता के अभिप्रेत भाव को, जानने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें सबसे आवश्यक बात यह है कि अनुवक्ता को आदि से अंत तक पूर्ण निष्पक्षता और तटस्थता का भाव रखना पड़ता है। अन्य के भाष्यों, मतों या आलोचनाओं से प्रभावित अथवा अपनी भावुकता से प्रेरित होकर वह शुद्ध सत्य के अनुसंधान में सफल नहीं हो सकता। किसी विशेष स्वार्थ या उद्देश्य को लेकर यदि वह उसमें प्रवृत्त होगा तो भी उसे सफलता नहीं मिलेगी। अतः आज के संपूर्ण वैज्ञानिक ऐतिहासिक शोधों की सबसे मुख्य शर्त यह है कि शोधक के सामने केवल एक ही उद्देश्य हो—शुद्ध सत्य का अनुसंधान। अपनी जाति, देश आदि की कल्याण-भावना को भी उसे इस महान् उद्देश्य के पीछे रखना पड़ता है।

* डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा : प्राचीन भारतीय लिपिमाला, १९१८ई०, भूमिका पृ० ८

इस प्रकार इतिहास-शोधक अनेक ग्रंथों और लेखों में बिखरे हुए तथ्यों का संग्रह कर उन्हें युक्तिपूर्वक एक श्रृंखला में बाँधकर किसी काल के इतिहास को एक सजीव सस्पंद शरीर प्रदान करता है और मंदिरों, मुद्राओं, मृण्मूर्तियों, शिलालेखों आदि की जाँच से उद्घाटित तथ्य उन्हें सर्वथा पुष्ट कर देते हैं। इस विधि के अवलंबन द्वारा विश्व के अनेक देशों के लुप्त प्राचीन इतिहास का बहुत कुछ पता लगाया जा चुका है और अब भी लगाया जा रहा है।

इतिहास और काव्य—अब हमें देखना यह है कि इस अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावपूर्ण वैज्ञानिक-ऐतिहासिक-तुलनात्मक-विश्लेषणात्मक पद्धति का काव्य के अध्ययन में कहाँ तक उपयोग अपेक्षित एवं समीचीन है। पर इसके पूर्व हमें यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि उपर्युक्त ऐतिहासिक पद्धति में साहित्य अथवा काव्य-ग्रंथ का परीक्षण एवं उपयोग ऐतिहासिक अर्थात् अतीत के तथ्यों के संग्रह के ही उद्देश्य से किया जाता है। वहाँ ऐतिहासिक दृष्टि प्रधान होती है, काव्य का काव्यत्व न केवल गौण प्रत्युत कभी कभी मिट्टी के एक ठीकरे से भी तुच्छतर एवं उपेक्ष्य हो जाता है—कवि की कल्पना या भावना से उत्पन्न होने के कारण। परंतु यह कोई आश्चर्य की बात नहीं; इतिहास के लिये वही स्वाभाविक है, क्योंकि कल्पनोद्भूत तथ्यों से उसके उद्देश्यों का नैसर्गिक विरोध है। आश्चर्य तो वस्तुतः इस बात पर होना चाहिए कि काव्य एवं साहित्य का अध्येता भी आज इतिहास के प्रभाव एवं प्रभुत्व से कुछ ऐसा दब रहा है कि काव्य के तत्त्व को भूलकर इतिहास-शोधक की भाँति वह भी काव्य को इतिहास-शोध की एक सामग्री मात्र समझने लगा है। इस कथन से मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि काव्य-ग्रंथों में ऐतिहासिक तथ्यों की खोज अनुचित है, न यही कि काव्य के अध्ययन में इतिहास उपेक्षणीय है। अभिप्राय केवल यह है कि काव्य और इतिहास दो भिन्न विषय हैं। दोनों का अपना अपना स्वतंत्र लक्ष्य और मार्ग है। अतः दोनों के अध्ययन की दृष्टि में भी अंतर होना स्वाभाविक और

उचित है। काव्य में यदि इतिहास की सामग्री मिले तो इतिहासज्ञ अवश्य उसका संग्रह करे, परंतु इतिहास-शोधक के लिये सामग्री प्रस्तुत करना काव्य का लक्ष्य नहीं है। इतिहास द्वारा प्रस्तुत सामग्री से काव्य लाभ उठा सकता है—उठाना ही चाहिए, परंतु केवल सहायता के रूप में। काव्य के अध्ययन में काव्य का स्थान पहले है, इतिहास का पीछे। काव्य में इतिहास की सामग्री न पाकर इतिहासज्ञ उसे भले ही तुच्छ समझ ले, परंतु यदि उसमें काव्यत्व है तो काव्यमर्मी की दृष्टि में इससे उसकेमें मूल्य तनिक भी अंतर नहीं पड़ता। काव्य का परीक्षण और मूल्यांकन प्रधानतः काव्य की ही भूमिका पर उसी के लक्ष्यों के अनुसार होना उचित है, ऐतिहासिक के फैसले से नहीं।

इसके कई कारण हैं। प्रथम तो जैसा ऊपर कह चुके हैं, यह कि काव्य काव्य है, इतिहास इतिहास। यह अत्यंत स्पष्ट है कि इतिहासकार का, विशेषतः वैज्ञानिक इतिहासकार का कर्तव्य बिना किसी पक्षपात या अन्य उद्देश्य के 'सत्य' को प्रकट करना है। परंतु उसका सत्य देश-काल-विशिष्ट व्यक्ति या घटनाएँ ही हैं, अर्थात् किसी एक स्थान पर किसी एक समय में कोई एक या अनेक व्यक्ति थे और उनसे संबंधित कुछ घटनाएँ घटीं—जिनका भौतिक अस्तित्व उसकी दृष्टि में प्रमाणित है—वे ही उसके लिये सत्य हैं, अन्य सब असत्य। उदाहरणार्थ, अमरकोट में १५४२ ई० में अकबर उत्पन्न हुआ, पानीपत के मैदान में १५५६ ई० में उसने हेमू को हराया, १६०५ ई० में एक बड़े सम्राट् के रूप में उसकी मृत्यु हुई—इन बातों को स्वीकार करने में इतिहासज्ञ को कोई आपत्ति नहीं होती; परन्तु राम और कृष्ण की ऐतिहासिकता उसके लिये संदिग्ध है, और मेघदूत का यक्ष, पद्मावत का हीरामन, कामायनी की श्रद्धा तथा गोदान का होरी आदि तो कभी सत्य हो ही नहीं सकते। अपने स्थान पर निस्संदेह इतिहास के इस दृष्टिकोण का अपना स्वतंत्र महत्त्व है। यह कहना भी अत्युक्ति नहीं कि ऐतिहासिक का यह भौतिक, लौकिक, वास्तविक सत्य ही लोकजीवन के व्यवहारों का आधार है।

परंतु इसके विपरीत काव्य का सत्य एकदेशीय, एककालिक, भौतिक,

और विशेष न होकर उससे कहीं अधिक व्यापक और सामान्य सत्य होता है। उसकी दृष्टि से राम और कृष्ण तो सनातन सत्य हो ही गए, शुद्ध कल्पित यक्ष, होरी, हीरामन आदि भी सत्य थे, हैं और रहेंगे। काव्यमर्मी के लिये यह कोई विवाद का विषय है ही नहीं।* काव्यगत सत्य कल्पित होने पर भी ऐतिहासिक विशेष सत्य की अपेक्षा कुछ कम नहीं, प्रत्युत अधिक ही सत्य एवं महत्त्वपूर्ण तथा जीवन के लिये आवश्यक होता है; क्योंकि उसका मूल उद्गम आर्थिक और राजनीतिक 'निन्यानबे का फेर' नहीं, मानव-हृदय की वास्तविक एवं अभावरहित आनंद-भावना है।

दूसरा कारण यह है कि काव्य का सत्य केवल बाह्य लौकिक विशेषों के ज्ञान से प्राप्त सामान्य अनुभव ही नहीं हैं, प्रत्युत जितने प्रकार के भाव एवं अनुभूतियाँ मानव-हृदय में होती हैं वे सभी उसके लिये सत्य हैं। विज्ञान और इतिहास उनकी व्याख्या कर सकें या नहीं, परंतु वे अनुभूत और व्यक्त होती हैं, यही उनके वैज्ञानिक सत्य होने के लिये पर्याप्त प्रमाण है। मनुष्य के जीवन को प्रेरणाएँ उसके अंतर्जगत् से ही प्राप्त होती हैं और वह अंतर्जगत् एक ऐसी गहन-गंभीर गुहा के समान अज्ञात और रहस्यपूर्ण है कि उसके भीतर की अनंतता की माप बाह्य जगत् के आंशिक ज्ञान से करना संभव नहीं। उसी जगत् के सत्य को व्यक्त करने के कारण काव्य-सत्य की व्यापकता और भी अधिक है।

तीसरी बात यह है कि यदि केवल लौकिक और विशेष सत्य की ही बात

---

* यूनान के आचार्य अरस्तू ने बहुत स्पष्ट शब्दों में इस संदेह का निराकरण कर दिया था और काव्य-सत्य को इतिहास से अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया था—

"Hence poetry is something more philosophic and of graver import than history, since its statements are of the nature rather of the universals, whereas those of history are singulars"—Aristotle on Poetry (Ingram Bywater's translation, 1945), Chap. 9. p. 43.

लें, तो उस मान से भी काव्य को हल्का समझने का कोई कारण नहीं; क्योंकि एक तो विज्ञान और इतिहास का पथ निरंतर प्रयोग और परीक्षा का पथ है, इदमित्थं रूप से किसी तथ्य पर वे अंतिम निर्णय नहीं दे सकते। उनका आज का निर्णय कल के नए प्रयोगों से बदल जा सकता है। दूसरे, जिस निष्पक्षता, तटस्थता और सत्य तथा न्यायप्रियता पर इतना बल दिया जाता है वह विशेष रूप से विज्ञान और इतिहास की कोई देन नहीं, अपितु सभी विषयों में शोध के लिये एक आवश्यक गुण और शर्त है। इतना ही नहीं, वह स्वयं मानव-जीवन का एक महान् लक्ष्य है जो काव्य के द्वारा जितना सुसाध्य है उतना अन्य किसी विषय के द्वारा नहीं। कारण कि तटस्थता एवं सत्यनिष्ठता का अर्थ मानव-वृत्तियों की स्वस्थता और सुव्यवस्था है, जो ज्ञान-पूर्वक प्रयत्न और अभ्यास द्वारा उतना सुगम नहीं जितना अलक्ष्य रूप में मूल वृत्तियों को प्रभावित करने से; और काव्य की यही एकमात्र विधि है।

यह तो ऊपर स्पष्ट ही किया जा चुका है कि काव्य का सत्य विशेष एवं बाह्य नहीं, सामान्य एवं मानस है। यह मानव-हृदय की अनुभूतियों, भावों और विश्वासों को लेकर चलता है जो अविश्लेष्य एवं स्वयंसिद्ध हैं। हृदय में सुख-दुःख, हर्षशोकादि होते हैं, यह उतना ही सत्य है जितना प्राची में सूर्योदय; इसे सिद्ध करने के लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं। काव्य की शक्ति की कसौटी ये ही भाव या प्रभाव हैं, इनके उद्भावक तथ्यों—व्यक्तियों, वस्तुओं और घटनाओं—की ऐतिहासिक वास्तविकता नहीं। सिंह के मुखवाला पुरुष भले ही इतिहास में असत्य हो, परंतु शब्दों अथवा रंगों से चित्रित उसके कल्पित आकार का प्रभाव असत्य नहीं। साथ ही यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि भावों या प्रभावों के उद्भावक तथ्य—काव्य में नियोजित वस्तुएँ, विभाव—अपने अखंड अविश्लिष्ट रूप में ही काव्य में नियोज्य है। विश्लेषण से नए तथ्य उद्घाटित हो सकते हैं, नई शक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं, परंतु जिस प्रभाव को समझने के लिये उनका विश्लेषण किया

जायगा वह अवश्य मुट्ठी में से खिसक जायगा, उसे सामने रखकर कोई भौतिक प्रयोग करना विज्ञान या इतिहास के वश की बात नहीं।

काव्य की उपर्युक्त विशेषताओं के कारण अब यह भली भाँति स्पष्ट है कि उसके अध्ययन-अनुशीलन की प्रणाली में भी कुछ विशेपता होना अस्वाभाविक नहीं। पहली बात तो यह है कि काव्य के अध्येता में तटस्थता और विश्लेषण की प्रवृत्ति से भी अधिक आवश्यक और वांछनीय गुण है सहृदयता। यह उसके लिये अनिवार्य है। यदि उसमें कल्पना, भावप्रवणता और काव्य रुचि—एक शब्द में भावकता—का अभाव है तो सारी वैज्ञानिक और ऐतिहासिक निपुणता के रहते हुए भी काव्यानुशीलन उसकी शक्ति और अधिकार के बाहर की वस्तु है।

दूसरी बात यह है कि यदि काव्य सामयिक और परंपराभुक्त है और उसकी भाषा-शैली बहुत दुरूह नहीं है तो एकाधिक बार उसके पारायण और सामान्य अर्थानुसंधान द्वारा रचयिता के या ग्रंथ के अभिप्रेत भावों तक पहुँचने और प्रभाव ग्रहण करने का प्रयत्न सर्वप्रथम कर्तव्य है, उसकी विशेषताओं का विश्लेषण तथा प्रामाणिकता और ऐतिहासिकता की जाँच पीछे। आधुनिक अध्ययन की दृष्टि से यह कुछ विचित्र भले ही लगे, परंतु यदि किसी रचना के सामान्य अनुशीलन से थोड़ा बहुत भी रसास्वादन न हो सके—यदि रसास्वादन कहना अशास्त्रीय हो तो यह कहें कि थोड़ा-बहुत भी प्रभाव हृदय पर न पड़ सके—तो या तो वह रचना काव्य नहीं, अथवा अध्येता सहृदय नहीं। फिर काव्य के विशेष अध्ययन और शोध का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है?

तीसरी बात यह है कि यदि काव्य की भाषा, शैली, भाव आदि अपेक्षाकृत प्राचीन हों, विवादग्रस्त हों, उनमें कुछ असाधारणता हो, तो प्रारंभ से ही उसका स्वतंत्र अनुशीलन कठिन, प्रायः असंभव होता है। तब उसके संबंध में विविध आलोचनाओं, व्याख्याओं और मतों को जानना और उनकी आवश्यक सहायता लेते हुए अर्थानुसंधान के प्रयत्न में संदिग्ध और विवाद-

ग्रस्त विषयों पर भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। फिर क्रमशः विवादग्रस्त रचनाओं में अपेक्षाकृत सर्वाधिक प्रामाणिक रचनाओं को लेकर उनकी भाषागत कठिनाइयों और विशेषताओं को समझना, सामान्य अर्थानुसंधान द्वारा कवि के मुख्य अभिप्रेत भावों को ग्रहण करना, उन भावों की स्वाभाविकता तथा विचारों की अन्विति एवं परंपरा का विवेचन और उसके बाद उसकी भाषा, काव्य या कविगत अन्य विशेषताओं की समीक्षा आवश्यक होती है।

प्रस्तुत अध्ययन की पद्धति—कबीर-काव्य का प्रस्तुत अध्ययन उपर्युक्त तीसरी कोटि के अंतर्गत आता है। अपनी प्राचीनता और भाषा, भाव आदि की विलक्षणता के कारण वह अन्य प्रसिद्ध और प्रचलित काव्यों से अधिक दुरूह समझा गया है और जैसा पहले कह चुके हैं (पृ० २), उसके संबंध में परस्पर विरोधी मत प्रकट किए गए हैं। इससे प्रस्तुत अध्ययन के क्रम और उसकी विधि में कुछ अवैज्ञानिकता या विचित्रता प्रतीत हो तो उसका समाधान ऊपर कही गई बातों से हो जाना चाहिए।

इस ग्रंथ में उक्त विधि के अनुसार ही अध्यायों का क्रम कबीर के आविर्भावकाल की ऐतिहासिक भूमिका अथवा उनकी विचारधारा के इतिहास से आरंभ न करके कबीर के संबंध में किए गए अध्ययन के परिचय से किया गया है। इससे एक ओर तो उसकी जानकारी से अध्ययन का मार्ग प्रशस्त होता है और वास्तविक कठिनाइयों का स्पष्ट बोध हो जाता है, दूसरे पिष्टपेषण के परिश्रम से बहुत कुछ बचत हो जाती है। अध्ययन में स्वभावतः पहले मूल ग्रंथों के चुनाव का प्रश्न आता है, फिर उनकी भाषागत कठिनाई सामने आती है। उसके सुलझने पर हम रचयिता की भावधारा को समझने में समर्थ होते हैं, तब उस भावधारा की एकरूपता और परंपरा ढूँढते हैं और फिर उसकी शब्द और अर्थगत मुख्य विशेषताओं को जानने में प्रवृत्त होते हैं। अध्यायों का क्रम इसमें इसी दृष्टि से रखा गया है—अध्ययन के प्रयोजनादि के बाद (२) अध्ययन का परिचय (३) साहित्य (४) भाषा (५) साधना (६) साधना की परंपरा (७) अर्थबोध की पद्धति (८)

काव्य। इस क्रम में हम ज्यों-ज्यों भीतर पैठते हैं त्यों-त्यों रचना और रचयिता के हृदय के अधिकाधिक समीप पहुँचते हैं और कवि की अन्य रचनाओं की निरख-परख के लिये कोई मान स्थिर कर सकते हैं। अतः इस स्वाभाविक क्रम में प्राप्त निष्कर्षों के अतिरिक्त पहले से बाह्य आधारों पर निश्चित मत बनाकर कोई निर्णय देना या उसकी अपेक्षा करना प्रस्तुत अध्ययन के उद्देश्यों के विरुद्ध हैं। बाह्य निश्चित साक्ष्यों के अभाव में कवि के जीवन के संबंध में हम उसकी रचनाओं को समझने के बाद ही कुछ विचार कर सकते हैं, इसलिये जीवन-विषयक अध्याय को सबसे पीछे रखा गया है।

इस प्रकार काव्य को उसका उचित स्थान देते हुए प्रस्तुत अध्ययन में यथासंभव वैज्ञानिक-ऐतिहासिक (inductive and analytic) पद्धति का सादर उपयोग किया गया है। फिर भी यदि इसे अवैज्ञानिक कहा जाय तो लेखक को कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि काव्य के लिये केवल विज्ञान की विश्लेपणात्मक पद्धति अनुपयुक्त एवं अपर्याप्त है।† आलोचना के लिये विश्लेषण आवश्यक हैं, परंतु आलोचना से पहले काव्य का अनुशीलन एवं अर्थानुसंधान आवश्यक है।

जहाँ तक कबीर की कृतियों के मानांकन का प्रश्न है, पहले से इसके लिये कोई बाहरी कसौटी नहीं मानी गई है। हृदय और बुद्धि को पहले प्रमाण माना गया है, शास्त्रीय सिद्धांत को पीछे। चाहें तो इसे आलोचना की अनुवचन-पद्धति (इन्डक्टिव मेथड ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज़्म) कह सकते हैं।

---

† आश्लेषात्मक पद्धति (Synthetic method) पर यह आरोप किया जाता है कि उसमें प्रयोक्ता अपने मनोनुकूल तथ्यों को दबाता या तोड़ता-मरोड़ता है, परंतु वैज्ञानिक-ऐतिहासिक विश्लेषणात्मक (Analytic) पद्धति में ही इसके लिये कौन सा प्रतिबंध है? ईमानदारी तो दोनों की समान आवश्यकता है।

दूसरा अध्याय

कबीर के अध्ययन का संक्षिप्त इतिहास

अति अपार जे सरितवर, *जउ नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलकउ परम लघु, विनु स्रम पारहिं जाहिं ॥

पूर्व अध्याय में कबीर-काव्य के अध्ययन का प्रयोजन स्पष्ट किया जा चुका है। परंतु उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि अभी तक यह विषय उपेक्षित रहा है अथवा इसकी ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। इसके विपरीत प्रस्तुत प्रयत्न का प्रारंभ ही अनेक वंद्य विद्वानों द्वारा किए गए पूर्व अध्ययन के प्रकाश में होता है; क्योंकि इसके अभाव में, अनेक कठिनाइयों के कारण जिनका उल्लेख आगे यथास्थान किया जायगा, कबीर-साहित्य में प्रवेश अत्यंत कठिन है और बहुत सा परिश्रम अंधकार में टटोलने जैसा व्यर्थ हो सकता है। पूर्व कृतियों के उचित अनुशीलन से कबीर के अध्ययन का मार्ग बहुत कुछ सरल एवं प्रशस्त हो जा सकता है। इस हेतु अब तक इस विषय का जो कुछ अध्ययन हो चुका है उसका संक्षेप में परिचय प्राप्त कर लेना हमारे लिये आवश्यक है।

कबीर के समय से लेकर अब तक स्वदेशीय तथा विदेशीय एवं कबीरपंथी तथा तदितर अनेक भक्तों, कवियों, शोधकों और आलोचकों ने उनके जीवन तथा साहित्य के संबंध में प्रधान वा प्रासंगिक रूप से अपने भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किए हैं। उन सबका विस्तृत विवरण और विवेचन यहाँ असंभव भी है और अनपेक्षित भी; वह स्वयं एक स्वतंत्र बृहद् ग्रंथ की सामग्री है।

अतः यहाँ उनमें से केवल मुख्य मुख्य बातों का उल्लेख किया जायगा। साथ ही यह भी कह देना आवश्यक है कि इस प्रसंग में जिन ग्रंथों का उल्लेख किया जायगा उनकी आलोचना करना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं। यहाँ तो संक्षेप में उनकी मुख्य मुख्य बातों का इस रूप में परिचय मात्र देने का प्रयत्न है जिससे यह विदित हो सके कि उन ग्रंथों के द्वारा कबीर के अध्ययन का कार्य किस प्रकार और कहाँ तक आगे बढ़ा है तथा उनके जीवन और साहित्य के संबंध में लेखकों ने कितने विभिन्न प्रकार के विचार प्रकट किए हैं। गौण या प्रासंगिक रूप से जिनमें कबीर की चर्चा हुई है ऐसे अनेक ग्रंथों और लेखों का समावेश अनावश्यक विस्तार भय से इस परिचय में नहीं हो सका है। जिन विद्वानों ने एकाधिक ग्रंथों में कबीर के संबंध में लिखा है उनके सभी ग्रंथों या लेखों का उल्लेख न कर उनके मुख्य ग्रंथ या उल्लेख को ही ग्रहण किया गया है।

अध्ययन के तीन रूप

कबीर साहित्यका अब तक का अध्ययन मुख्यतः तीन रूपों में हुआ कहा जा सकता है—

(१) कबीर के ग्रंथों की टीका, संग्रह-संपादन आदि
(२) उनके जीवन और पंथ का इतिहास
(३) उनकी साहित्यिक समीक्षा।

यद्यपि किसी एक प्रकार का अध्ययन दूसरे से सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता, एक की चर्चा में स्वभावतः दूसरे का समावेश हो ही जाता है, तथापि किसी एक विषय की प्रधानता तथा उसके साथ अन्यों की गौणता को ध्यान में रखकर किया गया इस प्रकार का स्थूल वर्गीकरण विवरण की दृष्टि से सुविधाजनक होगा।

(१) कबीर के ग्रंथों की टीका

साहित्य के अध्ययन में ग्रंथों की टीकाओं का क्या महत्त्व है यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। इतना ही कहना अलं होगा कि यदि अर्थ का उद्घाटन अध्ययन का एक आवश्यक (अथवा यों कहिए कि प्रधान) अंग है, तो टीका-ग्रंथों का उद्देश्य वही होने के कारण उनकी आवश्यकता निर्विवाद है। विशेषतः कबीर के गूढ़ साहित्य को समझने के लिये तो उनकी सहायता और भी उपयोगी है।

कबीरपंथियों में कबीर की सबसे अधिक मान्य रचना उनका बीजक है। इस बीजक ग्रंथ की कई टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें दो प्राचीन हैं। एक रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिंहजू देव (राज्यकाल वि० १८७०-१९११) की लिखी हुई 'पाखंडखंडिनी'[१] टीका और दूसरी कबीरपंथी साधु पूरनदास की 'त्रिज्या'[२] (वि० १८९४)।

बीजक की पाखंडखंडिनी टीका

महाराज विश्वनाथसिंह हिंदी के प्रसिद्ध कवि महाराज रघुराजसिंह के पिता थे और स्वयं बड़े विद्याप्रेमी, भक्त एवं कवि थे। टीका को देखने से इनका पांडित्य प्रकट होता है। इसमें वसिष्ठ-संहिता, शिवसंहिता, रामायण, श्रीमद्भागवत आदि अनेक संस्कृत ग्रंथों तथा श्रुतियों के प्रमाण से अपने सिद्धांतों को पुष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। यह टीका सगुणपरक प्रसिद्ध है। हिंदी साहित्य के इतिहास (पं० रामचंद्र शुक्ल लिखित) के अनुसार 'कबीर बीजक की टीका इन्होंने निर्गुण ब्रह्म के

१—पाखंडखंडिनी ई० सन् १८६८ में बनारस में छपी, १८८३ और १८९८ में लखनऊ से तथा १९०४ में बंबई से पुनः प्रकाशित हुई।

२—त्रिज्या पहले लखनऊ से १८९२ ई० में फिर इलाहाबाद और लखनऊ से क्रमशः १९०५ और १९२१ में प्रकाशित हुई।

स्थान पर सगुण राम पर घटाई है।' 'त्रिज्या' टीका में भी प्रकाशक की भूमिका में लिखा है—'श्री कबीर साहेब के बीजक की आज तक दो टीकाएँ हुई हैं। एक रीवाँ के राजा श्री विश्वनाथसिंह जी ने की है जिसमें उक्त राजा साहेब ने कबीर के वचनों से अपनी उक्ति द्वारा सगुण उपासना सिद्ध की है। इसलिये कबीरपंथियों में इस टीका की कुछ मान नहीं।' इसमें तात्पर्यतः त्रिज्या को निर्गुणपरक और कबीरपंथियों द्वारा मान्य बताया गया है। पादरी वेस्टकाट और अहमदशाह ने भी राजा साहब की टीका को सगुणपरक लिखा है। कबीरपंथियों में इस टीका का मान चाहे जिस कारण से न हो, परंतु स्वयं टीकाकार ने राम को 'सगुण' नहीं कहा है। उन्होंने प्रभु या साहेब (श्री रामचंद्र जी) को साकेतलोकवासी बताकर भी उन्हें बार बार सगुण निर्गुण दोनों से परे (सगुण निर्गुण दोनों नहीं), साकार निराकार दोनों से विलक्षण बताया है—

'सो एक तो समष्टि जीवरूप सगुण ब्रह्म तौन और एक लोकप्रकाश रूप निर्गुण ब्रह्म तौन ई दूनौ ते साहब परे हैं।' (टीका र० १)

'और साहब को रूप साकार निराकार ते विलक्षण है याते अरूपी रूप कहै हैं और जैसो यह नाम तैसो नाम नहीं है वह नाम विलक्षण मन वचन के परे है या ते वाको अनामानाम कहै हैं।' (वही)

ग्रंथ के 'षट्लिंग' वर्णन में बीजक की 'अपूर्वता' इस प्रकार बताई गई है—

'औ सगुण जे हैं ईश्वर परमेश्वर अवतार अवतारी सब निर्गुण जो है ब्रह्म जौन मन वचन के परे है ताहू ते परे नित्य साकेत रास बिहारी रामचन्द्र हैं यह अपूर्वता भई।'

टीकाकार ने ग्रंथ के आरंभ ही में सब सिद्धांतों का खंडन कर एक सिद्धांत के वर्णन की प्रतिज्ञा की है और बताया है कि कबीरपंथी जो बीजक का और और अर्थ करते हैं वह कबीर जी के रामनाम के सिद्धांत से जीवों को विमुख करनेवाला है, अतः मैं कबीर जी के हुक्म से ही बीजक का यह तिलक करता हूँ। उपसंहार में लिखा है—

'वेद शास्त्र सिद्धांत में प्रतिपाद्य श्री रामचन्द्र ही को कियो है देख लीजियो औ बीजक में सोई कबीर जी सिद्धांत कियो है कि मन वचन के परे निर्गुण सगुण के परे श्री रामचंद्र हैं औ तिनही को जाने जीव की मुक्ति होइ है।'

किंतु आश्चर्य यह है कि राम को निर्गुण सगुण सबसे परे कहकर भी उन्हें 'नराकृति' कहा गया है। इससे टीकाकार का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। जिन सिद्धांतों को लेकर यह टीका की गई है उनका सारांश यह है—

(१) सब के गुरु साहब श्री रामचंद्र सगुण-निर्गुण साकार-निराकार और मन वचन के परे हैं। उनका लोक नित्य साकेत लोक है जिसके परम अयोध्या, सत्यलोक आदि अनेक नाम हैं। वह अयोध्या ब्रह्म के परे है, वहाँ सब कुछ चिन्मय हैं और परमपुरुष श्रीरामचंद्र सबके मालिक हैं।

(२) जीव शुद्ध है, मन मायादिक से रहित है, साहब का है और साहब के लोक के प्रकाश में सदा पूर्ण रहता है। जब साहब सुरति देते हैं तब जीव जन्म लेता है। परंतु उसमें मन मायादिक का कारण बना रहता है इसलिये वह साहब में सुरति को न लगाकर संसारी हो जाता है और दुख सहता है।

(३) रामनाम श्री रामचंद्र का ही दिया हुआ सार शब्द है। इसी को जपने और उनको जानने से श्रीरामचंद्र रूप फल की प्राप्ति होती है। रामनाम का विधिवत् जप करने से साधक के अंतःकरण में नामी स्वयं अपने अचित्य रूप की स्फूर्ति देता है। जब जीव का संसार छूट जाता है तो साहब उसे अपने लोक का हंस स्वरूप देते हैं। हंस स्वरूप में टिककर वह साहब को देखता और उनका नाम लेता रहता है।

(४) मन वचन के परे जो रामनाम है उसे सद्गुरु कबीर जी जानते हैं और हंसरूप में टिककर उसे जपते रहते हैं। उन्होंने जैसे जैसे जपने की विधि बताई है उसी प्रकार जपने से फल होता है। इस सहज जप में ओष्ठ, कंठ, जिह्वा के हिलने की आवश्यकता नहीं है, स्वयं रग रग से और रोम रोम से रामनाम की ध्वनि उठती है।

(५) बीजक के अधिकारी वे ही हैं जो नित्यानित्य वस्तु-विवेक, इहामुत्र

फलभोग विराग, शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधान रूपी षट्संपत्ति और मुमुक्षुता—इन चार साधनों से युक्त हैं।

(६) बीजक में रामनाम का ही परत्व है। रामनाम को छोड़कर मुक्ति का कोई दूसरा साधन नहीं। विषय, संबंध और प्रयोजन को समझे बिना जो इसके प्रतिकूल बीजक का अर्थ करते हैं वे अनर्थ करते हैं। वेदशास्त्रपुराणादि का भी प्रतिपाद्य यही रामनाम है पर उनका साहबमुख अर्थ न समझ लोग संसार में भूले रहते हैं, इसी से साहब को नहीं जान पाते।

संपूर्ण बीजक की उक्तियों द्वारा टीका में इन्हीं सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है और बीजक को वेदशास्त्रपुराणानुमोदित बताया गया है। इस टीका में बीजक का अर्थ व्याख्या सहित गद्य में दिया है। इसकी भाषा का नमूना ऊपर दिए हुए उद्धरणों में स्पष्ट है।

बीजक की त्रिज्या टीका

त्रिज्या में किसी सिद्धांत-निरूपण की पृथक् प्रतिज्ञा नहीं की गई है, परंतु इसमें विषय-संबंध बैठाने के लिये ब्रह्ममुख, जीवमुख, मायामुख और गुरुमुख इन चार मुखों की अवतारणा की गई है जिनका रहस्य जाने बिना अर्थ समझ में नहीं आ सकता। ब्रह्म, जीव और माया के मुख से कही हुई तीन प्रकार की वाणी के जाल को परखानेवाली गुरुमुखवाणी ही प्रमाण है। 'त्रिज्या' का अर्थ ही है उक्त तीन प्रकार की वाणी, जिसकी गुरुमुख के द्वारा परख करना त्रिज्या का उद्देश्य है। उसी गुरुमुख प्रमाण से विदित होता है कि

(१) जीव शुद्ध, चेतन, साक्षीरूप है। वह न सगुण है, न निराकार अकर्ता और निर्गुण। वह सगुण निर्गुण दोनों से न्यारा है।

(२) यह सारी सृष्टि राम, ब्रह्म, खुदा तथा समस्त देवी-देवता, अनेक प्रकार के मत एवं संपूर्ण कर्म, उपासना, ज्ञान, वेद, शास्त्र, पुराण आदि उसी जीव की इच्छा, कल्पना या अनुमान से उत्पन्न होते हैं जिसमें फँस जाने से

उसे अपने शुद्ध साक्षी स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता और वह संसार मे अनेक दुःख सहता है।

(३) मुक्ति का उपाय कर्म, उपासना, योग, या ब्रह्मज्ञान नहीं, बल्कि 'पारख' अर्थात् विचार है।

(४) पवित्र आचरण, सत्संगति तथा गुरु की कृपा से ही पारख प्राप्त होता है।

यह टीका कहीं पद्य में है और कहीं गद्य में। पद्य में दिए हुए अर्थ प्रायः संक्षिप्त और अस्पष्ट हैं पर गद्य में विस्तृत व्याख्या है। इसकी भाषा और शैली का पता निम्नलिखित उद्धरण से लग जायगा। कहरा १२ की प्रथम पंक्ति 'ई माया रघुनाथ की खेलन चली अहेरा हो' का अर्थ इस प्रकार दिया गया है—

'टीका गुरुमुख—ई माया कल्पना औ ई माया बाना औ ई माया भक्ति ज्ञान औ योग, ई माया गुरुवा लोग, ई माया स्त्री, ई माया काया। रघु कहिये इन्द्री तिनका नाथ मन सो रघुनाथ। ता मन का स्वरूप माया काया बोरी सो खेलन चली अहेरा। सो अहेर खेलने चली शिकार खेलने चली जीवन पर ये अर्थ ॥'

आधुनिक हिंदी के पाठकों को इस प्रकार की टीका पढने में अवश्य ही कुछ कष्ट का सामना करना पड़ता है, पर थोड़े अभ्यास के बाद टीकाकार का आशय समझने में कठिनाई नहीं होती। अर्थ शुद्ध है या अशुद्ध यह प्रश्न दूसरा है।

खड़ी बोली में टीकाएँ

बीजक की नवीन कबीरपंथी टीकाओं में साधु हनुमानदास और साधु विचारदास की टीकाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं। हनुमानदास जी की दो टीकाएँ हैं। एक हिंदी में विस्तृत 'शिशुबोधिनी'[१] टीका है और दूसरी में संस्कृत श्लोकबद्ध 'स्वानुभूति' टीका तथा हिंदी में 'मूलार्थ-बोधिनी'[२] टीका साथ साथ दी गई

१—खड्गविलास प्रेस, सन् १९२६ ई०।

२—बड़ोदा, सन् १९३९ ई०।

है। विचारदास जी ने बीजक की संपूर्ण टीका न करके उसे 'विरल टीका और टिप्पणी'[3] से अलंकृत किया है और आरंभ में पांडित्यपूर्ण विस्तृत भूमिका भी लिखी है। इनके अतिरिक्त एक टीका साधु राघवदास की लिखी हुई[4] है।

विचारदास का बीजक

ये सभी टीकाएँ खड़ी बोली में हैं, पर विचारदास जी की भाषा इन सबमें अधिक प्रौढ़, शुद्ध और परिमार्जित है। इनकी टीका पांडित्यपूर्ण तथा पाखंड-खंडिनी की भाँति अनेक संस्कृत ग्रंथों के उद्धरणों से पुष्ट एवं षड्लिंगों के विचार से युक्त है। इसकी भूमिका में कबीर के सिद्धांतों का भी निरूपण है जिनका सार रूप में यहाँ उल्लेख किया जाता है—

(१) सबका द्रष्टा निर्विशेष (निरुपाधिक) शुद्ध चेतन एक ही आत्म-तत्त्व है जिसका कबीर साहब ने तात्पर्यतः इंगन किया है। उसी के अनेक नाम-गुणों का वर्णन भिन्न-भिन्न संप्रदायों के लोगों ने किया है, पर लक्ष्य सब ज्ञानियों का एक ही है। श्रुतियों ने उसी को अंतर्यामी, अंतर्ज्योति, आत्मा आदि कहा है। वह अनादि और अनंत है।

(२) माया भी अनादि है पर वह सांत है। वह त्रिगुण की साम्या-वस्था में कार्य-कारण संघात की जननी प्रकृति है और सत्व की अप्रधानता में अविद्या। एक ही तत्त्व माया की उपाधि से ईश्वर और अविद्या की उपाधि से जीव कहा जाता है।

(३) जीव अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों में भटकता है। उसके बंधन का कारण अज्ञान है। अपने शुद्ध स्वरूप को जानने से ही वह मुक्त हो सकता है। निरुपाधिक ज्ञान से ही निरुपाधिक शुद्ध चैतन्य का साक्षात्कार होता है जिससे अंतिम लक्ष्य कैवल्य पद की प्राप्ति होती है। इसी अभिप्राय

३—बनारस, सन् १९२६ ई०।
४—बनारस, सन् १९३६ ई०।

से कबीर साहब ने अपने स्वरूप से भिन्न लोकविशेष-निवासी ईश्वर को माननेवाले, परोक्षज्ञानवादी, गुणोपाधि से भिन्न नाना देवों की उपासना करनेवाले तथा अनात्म भौतिक ज्योति, अनहद शब्दादिकों की उपासना से मुक्ति माननेवाले लोगों का खंडन किया है। परंतु परंपरा-मुक्ति के साधक सात्विक पूजा, अवतारोपासना, योग, तप, संयम, तीर्थ, व्रत, दानादि की व्यर्थता उन्होंने कहीं नहीं लिखी है।

(४) राम, हरि आदि नामों का प्रयोग उन्होंने शुद्ध चेतन का बोध कराने के लिये ही किया है, तटस्थ या सोपाधि ईश्वर के लिये नहीं।

(५) मुक्ति का साधन एक ज्ञान ही है। परंतु ज्ञान के साधक आत्मविचार, उपासना आदि भिन्न भिन्न हैं। उनमें आत्मविचार या निजपारख ही सर्वश्रेष्ठ साधन है, पर वह सद्गुरु के उपदेश बिना हो नहीं सकता।

जो देहाद्यासक्ति के कारण आत्मविचार में असमर्थ है उसे विकारों को दूर करने के लिये विषयों की अनित्यता आदि का विचार करना चाहिए। ब्रह्मोपासना से उसे लाभ के बदले हानि की ही अधिक संभावना है।

(६) सत्संगति से विधि-निषेध और सारासार का विवेक होता है, विहित कर्मों के सेवन और निषिद्ध के त्याग से चित्तशुद्धि होती है और चित्तशुद्धि से आत्मविचार होता है। अतः सत्संगति का अत्यधिक महत्त्व है। उपासना से भी चित्तशुद्धि होती है, और सद्गुरु की उपासना सब उपासनाओं से श्रेष्ठ है। सद्गुरूपासना की भाँति सत्यनाम की उपासना तथा सहजयोग और भक्तियोग (ईश्वर प्रणिधान) भी चित्तशुद्धि के लिये उपयोगी हैं। केवल हठयोग का खंडन कबीर साहब ने किया है।

(७) जातिभेद में कबीर साहब ने गुण-कर्म की ही प्रधानता मानी है। जन्म से ही कोई अछूत नहीं। हाँ, मलिनता के कारण अतर रखा जा सकता है।

इन सिद्धांतों के अतिरिक्त कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण बातों पर भी विचारदास जी ने विचार किया है जिसका निष्कर्ष यह है—

(१) बीजक कबीर के मौखिक उपदेशों का उनके शिष्यों द्वारा किया

हुआ संग्रह है। कबीर ने स्वयं कोई ग्रंथ नहीं लिखा। अतः उनके वचनों में पाठभेद, क्रमभेद होना स्वाभाविक है।

(२) बीजक पहले-पहल कैथी लिपि में लिखा गया था, उसमें कैथी लिपि का ही प्रयोग शुद्ध है।

(३) कबीर की भाषा ठेठ प्राचीन पूर्वी है। उन्होंने साहित्यिक नियमों और बंधनों को स्वीकार नहीं किया है अत· काव्य-दृष्टि से उन्हें कवियों की हीन वा उच्च श्रेणी देना भूल है।

(४) बीजक का यथार्थ ज्ञान गुरुपरंपरा से प्राप्त संकेतों पर ही निर्भर है। अन्य संकेतों के साथ (जिनका उल्लेख टीकाकार ने किया है) 'कबीर' शब्द के भिन्न-भिन्न स्थलों और रूपों में किए गए प्रयोगों के विशेष अर्थों को समझना भी आवश्यक है।

हनुमानदास कृत टीका

शिशुबोधिनी में श्री हनुमानदास ने बीजक की टीका बड़े विस्तार से की है, पर जिनके पास उसके लिये पर्याप्त धैर्य और अवकाश न हो उनके लिये उनकी मूलार्थबोधिनी टीका उपयोगी है। भाषा यद्यपि पंडिताऊ हिंदी है, पर संक्षेप में मूलार्थ-बोध के लिये अच्छी है। बीजक के सिद्धांतों के संबंध में हनुमानदास जी के विचार इसी टीका के आधार पर नीचे दिए जाते हैं—

(१) सब वेद, सच्छास्त्र और संत-महात्माओं का अटल सिद्धांत है कि ज्ञान के बिना वास्तविक मुक्ति अर्थात् दुःख से अत्यंत निवृत्ति नहीं हो सकती। पूर्व जन्म के शुभ कर्मों तथा भक्ति आदि के बल से जो शुभ-वासना-युक्त और हरि-गुरु-कृपा के पात्र हैं वे ही ज्ञान विज्ञान के अधिकारी हैं और उन्हीं के लिये बीजक में सद्गुरु कबीर साहब ने आत्मतत्त्व का निरूपण किया है।

(२) ज्ञानरहित केवल विराग, सगुण सकाम भक्ति अथवा जप-तप-दानादि से स्वर्गादि की प्राप्ति भले ही हो, पर गमनागमनादि रहित अखंड मुक्ति नहीं हो सकती।

(३) कबीर साहब नित्य मुक्त, निवृत्ति-मार्ग के अधिकारी ईश्वर तथा सदा वर्तमान हैं। गुरु का नाश नहीं होता।

(४) कबीर साहब ने निर्गुण राम की भक्ति को सबसे प्रधान बताया है। राम सर्वत्र व्यापक तो हैं ही, ज्ञानी गुरु की हृदय-देह में वह प्रकट हैं, अतः सात्विक और ज्ञानी गुरु को परमात्मा रूप ईश्वर का अवतार जानकर उनकी सेवा-पूजा करनी चाहिए, देहदृष्टि से नहीं वरन् प्रभु के मंदिर रूप से। फिर आगे चलकर अपने ही देह-मनोमदिर में प्रभु का दर्शन करना चाहिए और नाम को प्रभु की मूर्ति समझ निष्काम भाव से एकांत में उसका जप-सुमिरन करना चाहिए। इससे अंतःकरण शुद्ध होकर अनायास ही 'सर्वदेवमय सगुण निर्गुण हरिगुरु' का दर्शन होता है।

(५) निर्गुणोपासक भक्त केवल अवलंब-मार्ग-स्मरण के लिये नाम, आकार आदि को मानते हैं पर उनका मन निरवयव परिपूर्ण सच्चिदानंद में रमता है, जिस प्रकार कि पक्षी या वायुयान शून्य आकाशमार्ग में गमन करते हुए भी, आकाश के निश्चिह्न होने के कारण मार्ग भूल न जायँ इस हेतु, नदी, वृक्ष आदि भूमि के पदार्थों द्वारा आकाश-मार्ग का स्मरण करते हैं।

अहमदशाह कृत अंग्रेजी अनुवाद

उपर्युक्त कबीरपंथी टीकाओं के अतिरिक्त बीजक का पादरी अहमदशाह कृत अंग्रेजी अनुवाद भी है।* पादरी ने विश्वनाथसिंह और पूरनदास की टीकाएँ देखी थी पर उनकी उक्ति के अनुसार उनका अनुवाद स्वतंत्र है, उसमें कबीरपंथी टीकाओं की सहायता नहीं ली गई है। उनका कथन है कि कबीर-पंथी टीकाकार यद्यपि अपने अर्थों को परंपरानुसारी बतलाते हैं, परंतु यह बात सत्य नहीं मालूम होती। बीजक के अध्ययन के फलस्वरूप उन्होंने अपने जो विचार स्थिर किए हैं वे इस प्रकार हैं—

* हमीरपुर, सन् १९१७ ई०।

(१) बीजक में कबीर ने जो उपदेश दिए हैं वे उन्हीं के स्वतंत्र विचार के परिणाम हैं। यद्यपि वैसी बातें हिंदू और मुसलमान दोनों धर्मों में पाई जाती हैं, पर कबीर के उपदेशों पर उनकी निजी छाप है।

(२) कबीर का मुख्य उद्देश्य अपना संदेश देना था, साहित्य रचना नहीं। पर वे हिंदी साहित्य के प्रवर्तक एवं समस्त हिंदी पदों के विधाता हैं।* नानक, सूरदास और तुलसीदास पर उनका बहुत प्रभाव है।

(३) धार्मिक सहिष्णुता तथा मानव मात्र के प्रति भ्रातृभाव रखना उनकी प्रधान शिक्षा है। उनके धर्म का मूल प्रेम है। ईश्वर प्रेमस्वरूप है और उसकी इच्छा है कि सब उससे प्रेम करें।

(४) काल या माया ने जीव को ईश्वर से पृथक् किया है। ईश्वर से मिलने का वास्तविक उपाय उसकी निष्काम भक्ति है। तुलसी और सूर ने भी इसी भक्ति का उपदेश दिया है।

(५) बीजक कैथी लिपि में लिखा हुआ मिलता है और उसकी भाषा बनारस, मिरजापुर, गोरखपुर के आसपास की है। इसमें कठिनता से कोई वाक्य ऐसा मिलेगा जो व्याकरण से सर्वथा शुद्ध हो।

कबीर के जीवन के संबंध में इनका मत है कि वे जुलाहा कुल में पालित थे। उनपर जो सूफी प्रभाव लक्षित होता है वह सत्संग आदि द्वारा ऊपर से अर्जित किया हुआ है। भीतर से उनका मन हिंदू विचारों और पुराण-कथाओं से आपूरित था जो हिंदू साधु अष्टानंद के प्रभाव के कारण था। कबीर ने अनेक स्थानों में भ्रमण किया था और मानिकपुर, झूँसी, जौनपुर तथा पश्चिम में गुजरात तक गए थे। बघेल राजा वीरसिंह उनके शिष्य थे। कबीर

---

* He is the pioneer of Hindi Literature and father of all Hindi hymns for there is none before him and the famou Granth is largeiy his.

की आयु १२० वर्ष की मानी गई है, पर ऐसा उन्हें रामानंद और नानक से मिलाने के लिये किया गया है।

अज्ञात कर्ता की टीका

बीजक के अतिरिक्त कबीर के १२१ पदों की टीका किसी साधु ने की है जिसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ काशी नागरीप्रचारिणी सभा को प्राप्त हुई थीं। पर किसी में कर्ता के नाम अथवा तिथि आदि का उल्लेख नहीं है। उनमें से एक साधु मुकुंददास के बृहद् गुटके में सम्मिलित है जो संवत् १८५५–५६ में लिखा गया था। अतः इतना तो निश्चित ही है कि यह टीका सं० १८५५ के पूर्व की है। कितने पूर्व की, यह जानने का कोई साधन नहीं है। अभी तक यह टीका कहीं प्रकाशित देखने को नहीं मिली। इसके १२१ पदों में से केवल पाँच को छोड़ शेष सब डा० श्यामसुंदरदास द्वारा संपादित कबीर-ग्रंथावली में दिए गए ४०३ पदों के अंतर्गत आ गए हैं। उनके पाठ भी प्रायः एक से हैं। यद्यपि टीका की शैली तथा लिखने का ढंग ऐसा है जिससे अनेक स्थलों पर अर्थ पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं होता, फिर भी थोड़ा श्रम करने पर बहुत कुछ भाव स्पष्ट हो जाता है। इसमें किसी सिद्धांत का पृथक् प्रतिपादन नहीं है। टीका प्रधानतः भक्तिपरक है। पर कई योग-संबंधी पदों के भक्तिपरक और योगपरक दोनों अर्थ दिए गए हैं।

टीका के नमूने के लिये कबीर-ग्रंथावली के प्रथम पद 'दुलहिनी गावहु मंगलचार' का अर्थ नीचे उद्धृत किया जाता है—

'दुलहनी आत्मा। घर घट। भरतार प्रमेसुर। तन मन प्रमेसुर सूं रत कीया। पंच तत तिनकी तासीर प्रमेसुर सूं लीन। बराती बने जोबन। प्रेम मदमत्त। प्रमेसुर सूं बनाव सोई बेदी। ब्रह्मा बानी। भांवरि फेरा। प्रमेसुर सूं बिलास सोई भांवरि। सुर देवता तेंतीस। पाँच इंद्री पचीस प्रकृति तीन गुन। नौ नाड़ी बहत्र कोठा। सप्तधात ऐ अठ्यासी। आत्म प्रमात्म सूं जोग सोई ब्याह। संसार सूं नृबासीक। ऊँचा चले॥'

संत कबीर

सिक्खों के गुरु ग्रंथ साहब* का संकलन संवत् १६६१ में पाँचवें सिक्ख गुरु श्री अर्जुनदेव ने कराया था। इसमें कबीर के भी पद संकलित हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने इन्हें 'संत कबीर' (इलाहाबाद, सन् १९४३) में नागरी अक्षरों में देकर इनका खड़ी बोली में अनुवाद किया है जिसमें कबीर के विद्यार्थियों को पद्यों का मूलार्थ-बोध कराने का विशेष प्रयत्न किया गया है।

संत-कबीर की प्रस्तावना में कबीर के शुद्ध पाठ, तिथि और जीवनवृत्त के संबंध में विचार किया गया है और परिशिष्ट में पदों और सलोकों (साखियों) के अर्थ के अतिरिक्त रूपकों, उलटवासियों, संख्याओं और शब्दों के कोष दिए गए हैं तथा अंत में क० ग्रं० और सं० क० के समान-पद्यों की सूची और पद्यानुक्रमणिका भी दी है। योग संबंधी शब्दों का अर्थ समझने के लिये "कल्याण" (गोरखपुर) के प्रसिद्ध योगांक की भाँति इसमें भी षट्चक्र-निर्देशक कई चित्र यत्र तत्र दिए गए हैं। तात्पर्य यह कि कबीर के भावों को हृदयंगम कराने के लिये इस ग्रंथ को यथासंभव पूर्ण बनाने में कुछ उठा नहीं रखा गया है। परंतु सचमुच समझने की इच्छा रखनेवाले विद्यार्थी को भरमना भी कम नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ, प्रथम सलोक का अर्थ इस प्रकार दिया है—

कबीर मेरी सिमरनी रसना ऊपरि रामु।
आदि जुगादी सकल भगत ताको सुखु बिस्रामु ॥

'कबीर कहता है, (स्मरण करने की) माला तो (मेरे हाथ में है) और राम का नाम मेरी जिह्वा पर है। आदि युगों में जितने भक्त हो गए हैं उनके लिये (यही माला) सुख और विश्राम (प्रदान करनेवाली) है।'

---

* डाक्टर ट्रंप ने इसका अनुवाद अंग्रेजी मे किया था जो सन् १८७७ ई० मे प्रकाशित हुआ था। मेकालिफ का अंग्रेजी अनुवाद सन् १९०९ मे प्रकाशित हुआ था।

इसमें कबीर माला का महत्त्व बतलाते जान पड़ते हैं। परंतु आगे पछत्तरवें सलोक में वे कहते हैं—'कबीर जपनी काठ की, क्या दिखलावहि लोइ।' उक्त अर्थ इस उक्ति का विरोधी है और दिए हुए शब्दों से वह निकलता भी नहीं। सोधा अर्थ यह जान पड़ता है कि 'मेरी माला मेरी रसना ही है जिसपर राम का नाम रहता है। यह (र म अथवा रामनाम) सदा सब भक्तों को विश्राम देने वाला है।' इसमें न खींचतान (मेरी=मेरे हाथ में है, इत्यादि) है, न अगले कथन का विरोध।

इसी प्रकार, सलोक १०१ के 'अजांई' शब्द का टीका में अर्थ दिया है 'व्यर्थ'। शब्दार्थ में इसके दो अर्थ दिए हैं—(१) संकट या विपत्ति, भै० १२ और (२) व्यर्थ, स० १७१। परंतु सलोक १७१ में यह शब्द मिलता ही नहीं। भैरव ११ में अवश्य इस प्रकार है—'जो पाथर की पाँई पाइ। तिसकी घाल अजांई जाइ॥' अर्थ—'जो पत्थर के पैर पड़ते हैं उनके समीप अज़ाब (अजांई-संकट या विपत्ति) ही जाती है?' यहाँ 'अजांई' का प्रसंग से अर्थ निश्चित करने के लिये 'घाल' का शब्दार्थ देखा तो उसके भी दो अर्थ मिले—(१) घलुआ, सो० ६; (२) समीप, भै० १२। भै० १२ की पंक्ति तो ऊपर आ चुकी, सो० ६ की प्रथम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

जिह बाझु न जीआ जाई। जउ मिलत घाल अघाई।
सद जीवनु भलो कहांही। मूए बिनु जीवनु नाहीं॥

इनका अर्थ इस प्रकार दिया है—

'जो बिना माया में उलझे नहीं जी सकते और बिना घाल मिले (सौदे के तौल या गिनती से ऊपर मिलनेवाली वस्तु) नहीं अघाते उनका जीवन क्या अच्छा जीवन कहा जा सकता है? वस्तुतः बिना मृत्यु के जीवन नहीं है।'

यहाँ अर्थ स्पष्ट होने के बदले और उलझ गया। उक्त पद की अंतिम पँक्तियाँ यों है—

कबीरै सो धनु पाइआ।
हरि भेटत आपु मिटाइआ॥

इन पंक्तियों पर थोड़ा ही ध्यान देने से प्रथम पंक्तियों का अर्थ बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। कबीर ने उक्त पद्य में संत-मत के इस प्रसिद्ध तथ्य का उल्लेख किया है कि भक्त भगवान के बिना जी नहीं सकता, पर बिना अपने (अहंकार) को मिटाए बिना जीवन्मृत हुए, भगवान से भेंट नहीं हो सकती। कबीर ने वह (हरिरूपी) धन पाया जिसके बिना जिया नहीं जाता (जिह बाझु न जीआ जाई) पर जो मिलते ही भली-भाँति नष्ट कर देता है, पूर्ण जीवन्मृत बना देता है (जउ मिलत घाल अघाई)। परंतु 'घाल' को घलुआ और 'बाझ' को बझना या उलझना कर देने से अर्थ एकदम उलझ गया। केवल एक उदाहरण और दिया जाता है—

> कबीर हरदी पीरतनु हरै चून चिहनु न रहाइ।
> बलिहारी इह प्रीत कउ जिह जाति बरन कुलु जाइ॥ स० ५७

इसका अर्थ इस प्रकार दिया है—

'कबीर कहता है, (घाव पर हल्दी और चूना मिलाकर लगाने से) हल्दी तो शरीर की पीड़ा हरण कर लेती है और चूना (घाव का) चिह्न भी नहीं रहने देता। (हल्दी और चूने की) इस परस्पर प्रीति पर (कि एक पीड़ा और दूसरी घाव के चिह्न को मिटाने के लिये परस्पर संयोग करते हैं) जिसमें अपना जाति, वर्ण और कुल खो जाता है (क्योंकि हल्दी और चूना मिलने पर अपना व्यक्तित्व, रंग, गुण, स्वभाव आदि सब खो देते हैं) कबीर बलि जाता है।'

यहाँ 'पीर' शब्द के कारण ही टीकाकार की कल्पना को इतना क्लेश उठाना पड़ा है। उसका अर्थ किया है 'पीड़ा', पर 'पीरतनु'* एक शब्द है जिसका अर्थ है 'पीलापन'। प्रीति तो वही है जिसमें जाति, वर्ण और कुल का भेद

---

* पीर = पीअर, पीला + तनु = पन, भाववाचक। इसका अपभ्रंश रूप होगा 'पिअरत्तणु'। अपभ्रंश में 'त्व' का 'त्तण' या 'प्पण' होता है (हेमचंद्र, ८।४।४३७)। वैदिक *'त्वन' (जैसे चतुरत्वनं) से ही 'तन' और 'पन' दोनों की उत्पत्ति है।

बिलकुल न रह जाय। जैसे हल्दी और चूना जब एक में मिलते हैं तो हल्दी अपना पीलापन और चूना अपनी सफेदी छोड़कर दोनों एकवर्ण हो जाते हैं।

इस प्रकार कबीर के सरल भावों को भी भाषा आदि की सामान्य कठिनाई के कारण हृदयंगम न कर सकने के कारण यदि अनेक विद्वानों ने उन्हें असंगतभाषी कहा तो इसमें आश्चर्य क्या? अस्तु, अब ग्रंथ की प्रस्तावना में दिए गए विचारों का उल्लेख आगे प्रकरणानुसार किया जायगा।

'कबीर' तथा 'वन हंड्रेड पोएम्ज़ ऑव कबीर'

श्री क्षितिमोहन सेन ने संतों के वचनों का संग्रह भारतवर्ष में दूर-दूर तक भ्रमण करके साधुओं के मुख से सुनकर किया। इनका कबीर के पदों का संग्रह 'कबीर' नाम से चार भागों में नागरी मूल और बँगला अनुवाद सहित सं० १९६७ (ई० १९१०-११) में प्रकाशित हुआ। सेन जी कबीर के महत्त्व को बँगला-पाठकों के सामने पूर्ण रूप से प्रकट करनेवाले प्रथम व्यक्ति तो हैं ही, साथ ही अप्रत्यक्ष रूप से विदेशों में भी उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाने का श्रेय परोक्षतः इन्हीं को प्राप्त है; क्योंकि इन्हीं के द्वारा कबीर की प्रतिभा रवींद्र बाबू के सामने आई जिससे प्रभावित होकर उन्होंने सेन जी के संग्रह से एक सौ चुने हुए पदों का अंग्रेजी में सुंदर अनुवाद किया *। यह अनुवाद एवलिन अंडरहिल की प्रस्तावना के साथ ई० १९१५ में प्रकाशित हुआ और देशांतरों में इसकी ख्याति हुई। अनुवाद की दृष्टि समझने के लिये प्रस्तावना के मुख्य अंशों का सार यहाँ दिया जाता है—

(१) कबीर एक महान् धर्म-सुधारक तथा एक पंथ के प्रवर्तक थे जिसके अब भी उत्तर भारत के लगभग दस लाख हिंदू अनुयायी हैं, परंतु हमारे लिये वे प्रधानतः एक मरमी कवि ही हैं। उनकी कविता में अनंत सत्ता के प्रति अत्यंत उच्च एवं सूक्ष्म पारलौकिक प्रेम से लेकर परमात्मा के

* One hundred poems of Kabir, 1915.

गुह्यतम व्यक्तिगत मिलन तक की अनुभूति बिना किसी भेदभावना के हिंदू-मुसलमान दोनों के धार्मिक प्रतीकों तथा सुपरिचित रूपकों द्वारा व्यक्त की गई हैं। उनके संबंध में यह कहना कठिन है कि वे ब्राह्मण थे या सूफी या वेदांती अथवा वैष्णव। मरमी कवि को परमात्मा के प्रेम और मिलन का आनंद अकेले ही लूटकर संतोष नहीं होता, वह अमृतत्व का रहस्य दूसरों पर भी प्रकट करने के लिये आकुल रहता है। इसी लिये 'मर्म-काव्य' (मिस्टिक पोएट्री) जहाँ एक ओर प्रेममूलक होता है वहाँ दूसरी ओर वह प्रायः धर्म और परोपकार की भावना से प्रेरित होकर लिखा जाता है। कबीर के गीत भी एक साथ ही ईश्वर-साक्षात्कार के आनंद तथा परोपकार-भावना दोनों से उद्भूत हैं। इसीलिये वे साहित्यिक भाषा में न लिखे जाकर जनसामान्य की बोलचाल की हिंदी में लिखे गए हैं।

(२) कबीर का स्थान संत आगस्ताइन, राइब्रूक और जलालुद्दीन रूमी जैसे विश्व के उन इने-गिने श्रेष्ठ मर्मियों में है जिन्होंने परमात्मा के पूर्ण रूप का साक्षात्कार किया है। उनके लिये परमात्मा के प्रत्यक्ष और परोक्ष, सर्वातीत और सर्वव्यापक, स्थाणु और स्पंद अथवा दर्शनशास्त्र के निर्विशेष तथा भक्तों के उपास्य 'सखा' रूपों में परस्पर कोई विरोध नहीं है, प्रत्युत ये विरोधी रूप एक ही पूर्ण तत्त्व के पूरक अंग हैं। ब्रह्म या परमात्मा, जीव और जगत् दोनों में व्यापक भी है और दोनों से अतीत भी; परंतु सर्वातीत होकर भी वह व्यक्तिगत रूप से जीव से प्रेम करनेवाला है।

परमात्मा से मिलन ही जीव का प्रधान लक्ष्य है, किंतु यह मिलन प्रेम से ही होता है, ज्ञान वा कर्म से नहीं। वह सभी पदार्थों में, विशेष रूप से मानव-हृदय में, निवास करता है, अतः इसी जीवन में, इसी मृण्मय देह में प्राप्य है।

प्रेम परमात्मा का रूप है। संपूर्ण सृष्टि उस अनंत प्रेमी की लीला है, उस ब्रह्म के प्रेम और आनंद की अभिव्यक्ति है। उसका शब्द 'ओम्' है जो अनाहत रूप से संपूर्ण विश्व में निरंतर उच्चरित होता रहता है।

परमात्मा के पूर्ण रूप का साक्षात्कार कर लेने के कारण कबीर एक ओर तो अवतारोपासना की अत्यंत भावुकता से और दूसरी ओर शुद्ध अद्वैतवाद तथा शुष्क निर्गुणोपासना से बच गए हैं। उनके ब्रह्म और जीव नित्य संयुक्त और नित्य वियुक्त हैं। यही रहस्यमय वियोग-में-संयोग रहस्यवाद का तत्त्व है। इसी की घोषणा रामानुज के उस वैष्णव धर्म की एक मुख्य विशेषता थी जो रामानंद के द्वारा कबीर को प्राप्त हुआ था।

(३) परमात्मा के पूर्ण आनंद रूप का दर्शन होने पर भी कबीर इस सामान्य क्षणभंगुर जीवन को भूल नहीं जाते। जीवन में सदा सरलता और स्पष्टता पर जोर देना, रूखी दार्शनिकता से घृणा तथा बाह्य धर्माचारों की निष्ठुर आलोचना—ये कबीर की मुख्य विशेषताओं में से हैं। सदा मूल पर दृष्टि रखने के कारण उनके लिये बाहरी नाम-भेद, नाना मत, तप और आचार गौण वस्तुएँ हैं। इनकी उपयोगिता वहीं तक है जहाँ तक ये परमात्मा से मिलाने में सहायक हों। कबीर की सारग्राहिता इतनी पूर्ण है कि वे कभी वेदांती तो कभी वैष्णव, कभी सर्ववादी तो कभी सर्वातीतवादी और कभी ब्राह्मण तो कभी सूफी मालूम पड़ते हैं।

(४) इस प्रस्तावना के अनुसार कबीर का जन्म ई० १४४० में हुआ। ये बचपन ही में गुरु रामानंद के, जिन्होंने ब्राह्मण धर्म को सूफी व्यक्तिगत रहस्यवाद से मिलाने का प्रयत्न किया था, शिष्य हुए और बहुत दिनों तक उनके साथ रहे।

यहाँ तक कबीर के ग्रंथों की टीका और अनुवाद के संबंध में कहा गया। किंतु पूरी टीका के अभाव में आवश्यक टिप्पणियों अथवा केवल मूल पाठ से भी अध्ययन में कम सहायता नहीं मिलती। इस दृष्टि से मूल बीजक तथा साखी-ग्रंथों के भिन्न-भिन्न संस्करणों और कबीर शब्दावली, एवं कबीर ग्रंथावली के नाम उल्लेखनीय हैं, जिनका पाठ आदि की दृष्टि से यथास्थान आगे भी उल्लेख किया जायगा।*

* यहाँ उनका नामोल्लेख मात्र किया जाता है—

(२) जीवन और पंथ का इतिहास

हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखकों और आलोचकों ने कबीर की साहित्यिक समीक्षा के प्रसंग में उनके जीवन और पंथ या सिद्धांतों के संबंध में भी विचार किया है। परंतु जैसे भारतीय विद्या संबंधी अन्य अनेक विषयों का, उसी प्रकार भारत के धार्मिक इतिहास का विस्तृत और व्यवस्थित रूप में अध्ययन पहले-पहल विदेशी विद्वानों ने आरंभ किया और इसी प्रसंग में उन्होंने कबीर और उनके पंथ की चर्चा की। इनमें मुख्य

मूलबीजक—

(१) पादरी प्रेमचंद्र द्वारा संशोधित। कलकत्ता; ई० १८९०

(२) साधु काशीदास द्वारा संशोधित। वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई; ई० १९०७

(३) पादरी अहमदशाह द्वारा संशोधित। हमीरपुर; ई० १९११

(४) साधु लखनदास और साधु रामफलदास द्वारा संशोधित। कबीरचौरा, बनारस; ई० १९३१

(५) श्री हंसदास शास्त्री और महावीर प्रसाद द्वारा संपादित। विस्तृत बीजक कोश सहित। कबीर ग्रंथ प्रकाशन समिति (बाराबंकी); सं० २००७

साखी ग्रंथ—

(१) सत्य कबीर की साखी—साधु युगलानंद द्वारा संशोधित। वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई; ई० १९०५

(२) कबीर साहेब का साखी ग्रंथ—साधु विचारदास की टिप्पणियों तथा श्री वनमाली की भूमिका सहित। बड़ोदा; ई० १९३५

अन्य संग्रह—

(१) कबीर शब्दावली—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग। ई० १९०५

(२) कबीर · डा० श्यामसुंदरदास द्वारा दो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों से संपादित, विस्तृत प्रस्तावना सहित। नागरीप्रचारिणी सभा काशी; ई० १९२८

विलसन,[१] कार्पेंटर[२], फर्कुहर[३] आदि हैं। फिर भंडारकर[४], दत्त[५], सेन[६], आदि भारतीय विद्वानों ने भी इसी प्रकार अपने धर्म-इतिहास ग्रंथों में उनके संबंध में विचार किया। इनके मतों का प्रसंगानुसार यथास्थान उल्लेख किया जायगा। परंतु कबीर के ही विषय में विशेष रूप से शोध करके स्वतंत्र ग्रंथ लिखनेवाले कुछ ही विद्वान् हैं जिनके मतों का सारांश यहाँ दिया जाता है।

कबीर एंड द कबीर पंथ

सबसे पहले उक्त विषय पर 'कबीर एंड द कबीर पंथ' नाम की स्वतंत्र पुस्तक कानपुर के एस० पी० जी० मिशन के पादरी (बिशप) एच० जी० वेस्टकाट ने लिखी जो १९०७ ई० में प्रकाशित हुई। इसमें अपने खोजपूर्ण विवेचन द्वारा उन्होंने जो मत स्थिर किए उनके आवश्यक अंश का सार यहाँ दिया जाता है।

(१) कबीरपंथियों के अनुसार कबीर का जन्म ई० १३९८ में और मृत्यु १५१८ में हुई। दूसरा वर्ष ठीक है, किंतु पहले की कल्पना केवल कबीर को रामानंद से मिलाने के लिये की गई जो चौदहवीं शती में वर्तमान थे।

(२) इतिहास में कबीर नाम के ग्यारह फकीर हुए और यह बहुत संभव है कि कबीर के चरित्रकारों ने एक की जीवन-घटनाओं को दूसरे से मिला दिया हो।

१—H. H. Wilson : Religious Sects of the Hindus, 1846.

२—J. E. Carpenter : Comparative Religions, ?

३—J. N. Farquhar : Modern Religious movements in India, 1915; Outline of Religious Literatures of India, 1911.

४—Bhandarkar: Vaishnavism, Saivism and minor religious systems, 1913.

५—अक्षयकुमारदत्त : भारतीय उपासक सप्रदाय।

६—क्षितिमोहन सेन : Medieval mysticism of India, 1929.

७—H. G. Westcot : Kabir and the Kabir Panth, 1907.

(३) कबीर के जीवन के संबंध में लिखी गई पुस्तकें उनके बहुत पीछे की हैं, अतः यह संभव है कि कबीर के हिंदू विधवा से जन्म तथा अन्य घटनाओं की कल्पना ईसा के जीवन के अनुकरण पर की गई हो। कुमारी से जन्म, नीची श्रेणी के लोगों से मिलना, मृत बालक-बालिका को जिलाना, शासनाधिकारी के सामने उनका अभियुक्त के रूप में लाया जाना आदि बातें जैसी ईसा के जीवन में हैं वैसी ही कबीर के।

(४) कबीर जन्म से मुसलमान थे और सूफी धर्म में दीक्षित हुए थे। उनका विवाह हुआ था, किंतु स्त्री का नाम लोई हिंदुओं द्वारा कल्पित है। कमाल उनके पुत्र थे। कबीर नाम प्रसिद्ध होने के कारण हिंदू उसे बदल नहीं सके, अतः उन्होंने उसकी व्युत्पत्ति हिंदू ढंग से (कर-बीर) कर डाली। कबीर जुलाहे का उद्यम नहीं करते थे।

(५) वे काशी में सदा नहीं रहे। कुछ काल मानिकपुर में रहे थे, पर उनका अधिक संबंध झूँसीवाले शेख तकी से था। उनसे ३० वर्ष की अवस्था में कबीर मिले थे और हिंदू मुसलमान दोनों से सम्मानित होने का आशीर्वाद पाया था, जिसके बाद कमाल रुष्ट होकर जलालपुर चला गया। कबीर की दीक्षा जौनपुर में हुई थी, क्योंकि कबीर ने लिखा है—'मेरा हज गोमती तीर। जहाँ बसे पीतंबर पीर।'

(६) कबीर हिंदुओं और मुसलमानों को मिलाना चाहते थे, इसी उद्देश्य से वे काशी में रहते और रामानंद से मिला करते थे। पर अंत में दोनों धर्मवालों ने इनके विरुद्ध होकर इन्हें सिकंदर लोदी से दंड दिलाने का प्रयत्न किया। सिकंदर इसलाम-विरोधियों का घोर शत्रु था, किंतु कबीर के मुसलमान होने के कारण ही उसने उन्हें प्राणदंड न देकर केवल बनारस से निर्वासित किया।

(७) दबिस्ताँ और आईने-अकबरी के लेखकों ने कबीर को 'मुवाहिद' लिखा है। मुसलमानों ने मूर्तिपूजक को कभी 'मुवाहिद' नहीं कहा, अतः कबीर एकेश्वरवादी (Theist) थे, सर्ववादी (Pantheist) नहीं।

(८) यह सभी मानते हैं कि कबीर मगहर में मरे। परंतु वे मृत्यु के समय से पहले भी गोरखनाथ से मिलने मगहर गए थे।

(९) कबीर संभवतः मौखिक रूप से ही उपदेश दिया करते थे जो उनकी मृत्यु के बाद लिखे गए। सबसे प्राचीन लिखित संग्रह बीजक और आदि ग्रंथ हैं जो कबीर की मृत्यु के कम से कम ५० वर्ष बाद के होंगे। अतः यह नहीं समझा जा सकता कि इनमें कबीर के सब शब्द ज्यों के त्यों हैं। ऐसा विश्वास करने के कारण हैं कि बाद में कबीर के उपदेश धीरे-धीरे हिंदू रूप धारण करते गए।

(१०) कई हिंदू संप्रदायों में शब्द-सिद्धांत का प्रचार है, परंतु प्रत्येक के संबंध में उसके उद्गम और स्वरूप का ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता। कबीर के अनुसार वर्णमाला के सब अक्षर भाषा के अंगरूप से सार्थक हैं और सब विचार भाषा द्वारा व्यक्त किए जाते हैं। माया को जीत लेने पर सब वर्णों और शब्दों की अनेकता एकरूपता में परिणत हो जाती है। राम सत्य अथवा वर्णरहित ब्रह्म (letterless one) की एकता का निकटतम रूप है।

यह असंभव नहीं कि कबीर का शब्द-सिद्धांत सेंट जॉन्स के लेखों से प्रभावित हो। वेद में 'शब्द' शब्द ही कहीं नहीं आया, एक स्थल पर 'वाक्' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

(११) कबीर की साखियाँ अधिकांश में बीजक के सिद्धांतों से मेल खाती हैं पर भाषा के आधार पर बहुत सी बाद की सिद्ध की जा सकती हैं। अनेक साखियों में ऐसी शिक्षा है जो सूफियों में प्रचलित थी, कुछ बाइबिल और कुरान के पद्यों की ओर संकेत करती हैं और कुछ थोड़े रूप-भेद से अन्य कवियों की हैं।

(१२) दक्षिण भारत में ईसाई लोग बहुत पहले से रहते थे और यह संभव है कि शंकराचार्य और रामानुज आदि हिंदू सुधारक उनके संपर्क में आए हों। शंकराचार्य संभवतः कुछ अंशों में अपने सुधार संबंधी उत्साह के :

लिए ईसाई धर्म के ऋणी हैं। रामानुज और उनके शिष्य रामानंद पर भी ईसाई शिक्षाओं का प्रभाव है।* दक्षिण-भारत के ईसाई मत से परिचित हिंदुओं द्वारा ईसाई विचार उत्तर भारत में भी ई० १५१० के पहले ही पहुँच चुके थे।

कबीर ऐंड हिज़ फ़ॉलोवर्स

वेस्टकाट के बाद हिंदी साहित्य के अनेक विद्वानों ने साहित्यिक दृष्टि से कबीर का अध्ययन किया, किंतु वेस्टकाट की ही भाँति प्रधान रूप से कबीर के जीवन और पंथ पर 'कबीर ऐंड हिज़ फ़ॉलोवर्स' नाम की स्वतंत्र पुस्तक डा० एफ० ई० के ने लिखी जो आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० के निबंध (थीसिस) के रूप में स्वीकृत होकर ई० १९३१ में प्रकाशित हुई। इसमें मुख्य रूप से वेस्टकाट की पुस्तक से सहायता ली गई है, पर कई बातों में उससे भिन्न और अधिक उदार मत प्रकट किए गए हैं। उनके अध्ययन का आशय यहाँ दिया जाता है—

(१) कबीर के आविर्भाव के समय भारत में मुसलमानों का अत्याचार बहुत अधिक फैला हुआ था, परंतु ऐसे समय में भी हिंदू धर्म और भक्ति की उन्नति हो रही थी। कदाचित् अत्याचारों से त्राण पाने की आशा से ही लोग दयामय भगवान् का आश्रय ढूँढ़ रहे थे, इसी से उस समय भक्ति आंदोलन का इतना प्रचार हुआ। वैसे भक्ति भारत में बहुत पहले से चली आ रही थी,

---

* There have been Christians in Southern India from early days and it is quite possible that Hindu reformers such as Shankar and Ramanuj came in contact with them. The former was possibly indebted to Christianity for some part of his reforming zeal while Ramanuj and his disciple Ramanand seem also to have been influenced by Christianity—कबीर ऐंड कबीरपंथ, पृ० १३७

किंतु बीच में शंकराचार्य के अद्वैतवाद के कारण दब गई थी; रामानुज ने उसका फिर से प्रचार किया।

कबीर के गुरु संभवतः रामानंद थे। वे कदाचित् मुसलमानी प्रभाव के कारण सामाजिक नियमों में अन्य आचार्यों से अधिक उदार हुए। कबीर पर तो अवश्य ही यह प्रभाव था।

रामानंद ने संस्कृत को छोड़कर देशभाषा को अपनाया। उनके शिष्यों की भी रचनाएँ देशभाषा में हुई। कबीर को हिंदी साहित्य का आदि कवि कहना ठीक नहीं, पर यह सत्य है कि वे हिंदी धार्मिक पदों के महान् आदि रचयिताओं में से थे।

(२) कबीर के जीवन के संबंध में प्रचलित कथाओं की जाँच उनकी कृतियों से करने में बड़ी कठिनाइयाँ हैं। एक तो सभी उक्तियाँ कबीर की नहीं, दूसरे उनका क्रम ऐतिहासिक नहीं। फिर उनका अर्थ लगाना भी कठिन है, इससे कहीं कहीं रूपक में इतिहास ढूँढ़ने की भूल हो सकती है। सांप्रदायिक अर्थ कभी-कभी गढ़े हुए प्रतीत होते हैं। गढंत का कारण हिंदुओं का मुसलमान जुलाहे को नीच समझना है। कबीर के जीवन को ईसा के जीवन से मिलाने का भी उद्योग हुआ है।

कबीर का जन्म ई० १४४० में हुआ। १३९८ जन्मकाल उन्हें रामानंद से मिलाने के लिये माना गया है। पर यह संभव है कि रामानंद का जन्म ई० १४०० में हुआ हो और १४५५ में कबीर ने उनसे दीक्षा ली हो।

कबीर काशी में उत्पन्न हुए और मुसलमान के घर में पले थे। वे विवाहित होकर गृहस्थ जीवन बिताते और जुलाहे का पेशा करते थे। उनके संतानें भी थीं जिनका नाम कमाल और कमाली था। उन्होंने जौनपुर, मानिकपुर आदि स्थानों में भ्रमण किया था और शेख तकी से भी मिले थे। संभव है पहले रामानंद की भक्ति से आकर्षित हुए हों, फिर तकी से भी उपदेश लिया हो। उनकी मृत्यु मगहर में ई० १५१८ में हुई। उन्होंने न कोई शिष्य बनाया, न पंथ चलाया। यह सब पीछे की कल्पना है।

कबीर बड़े भक्त, तत्त्वज्ञानी और विनयशील थे, पर असत्य और पाखंड के शत्रु थे। पंडितों और मौलवियों से असंतुष्ट रहते थे। वे कोमलचित्त, पर दृढ विचार वाले थे।

(३) कबीर का साहित्य प्रधानतः बीजक और आदि ग्रंथ में है। बीजक की भाषा क्लिष्ट और अस्पष्ट है। श्लेष का अधिक प्रयोग हुआ है। न्यूनपदत्व भी पाया जाता है। उसके कितने ही शब्द अब अप्रयुक्त हैं। व्याकरण की शुद्धता सर्वत्र नहीं पाई जाती। दो सौ से अधिक शब्द फारसी, अरबी और तुर्की के हैं। भाषा अनगढ़ और शैली अपरिमार्जित है। बीजक का संग्रह ई० १६०० से पूर्व का नहीं है, पर उसके अधिकांश पद कबीर के हैं। उसके पाठ की जाँच निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है—

(क) कबीर ने इसलाम से प्रभावित होकर हिंदू विचारों का खंडन किया है (ख) गुरु उनकी दृष्टि से देवता या एकांत पूज्य नहीं है (ग) ब्राह्मण को वे विशिष्ट रूप से पवित्र या धार्मिक नहीं मानते (घ) वेद या कुरान से उन्हें कोई प्रेरणा नहीं मिली (ङ) उन्नत कोटि का भाववृत्त (advanced cosmology) उनमें नहीं मिलता। अतः जिन उक्तियों की इन बातों से प्रतिकूलता हो वे कबीर की नहीं हो सकतीं।

इस समय कबीरपंथियों की कबीरचौरा शाखा में पूरनदास तथा छत्तीसगढ शाखा में विश्वनाथसिंह के बीजक का प्रचार है। धर्मदास की ई० १४६४ (वि० १५२१) वाली प्रति का रीवाँ में खोज करने पर पता नहीं चला।

आदिग्रंथ और बीजक के पदों और साखियों में बहुत भेद है। इसका कारण यह है कि कबीर ने पद बनारस में गाए पर श्रोता उन्हें दूर दूर प्रांतों में ले गए। पीछे जब पंथ चला तो दूसरों के रचे हुए पुराने या नए पद जोड़े गए। कबीर के वचनों की दो मौखिक परंपराएँ हैं—एक पूर्व में, दूसरी उत्तर-पश्चिम में। लगभग ५००० पद अप्राप्य हैं।

भाषा ओजयुक्त है पर भाव अधिकतर अस्पष्ट हैं और सांप्रदायिक अर्थ

की सहायता से ही स्पष्ट होते हैं । उपमाएँ चमत्कारपूर्ण हैं । प्रकृति-सौंदर्य का भी वर्णन है ।

(४) कबीर के धर्म-विषयक विचार हिंदू रंग में डूबे हैं । ईश्वर जीव और सृष्टि संबंधी विचार मौलिक नहीं है, पर स्वतंत्रता और निर्भयता से प्रकट किए गए हैं । वे धार्मिक द्रष्टा से अधिक धर्म-शिक्षक थे, इससे उनके दार्शनिक विचारों में एकरूपता नहीं है । वे एकेश्वरवादी थे । उनके मत से ईश्वर के अनेक नाम हैं जिनमें राम-नाम विशिष्ट है । उनके अनेक पदों से [illegible] मत प्रकट होता है ।

कबीर एक ओर हिंदू देवों को भी नहीं मानते, दूसरी ओर राम को विष्णु के अवतार से भिन्न बताते हैं । इस प्रकार वे ईश्वर के व्यक्तित्व से दूर हट रहे थे । किंतु उनका ईश्वर निर्गुण नहीं है, उसमें दया आदि गुण हैं । उनके लिये सत्य होने पर भी उसका रूप अस्पष्ट है ।

कबीर मूर्तिपूजा, वर्णभेद, वेद और कुरान को नहीं मानते । योग, आचार, तीर्थ, व्रत, जनेऊ, माला, सुन्नत सबकी उन्होंने निंदा की है । वे अहिंसा, कर्म, पुनर्जन्म और माया का सिद्धांत मानते हैं, पर माया का अर्थ उनके लिये भिन्न-भवजाल या डायन आदि—है । उनके मत से पाप को दूर कर हृदय को शुद्ध करने से ईश्वर प्राप्य है, और उन्हें विश्वास है कि उसका शांति और आनंदमय संयोग उन्हें प्राप्त हो गया है ।

कबीर के सिद्धांत सूफियों से बहुत मिलते हैं, पर कहीं कहीं भेद है । वे उनसे प्रभावित भले ही हुए हों, पर सूफी नहीं थे ।

कबीर-पंथ पर ईसाई मत का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा, पर कबीर से उसका सीधा संबंध नहीं था । हाँ, जिस भक्ति-मार्ग के वे अनुयायी थे वह अवश्य ईसाई विचारों का ऋणी है । इस प्रकार कबीर पर ईसाई मत का प्रभाव परोक्ष रूप से पड़ा ।

कबीर ऐंड द भक्ति मूवमेंट

डा० मोहनसिंह लिखित उक्त नाम की अंग्रेजी पुस्तक ई० १९३४ में प्रकाशित हुई। संक्षेप में, उनके विचार से—

कबीर एक मुसलमान जुलाहे थे। काशी में या उसके आसपास उनका जन्म हुआ और उन्होंने लगभग ६० वर्ष की आयु पाई। पहले गृहस्थ रहे, फिर साधु का जीवन व्यतीत किया और भगवद्भक्तों से मिलते तथा उनसे उपदेश लेते रहे। जीवन के उत्तरकाल में उन्होंने अपने आसपास के व्यक्तियों और उनके आचारों की तथा अपने भी पूर्व विश्वासों एवं कार्यों की अपने ढंग पर चलती हुई आलोचना की। वे अपने युग की सच्ची संतान थे। उन्हें जो सर्वोत्तम जँचा उसे अपनाया और अपनी शक्ति के अनुसार सर्वोत्तम वस्तु संसार को दी। प्रत्यक्ष रूप से न वे रामानंद के ऋणी थे, न नानक आदि कबीर के। उनकी शैली और भाषा, उनके रूपक तथा उपमाएँ सभी परंपराप्राप्त थीं। वे स्वतंत्र विचार और दृढ विश्वास वाले सच्चरित्र मुसलमान थे और बड़े सरल, उदार तथा बुराई से घृणा करनेवाले थे। उन्हें गुरु बनने की अभिलाषा नहीं थी। वीर-पूजक श्रद्धालु हिंदुओं ने उन्हें अपनाया, अनुदार मुसलमानों ने उन्हें त्याग दिया। वे उन हिंदू और मुसलमान महापुरुषों की दीर्घ परंपरा में हैं जो भगवान बुद्ध के बाद समय-समय पर भारत में उत्पन्न होते रहे हैं।

डा० मोहनसिंह की दृष्टि से इस प्रकार की बातें कबीर के विषय में सर्वथा अमान्य हैं कि वे किसी ब्राह्मण के शिष्य थे और गुरु की कृपा से मध्यकालीन भारत के सबसे बड़े रहस्यदर्शी, भाषा और कविता के सबसे बड़े उपकारक, विलक्षण आध्यात्मिक शक्ति-संपन्न तथा हिंदू-मुसलमानों के धार्मिक आचार-विचारों के सबसे बड़े आलोचक हुए।

कबीर वचनावली

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की 'कबीर-वचनावली' काशी नागरीप्रचारिणी सभा की मनोरंजन पुस्तकमाला में पहले-पहल ई०१९१६ में प्रकाशित हुई। इसमें

बीजक, चौरासी अंग की साखी, शब्दावली और आदिग्रंथ से कबीर के चुने हुए पदों और साखियों का संग्रह प्रस्तुत किया गया है और आरंभ में ११२ पृष्ठों का विस्तृत मुखबंध है। इसमें कबीर की 'कविता का यथातथ्य मर्म समझने के लिये' उनके 'हृदय-संगठन का इतिहास' दिया गया है। लेखक ने वेस्टकाट के उद्धरण देकर उनके अनेक मतों का खंडन करके बाह्य तथा अंतःसाक्ष्य के आधार पर अपने जो विचार व्यक्त किए हैं वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) कबीर का जीवनचरित अतिरंजित और अस्वाभाविक बातों से भरा है। उसमें तथ्य इतना ही है कि वे एक विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे; काशी में उत्पन्न हुए और बचपन ही से जुलाहे के घर में पले। उन्होंने रामानंद को अपना गुरु बनाया। वे बड़े शीलवान और सदाचारी गृहस्थ थे। स्त्री का नाम लोई, पुत्र का कमाल, पुत्री का कमाली था। जीवन-निर्वाह पैतृक व्यवसाय द्वारा करते थे।

(२) रामानंद की मृत्यु के बाद उन्होंने अपने मत का प्रचार किया। उनके अनुयायी हिंदू अधिक हुए, मुसलमानों के हृदय पर उनका अधिकार नहीं हुआ।

(३) मुसलमान होकर हिंदू महात्मा का शिष्यत्व स्वीकार करने तथा हिंदू धर्मोपदेशक के रूप में कार्यक्षेत्र में आने से अंत में हिंदू और मुसलमान दोनों इनके विरुद्ध हो गए। फलतः इन्होंने दोनों के नेताओं की कठोर आलोचना की और उद्दंड स्वभाव होने के कारण उनपर कटूक्तियाँ कीं, उनके धर्मग्रंथों को बुरा-भला कहा। इस विरोध के फलस्वरूप इन्हें अनेक यातनाएँ सहन करनी पड़ीं। पर ये अंत तक दृढ़ रहे और इनका प्रभाव और अधिक बढ़ा। शेख तकी के कहने से सिकंदर लोदी ने भी इन्हें कष्ट दिया, पर अंत में ये मुक्त कर दिए गए।

(४) धार्मिक विरोध से क्षुब्ध होकर ये अंत में मगहर गए, वहीं इनकी मृत्यु हुई। वि० १४५५ से १५५२ तक ९७ वर्ष की आयु पाई।

(५) यह संभव है कि जिन शब्दों या भजनों में कबीर का नाम आता

है वे सब कबीर के हों, किंतु यह बात सत्य ज्ञात होती है कि अधिकांश ग्रंथ कबीर के पीछे उनके शिष्यों द्वारा रचे गए। कबीरपंथियों द्वारा मान्य खास ग्रंथ २१ हैं जिनमें बीजक भी है। बीजक दो हैं जिनमें भग्गूदास द्वारा संकलित छोटा बीजक ही अधिक प्रचलित है।

(६) कबीर की रचनाओं की प्रामाणिकता संदिग्ध होने के कारण उनका सिद्धांत अभ्रांत रूप से नहीं बताया जा सकता। पर वे एकेश्वरवाद, साम्यवाद, भक्तिवाद, जन्मांतरवाद, अहिंसावाद और संसार की असारता के प्रतिपादक एवं मायावाद, मूर्तिपूजा, कर्मकांड, व्रत, उपवास, तीर्थयात्रा और वर्णाश्रम धर्म के विरोधी हैं। वे हिंदुओं और मुसलमानों के धर्मग्रंथों और धर्मनेताओं के कट्टर प्रतिवादी हैं और प्रायः इनके धर्मयाजकों पर बुरी तरह आक्रमण करते हैं। कहीं कही इस आक्रमण की मात्रा इतनी कलुषित और अश्लील है जो समुचित नहीं कही जा सकती।

उनका प्रभु निर्गुण और सगुण सब के परे, सत्यलोक का निवासी है। वह केवल सत्य गुरु के प्रसाद से भक्ति द्वारा प्राप्य है। वैष्णव धर्म से उनका इसी बात में अंतर है कि वे मूर्ति-पूजा और अवतारवाद को नहीं मानते। यह उनके मुसलमान-धर्ममूलक संस्कार के कारण था।

(७) कबीर के ग्रंथों की अधिकांश कविता साधारण है, सरस पद्य कहीं-कहीं मिलते हैं। पूरबी बोलचाल और चलते गीतों की कविता निःसंदेह अधिक सरस है। किंतु छंदोभंग इतना अधिक है कि जी ऊब जाता है। जहाँ तहाँ अश्लीलता भी है। कोई-कोई कविताएँ इतनी अश्लील हैं कि उन्हें उद्धृत तक नहीं किया जा सकता। उनकी कविता में असंयतभाषिता भी है।

कबीर के ग्रंथों का आदर कविता की दृष्टि से नहीं, विचार की दृष्टि से है। उन्होंने अपने विचार दृढ़ता, कट्टरपन और स्वाधीनता के साथ व्यक्त किए हैं।

(३) साहित्यिक समीक्षा

हिंदी नवरत्न

हिंदी साहित्य के अंतर्गत कबीर के संबंध में विस्तृत उल्लेख मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबंधुविनोद' में किया जो ई० १९१३ में प्रकाशित हुआ था। इसके पूर्व इनके 'हिंदी नवरत्न' (ई० १९१०) में कबीर को स्थान नहीं मिल सका था, पर जब १९२४ में 'नवरत्न' का दूसरा संस्करण हुआ (इसके पूर्व रवींद्र बाबू का कबीर के सौ पदों का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हो चुका था) तो उसमें उनकी विस्तृत समीक्षा की गई और उन्हें नवरत्नों में सातवाँ स्थान दिया गया। उस समीक्षा का सार निम्नलिखित है—

(१) नवरत्न के अनुसार कबीर नीमा और नीरू के औरस पुत्र थे। इस बात को छोड़कर शेष जीवनवृत्त कबीर-वचनावली के समान है।

(२ कबीर अशिक्षित थे और अपने उपदेश मौखिक रूप से ही देते थे, पीछे से उनके शिष्यों ने रचनाएँ लिपिबद्ध कीं। इस कारण उनमें अदल-बदल संभव है, पर कुछ घटाने-बढ़ाने से उनके उपदेशों में अंतर डालना कठिन है। उन लोगों के विचारों में कोई सार नहीं है जो समझते हैं कि लिपि-बद्ध न होने के कारण कबीर की वास्तविक रचनाएँ हमको उपलब्ध नहीं हैं। इनकी शिक्षाओं को उलटने के लिये इनके पूरे ग्रंथ लुप्त करके नए ग्रंथ बनाने पड़ेंगे।

इनके ७५ ग्रंथ प्रसिद्ध हैं जिनमें अनेक संदिग्ध हैं। मुख्य ग्रंथ बीजक और आदिग्रंथ हैं। इनके सभी ग्रंथों में प्रायः एक से ही धार्मिक विचार प्रस्तुत हैं।

(३) कबीर ने प्रतीक-उपासना की पूरे बल के साथ निंदा की है। वे निर्गुण के उपासक हैं। उन्होंने प्रकट रूप से कहा है कि भक्ति सगुण की करे और ज्ञान के लिये निर्गुण ईश्वर पर विचार करे। परंतु वास्तव में उनके ईश्वर संबंधी विचार निर्गुण सगुण दोनों से परे हैं।

कबीर ने ईश्वर को सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी आदि माना है और एकेश्वरवाद पर बहुत जोर दिया है। ईश्वर को शून्य शहर का वासी आदि कह कर उन्होंने अद्वैतवाद, योग और शब्द-संबंधी विचारों को पुष्ट किया है। शब्द को वे ओंकार-मूलक मानकर रामनाम को पूज्य समझते हैं। 'इतनी ही पोपलीला (?) आपके कथनों में है या समझ पड़ती है।' योग के चार स्थूल विभागों—राज, हठ, मंत्र, लय—में कबीर का सिद्धांत प्रधानतः लययोग समझ पड़ता है।

हिंदू अद्वैतवाद को इन्होंने पूर्ण बल के साथ अपनाया, किंतु उसके प्रत्येक विचार को न मानकर केवल ईश्वर की अद्वैतता मात्र पर जोर दिया। इनकी रचना में ईश्वर की दयालुता, कोमलता आदि के भाव कम आए हैं, अतः इनका प्रेम का आलंबन दुर्बल है। इनके ईश्वर के संबंध में उदासीन भाव से भक्ति ठीक या योग्य समझ पड़ती है। इसका कारण तार्किक शुद्धता है। 'ईश्वरीय विचार जितना शुद्ध कबीर साहब ने कहा उतना हमारे किसी अन्य भारी भाषा-कवि ने नहीं कहा।'

कबीर योगी, सिद्ध, ब्रह्मानंदी और समाधिस्थ थे। इनकी गणना पैगंबरों और 'मिस्टिक' महापुरुषों में हो सकती है। फिर भी उन्होंने किसी को अपने ऊपर अनुचित विश्वास करने को नहीं कहा।

(४) कबीर की भाषा साधारणतः बनारसी है, पर उन्होंने खड़ी बोली में भी रचना की है। तुकांतहीन कविता भी की है। छंदोभंग बहुत है, पर संभव है उसमें लिपिकारों की भूल हो।

कबीर ने यद्यपि अपनी रचना केवल उपदेशार्थ की है, किंतु ब्रह्मानंदी होने के कारण वे स्वभावतः उच्च कोटि के कवि भी हैं। हाँ, इनकी बहुत सी रचना काव्यदृष्टि से फीकी अवश्य है। इनकी भक्ति सखी-भाव की है, परंतु इसके वर्णन में जीवात्मा परमात्मा का भाव स्पष्ट बना रहता है, इससे शृंगार-वर्णन अरुचिकर हो जाता है। इस कारण ईश्वरीय विचार में यद्यपि वे

सर्वप्रथम ठहरते हैं, पर साहित्यिक की दृष्टि से नवरत्नों में उन्हें सातवाँ स्थान दिया गया है। लोकप्रियता में तुलसी के बाद इन्हीं का नाम है।

कबीर ग्रंथावली

ई० १९२८ के पूर्व जिन विद्वानों ने कबीर के विषय में लिखा उनके सामने कबीर के केवल दो ग्रंथ थे—बीजक और आदिग्रंथ। उक्त वर्ष डा० श्यामसुंदर दास द्वारा संपादित कबीर-ग्रंथावली के प्रकाशन से उनके विचार के लिये नई सामग्री प्रस्तुत हुई। इस पुस्तक के आरंभ में विद्वत्तापूर्ण संपादकीय प्रस्तावना है, जिसमें कबीर के जीवन, सिद्धांत और काव्य पर गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है। उसकी मुख्य बातों का निष्कर्ष निम्नलिखित है—

(१) कबीर ऐसे समय में उत्पन्न हुए थे जब मुसलमानों के अत्याचार से पीड़ित निराश हिंदू जनता का परमात्मा की सत्ता पर से विश्वास उठा जा रहा था। उन्होंने बड़े कौशल से इस अवसर से लाभ उठाकर जनता को भक्ति-मार्ग में प्रवृत्त किया। उस समय परिस्थिति निर्गुण और निराकार ब्रह्म की भक्ति के अनुकूल थी। कबीर निर्गुण भक्ति-मार्ग के प्रवर्तक हुए, जो भारतीय ब्रह्मवाद और मुसलमानी खुदावाद की स्थूल समानता को लेकर चला। इसके द्वारा हिंदू मुसलमानों की एकता, दलित हिंदू वर्णों और वर्गों के उत्थान तथा भविष्य में राम कृष्ण की सगुण भक्ति के लिये मार्ग खुल गया।

(२) कबीर का जन्म वि० १४५६ और मृत्यु वि० १५७५ में हुई। वे ब्राह्मणी या किसी हिंदू स्त्री के गर्भ से उत्पन्न तथा मुसलमान के घर में पालित हुए थे। संभवतः बाल्यकाल उनका मगहर में बीता, फिर काशी में रहकर अंतकाल में मगहर गए।

रामानंद की मृत्यु वि० १४६७ में या उसके १४-१५ वर्ष पूर्व हुई। अतः वे कबीर के मानस गुरु रहे होंगे। ऊँजी के पीर या शेख तकी उनके गुरु नहीं थे।

अपने को ईश्वर कहने के कारण सिकंदर लोदी द्वारा इन्हें दंडित होना पड़ा, पर अंत में वे मुक्त कर दिए गए। मगहर वे इस अंधविश्वास को दूर करने के लिये गए थे कि केवल काशी में मरने से मुक्ति होती है और मगहर में मरने से नरक होता है।

(३) कबीर सारतः वैष्णव थे यद्यपि उन्होंने अपने को वैष्णव कभी नहीं कहा। संतधारा का उद्‌गम ही वैष्णव भक्ति रूपी स्रोत से हुआ था।

कबीर शब्दों को लेकर झगड़नेवाले व्यक्ति नहीं थे। राम से उनका तात्पर्य निर्गुण ब्रह्म से है और उसके लिये उन्होंने अल्ला, रहीम, सत्य, नाम, साहब आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया है। उनके तत्त्वज्ञान का आधार दार्शनिक अध्ययन नहीं वरन् उनकी अनुभूति और सारग्राहिता थी, अतः ब्रह्म के निरूपण के लिये शब्दों के प्रयोग में जो शुद्धता और सावधानी अपेक्षित है उसका उनमें अभाव है। इनकी रचनाओं में यद्यपि भारतीय ब्रह्मवाद का पूरा-पूरा ढाँचा पाया जाता है, तथापि मुसलमान फकीरों के समागम तथा हिंदू-मुसलमान-ऐक्य को अपना ध्येय बनाने के कारण उन्होंने विस्तृत रूप से वर्णन के लिये वे ही बातें उठाई हैं जो मुसलमानी एकेश्वरवाद के अधिक मेल में हैं। परंतु वे बाह्यार्थमूलक मुसलमानी एकेश्वरवाद या खुदावाद के समर्थक नहीं थे।

कबीर संसार को दुःखमय और माया को दुःख का कारण मानते हैं। दुःख से छूटने के लिये माया या अज्ञान का त्याग और उसके लिये हरिभक्ति आवश्यक है। "यह कहना अधिक उचित होगा कि ज्ञानियों की ब्रह्म-जिज्ञासा और वैष्णवों की सगुण-भक्ति की विशेष विशेष बातों को लेकर कबीर ने अपनी निर्गुण-भक्ति का भवन खड़ा किया अथवा वैष्णवों के तात्त्विक सिद्धांतों और व्यावहारिक भक्ति के मिश्रण से इनकी भक्ति का उद्भव हुआ।"

कबीर के मत से आत्मा अमर है, पर ब्रह्म साक्षात्कार के पूर्व अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती। प्रेम से ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और प्रेम पूर्ण आत्मोत्सर्ग चाहता है। कबीर का यह प्रेमतत्त्व सूफियों के संसर्ग का फल है, पर उसमें भी उन्होंने भारतीयता का पुट दिया है। "इस प्रकार निर्गुण-

वाद और सगुणवाद की एकेश्वरवाद से बाहरी समता रखनेवाली बातों के सम्मिश्रण और उसके साथ प्रेमतत्त्व के योग से कबीर की भक्ति का निर्माण हुआ।"

(४) कबीर ने कर्मकांड, जाति-पाँति, छुआछूत आदि का विरोध किया और समाज-सुधार की बातें बतलाईं। वे किसी व्यवसाय को नीच नहीं समझते थे और परिश्रम तथा संतोष की शिक्षा देते थे। वे बड़े सरल और पहुँचे हुए महात्मा थे। उनका गर्व ब्रह्म-साक्षात्कार-जन्य था, लोगों को नीचा दिखलानेवाला नहीं। वेद की निंदा उन्होंने वैदिकों के पाखंड के कारण की। बहुश्रुत होने के कारण उन्हें योग तथा अन्य धर्मों का ज्ञान था, पर वे योगी न थे।

(५) कबीर ने कविता कविता के लिये नहीं की, सत्य के प्रकाश की अनुभूति के कारण कविता स्वयं उनकी जिह्वा पर आ बैठी। उनकी कविता बहुत उच्च कोटि की है, पर उनकी सब रचनाएँ कविता नहीं हैं तथा उनमें कुछ खटकनेवाली बातें भी हैं। जैसे (१) एक ही बात को बार बार दोहराने से कहीं-कहीं रोचकता नष्ट हो गई है (२) उनके ज्ञानीपन की शुष्कता उनकी कविता में अक्खड़पन होकर आई है (३) आधी से अधिक रचना दार्शनिक पद्यमात्र है (४) उनमें साहित्यिकता का सर्वथा अभाव है।

(६) कबीर की भाषा खिचड़ी है। उन्होंने अपनी भाषा को पूरबी कहा है, पर खड़ी, ब्रज, राजस्थानी, पंजाबी, अरबी, फारसी आदि अनेक भाषाओं का पुट भी उनकी भाषा पर चढ़ा हुआ है। पूरबी का अर्थ स्पष्ट नहीं है, उसमें अवधी और बिहारी दोनों पाई जाती हैं। खिचड़ी भाषा का कारण दूर-दूर के साधु-संतों का सत्संग था। भाषा और व्याकरण की स्थिरता उनमें नहीं मिलती।

(७) कबीर की कविता में रहस्यवाद की बहुत सुंदर अभिव्यक्ति हुई है। रहस्यवादी कवियों में उनका स्थान सबसे ऊँचा है। शुद्ध रहस्यवाद केवल

उन्हीं का है। संत कवियों का काव्य विशेषतः कबीर का ही ऋणी है। रवींद्रनाथ को भी उनका ऋण स्वीकार करना पड़ा है।

हिंदी में अन्य क्षेत्रों के कवियों से कबीर की तुलना नहीं की जा सकती। तुलसी और सूर सर्वसम्मति से सब कवियों की पहुँच के बाहर हैं। पर इनके बाद भूषण, जायसी और कबीर में कौन बड़ा है, इसका निर्णय नहीं हो सकता। फिर भी आध्यात्मिकता की दृष्टि से इन्हें बड़ा कह सकते हैं। प्रभाव में तुलसी के बाद कबीर का ही नाम आता है।

हिंदी साहित्य का इतिहास

पं० रामचंद्र शुक्ल ने यद्यपि कबीर के विषय पर कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखा, तथापि अपने अन्य ग्रंथों में उन्होंने उनके संबंध में जो कुछ लिखा उसका हिंदी साहित्य पर बहुत बड़ा प्रभाव है। अतः उनके 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (ई० १९४० ; प्रथम बार सं० १९८६, ई० १९२९) से उनकी समीक्षा का सारांश दिया जाता है।

(१) कबीर के जन्मादि के विषय में शुक्ल जी ने अपना निश्चित मत प्रकट नहीं किया है, पर यह माना है कि "इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर को रामनाम रामानंद जी से ही प्राप्त हुआ। क्योंकि उस समय रामानुज की शिष्य-परंपरा में होते हुए भी रामानंद जी भक्ति का एक अलग उदार मार्ग निकाल रहे थे जिसमें जाति-पाँति का भेद और खानपान का आचार दूर कर दिया गया था। किंतु आगे चलकर कबीर के राम रामानंद के राम से भिन्न हो गए, वे धनुर्धर साकार राम न होकर ब्रह्म के पर्याय हुए। अतः कबीर को वैष्णव संप्रदाय के अंतर्गत नहीं ले सकते। उन्होंने हठयोगियों तथा सूफी फकीरों का भी सत्संग किया, इससे उनकी प्रवृत्ति निर्गुण उपासना की ओर दृढ़ हुई।

"जो ब्रह्म हिंदुओं की विचार-पद्धति में ज्ञान-मार्ग का एक निरूपण था उसी को कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर उपासना का ही नहीं, प्रेम का भी विषय

बनाया और उसकी प्राप्ति के लिये हठयोगियों की सी साधना का समर्थन किया। इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद-तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया।" उपासना-क्षेत्र में ब्रह्म निर्गुण नहीं बना रह सकता, उसमें गुणों का आरोप हो ही जाता है, अतः कबीर के वचनों में कहीं तो निरुपाधि निर्गुण ब्रह्मसत्ता का संकेत मिलता है, कहीं सर्ववाद की झलक मिलती है और कहीं सोपाधि ईश्वर की।

उपासना के बाह्य स्वरूप पर आग्रह करनेवाले और कर्मकांड को प्रधानता देनेवाले पंडितों और मुल्लों, दोनों को उन्होंने खरी-खरी सुनाई और राम और रहीम की एकता समझाकर बाहरी भेद-भाव को दूर करने तथा हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने का उपदेश दिया।

(२) कबीर यद्यपि पढ़े-लिखे न थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य-चमत्कार-पूर्ण बातें निकलती थीं। इनकी उक्तियों में विरोध और असंभव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था। ज्ञान की बातें इन्होंने अनेक प्रकार के रूपकों और अन्योक्तियों द्वारा ही कही हैं। इनकी वाणी में स्थान-स्थान पर भावात्मक रहस्यवाद की जो जो झलक मिलती है वह सूफियों के सत्संग का प्रभाव है। "कबीर अपने श्रोताओं पर अच्छी तरह भासित करना चाहते थे कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, इसी से वे प्रभाव डालने के लिये बड़ी लंबी-चौड़ी गर्वोक्तियाँ भी कभी-कभी कहते थे।

(३) कबीर ने मगहर में जाकर शरीर-त्याग किया। इनका जन्म सं० १४५६ में तथा मृत्यु १५७५ में मानी जाती है। कहते हैं इनकी वाणियों का संग्रह इनके शिष्य धर्मदास ने सं० १५२१ में किया था। कबीर की वचनावली की सबसे प्राचीन प्राति जिसका अब तक पता चला है, सं० १५६१ की लिखी है।

"इसकी (साखी की) भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी-पंजाबी मिली

खड़ी बोली है, पर रमैनी और सबद में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रज-भाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है।" "भाषा बहुत परिष्कृत और परिमार्जित न होने पर भी कबीर की उक्तियों में कहीं-कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार है। प्रतिभा उनमें बड़ी प्रखर थी, इसमें संदेह नहीं।"

द निर्गुन स्कूल ऑव हिंदी पोएट्री

डा० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल की उक्त नाम की पुस्तक काशी हिंदू विश्व-विद्यालय से डी० लिट्० के निबंध के रूप में स्वीकृत होकर ई० १९३६ में प्रकाशित हुई।* इसमें उन्होंने माना है कि कबीर ने ही निर्गुनपंथ को एक निश्चित रूप दिया, यद्यपि उसके लक्षण उनके पहले से ही प्रकट हो रहे थे। उनके अनुसार—

(१) कबीर अद्वैती हैं। जगत् उनके लिये असत्य नहीं है, पर ईश्वर से पृथक् उनका अस्तित्व नहीं है, क्योंकि ईश्वर की सत्ता सबके भीतर है। जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं, पर माया के कारण इसका ज्ञान नहीं होता। आत्मज्ञान से ही मुक्ति होती है, पर अमुक्त साधक की दृष्टि से मुक्ति का अर्थ है परमात्मा में इस प्रकार मिल जाना, जैसे बूँद समुद्र में मिलती है। कबीर ने आत्मा-परमात्मा की एकता का साक्षात्कार किया था।

निर्गुनियों के दार्शनिक विचार उपनिषदों से बहुत मिलते हैं और वहीं से उनका उद्भव भी हुआ है। अंतर केवल यह पड़ गया कि निर्गुनियों में सूफियों के प्रभाव से प्रेम तत्त्व भी आ मिला और वे परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखने लगे।

कबीर के राम रामानंद के राम से भिन्न हैं, वे अवतार नहीं हैं। कबीर ब्रह्म का अवतार नहीं मानते। मूर्तिपूजा की भी उन्होंने निंदा की है। फिर

*अब इसका हिंदी अनुवाद भी छप गया है, पर यहाँ मूल का ही उपयोग किया गया है।

भी निर्गुण और निर्विशेष परमात्मा में गुणों का आरोप कर उसे प्रेम का आलंबन बनाया है। पर प्रेम और भक्ति भी कबीर के लिये माया ही है और ईश्वर-साक्षात्कार के बाद उसका कोई प्रयोजन नहीं।

(२) कबीर के जीवन-वृत्त के संबंध में डा० बड़थ्वाल का मत है कि कबीर संभवतः एक ऐसे मुसलमान कुल में उत्पन्न हुए थे जिसमें गोरखनाथ का बड़ा मान था और जो थोड़े ही दिन पूर्व मुसलमान हुआ था, जो ऊपर से इसलाम को मानता था पर जिसके हृदय में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था।

कबीर रामानंद के शिष्य थे। जौनपुर के पीर पीतांबर को भी बहुत मानते थे। उनका जन्म मगहर में ई० १३७०*में हुआ, बाल्यकाल वहीं बीता। फिर काशी में रहे, पर मृत्यु के पूर्व फिर मगहर चले गए जहाँ ई० १४४८ में देह-त्याग किया।

कबीर

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'कबीर' पुस्तक में कबीर को समझने के लिये अपेक्षित सहृदयता, श्रद्धा, प्रतिभा एवं अध्ययन का सुंदर योग हुआ है। भाषा, भाव तथा शैली सरस होने के साथ-साथ अध्ययन की उदार और संतुलित दृष्टि इसकी विशेषता है। इसमें प्रकट किए गए विचारों से कोई पूर्णतया सहमत भले ही न हो, पर कबीर के अध्ययन में इससे महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है।

इसमें बीजक, कबीर ग्रंथावली, कबीर वचनावली तथा सत्य कबीर की साखी इन्हीं चार ग्रंथों को कबीर की रचनाओं के लिये प्रामाणिक माना गया है और इन्हीं में से २५५ चुने हुए पद 'कबीर' के अंत में संकलित हैं। पुस्तक में जो निष्कर्ष निकाले गए हैं उनका संक्षेप में उल्लेख किया जाता है—

कबीर धर्म-गुरु थे, अतः उनकी वाणियों का आध्यात्मिक रस ही आस्वाद्य होना चाहिए। परंतु विद्वानों ने उन्हें कवि, समाज-सुधारक, सर्व-धर्म-समन्वयकारी, हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य-विधायक, विशेष संप्रदाय के प्रतिष्ठाता आदि

अनेक रूपों में उनका अध्ययन और उनकी चर्चा की है। यह स्वाभाविक है, किंतु इनमें से किसी एक का ही प्रतिनिधि कबीर को समझ लेना भूल है।

कबीर ने कभी कविता लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की। परंतु भाषा पर उनका जबर्दस्त अधिकार था और अरूप को मनोग्राही रूप देने की उनमें अद्‌भुत शक्ति थी। व्यंग और चुटकी लेने में भी उनका कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। हिंदी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में इनके केवल एक ही प्रतिद्वंद्वी हैं—तुलसीदास। परंतु दोनों भक्तों के व्यक्तित्व में, उनके स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में बहुत बड़ा अंतर था। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब कुछ को झाड़-फटकार कर चल देनेवाले तेज ने कबीर को हिंदी साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। उनके इस व्यक्तित्व पर ही रीझकर सहृदय समालोचक उन्हें 'कवि' कहता है। वैसे वे न काव्यगत रूढ़ियों के जानकार थे न कायल। उनकी छंदोयोजना, उक्ति-वैचित्र्य और अलंकार-विधान पूर्ण रूप से स्वाभाविक और अयत्नसाधित हैं। अन्य संतों से उनमें एक विशेषता यह भी है कि वे अलौकिक साक्षात्कार के समय भी इस व्यवहार की दुनिया और साधारण मानव-जीवन को भूल नहीं जाते। इस कारण संतरूप के साथ उनका कविरूप भी बराबर चलता रहता है।

कबीर की वाणियों में ऐसी भी सामग्री है जो समाजसुधार, सर्व-धर्म-समन्वय और हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य के लिये उपयोगी है। परंतु ये सब कार्य करने की भी उनकी प्रतिज्ञा नहीं थी। वे मूलतः भक्त थे और उनकी साधना व्यक्तिगत थी। उनकी भगवद्भक्ति का स्वरूप ही ऐसा था कि उसमें उपर्युक्त सभी बातों का मेल था।

बाह्याचार की निरर्थक पूजा और संस्कारों की विचारहीन गुलामी कबीर को पसंद नहीं थी। वे इनसे मुक्त मनुष्यता को ही प्रेमभक्ति का पात्र मानते थे। संप्रदाय-प्रतिष्ठा के भी वे विरोधी जान पड़ते हैं।

कबीर की भाषा काफी जोरदार होने पर भी कालक्रम से वह आज के शिक्षित व्यक्ति को दुरूह जान पड़ती है। कबीर ने शास्त्रीय भाषा का अध्ययन नहीं किया था। फिर भी उनकी भाषा में परंपरा से चली आई हुई विशेषताएँ वर्तमान हैं। इसके ऐतिहासिक कारण को जाने बिना उस भाषा को ठीक-ठीक समझना संभव नहीं।

कबीर को प्रेम-भक्ति का तत्त्व उनके गुरु रामानंद से मिला था परंतु उनके योग तथा बाह्याचार-खंडन, ब्राह्मण-श्रेष्ठता को स्वीकार न करना इत्यादि संबंधी संस्कारों का संबंध नाथपंथ तथा उस मुसलमानी कुल से था जिसमें वे पालित हुए थे। जिस जुलाहा जाति में उनका पालन हुआ था वह पहले आश्रमभ्रष्ट नाथपंथी जोगियों की जाति थी और कुछ ही दिन पूर्व मुसलमान हुई थी। इस जाति में नाथपंथी संस्कार पूरी मात्रा में थे।

प्रस्तुत अध्ययन का क्षेत्र

उपर्युक्त विवरण में उल्लिखित ग्रंथों एवं अभिमतों का सम्यक् परिचय तो बिना मूल ग्रंथों के अध्ययन के संभव नहीं; इस दृष्टि से उक्त विवरण उनका दिग्दर्शन मात्र कहा जायगा। परंतु इससे इतना अवश्य पता चल जाता है कि कबीर और उनकी रचनाओं पर प्रायः सभी पक्षों से विचार कर कितना विस्तृत साहित्य पहले ही विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किया जा चुका है तथा कितने विभिन्न प्रकार के मत प्रकट किए गए हैं। तब यह प्रश्न उठना अस्वाभाविक नहीं कि अब नवीन अध्ययन में कौन सी विशेषता होगी, क्या वह पूर्व-प्रस्तुत साहित्य का पिष्टपेषण मात्र न होगा ?

इस संबंध में निवेदन है कि उक्त तर्क से ही, अर्थात् कबीर पर इतनी ग्रंथ-प्रचुरता के कारण ही, अभी विशेष अध्ययन और विपुल ग्रंथ प्रणयन का मार्ग अवरुद्ध न होकर उलटे उनकी आकांक्षा ही सिद्ध होती है। दूसरी बात यह है कि साहित्य वा काव्य के अध्ययन में प्रधान वस्तु है उसका सम्यक

अर्थबोध। पाठ-संपादन, टीका, टिप्पणी, व्याख्या आदि के प्रयत्न उसी के अंग रूप, उसी लक्ष्य की सिद्धि के लिये हैं। समालोचना दूसरों के लिये अर्थबोध में सहायक हो सकती है, परंतु समालोचक के लिये तो समालोचना से पहले अर्थबोध ही आवश्यक है। उसके बिना समालोचना का अर्थ ही क्या होगा? सम्यक् अर्थबोध के लिये रचयिता की कृतियों का निश्चय, भाषा का ज्ञान और भाव-परंपरा तथा संबद्ध साहित्य से परिचय होना अत्यंत आवश्यक है।

इस दृष्टि से उपर्युक्त विवरण का सिंहावलोकन किया जाय तो विदित होगा कि कबीर के अर्थानुसंधान या अनुवचन का प्रयत्न अभी सम्यक् रूप से नहीं हुआ है। मूल ग्रंथों से यह भी विदित होता है कि अधिकतर आलोचना अपनी रुचि और समझ के अनुसार चुने हुए ऐसे पदों के आधार पर की गई हैं जिनसे कबीर की भावधारा पर पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ता। अभी यह भी निर्णीत नहीं हुआ है कि कबीर की रचनाएँ कितनी और कौन-कौन-सी हैं। जो रचनाएँ उनकी मानी जाती हैं उनके भी शुद्ध पाठ संपादन एवं अर्थानु-संधान का प्रयत्न बहुत कम हुआ है। इस कार्य के विशाल क्षेत्र का अधिकांश अभी अछूता पड़ा है। इस कारण अब तक हुई अधिकांश आलोचना त्रुटिपूर्ण ही कही जायगी, कम से कम समालोचना (सम्यक् आलोचना) तो वह नहीं ही है। छिट-फुट अध्ययन के कारण ही प्रायः कबीर में व्यवस्थित विचारों का अभाव पाया गया है। केवल कुछ ही विद्वानों, विशेषतः डा० बड़थ्वाल और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, को उनमें व्यवस्था एवं एकरूपता के दर्शन हुए हैं।

सारांश यह कि कबीर का अध्ययन अभी पूर्ण नहीं कहा जा सकता। नवीन तथा विशेष शोध के लिये उनके जीवन तथा पंथ के इतिहास एवं पंथ-साहित्य के अध्ययन के अतिरिक्त स्वयं कबीर-साहित्य संबंधी कार्य भी अनल्प परिमाण में अवशिष्ट है; विशेषतः कबीर की रचनाओं के निर्णय, भाषा के अध्ययन, पाठ-संपादन, अनुवचन (अर्थानुसंधान) और साहित्यिक समीक्षा

का । प्रस्तुत अध्ययन द्वारा इन सबकी क्या एक की भी सम्यक् पूर्ति का दावा करना हास्यास्पद होगा। अकेले पाठ-संपादन का ही काम इतना बड़ा और टेढ़ा है कि वह एक व्यक्ति के मान का नहीं। अनुवचन का मुख्य कार्य उससे कम बड़ा नहीं, और टेढ़ा तो उससे अधिक ही है। फिर भी अनुवचन को केंद्र और प्रधान लक्ष्य मानकर कबीर के साहित्य, भाषा, पाठ, भावपरंपरा, अनुवचन-पद्धति, साहित्यिक समीक्षा और किन्हीं अंशों में उनके जीवन के संबंध में भी अवश्य इसमें नए सिरे और नए ढंग से विचार किया गया है, जैसा कि अगले अध्यायों से स्पष्ट होगा।

•

तीसरा अध्याय

कबीर का साहित्य

किसी भी कवि या लेखक के साहित्य के अध्ययन के लिये सर्वप्रथम हमें यह जानने की आवश्यकता होती है कि उस साहित्य का शुद्ध और निश्चित रूप क्या है। साहित्य या काव्य तो शब्द और अर्थ का साहित्य (सहित का भाव; शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—भामह) है। 'वागर्थाविव' अथवा 'गिरा अर्थ जल वीचि सम' उसमें शब्द और अर्थ का अविच्छेद्य संबंध होता है। अतः कवि की वैखरी वाणी वा उसके व्यक्त शब्द का—उसके साहित्य का—वास्तविक रूप जाने बिना उसके अभिप्रेत अर्थ का समझना हमारे लिये संभव ही नहीं है। परंतु कबीर के साहित्य का शुद्ध रूप जानना जितना आवश्यक है उतना ही कठिन भी।

कबीर के साहित्य के संबंध में विचार करते समय कुछ बातें पहले ही ध्यान में रखना आवश्यक है। एक तो यह कि कबीर एक पंथ के प्रवर्तक माने जाते हैं। उन्होंने अपना कोई पंथ स्वयं चलाया या नहीं, इसपर विद्वानों में मतभेद है। परंतु उनके नाम से जो कबीर-पंथ चलता है वह एक प्रत्यक्ष जीवित-जाग्रत् संप्रदाय है। उसके प्राचीन होने में भी कोई संदेह नहीं, भले ही वह कबीर के बहुत पीछे चलाया गया हो। जिन संतों या महात्माओं का संप्रदाय चलता है उनकी रचनाओं का सच्चा पता तो उनके संप्रदाय से ही लगना चाहिए।

'कबीर कसौटी' नाम की एक पुस्तक एक कबीरपंथी भक्त की लिखी हुई है और उसका कबीरपंथियों में मान है। उसमें लिखा है कि 'श्री कबीर जी के ग्रंथों की जिल्द १५२१ के साल में बंद हो चुकी है।' साधु लखनदास ने

वक्ता (कबीर) के शब्दों के यथार्थ रूप की रक्षा का वैसा महत्त्व नहीं समझा जाता। यदि ऐसा होता तो निस्संदेह वे सबसे अधिक प्रामाणिक होतीं। परंतु इस प्रकार की अपेक्षित शुद्धता कदाचित् वैदिक संप्रदायों को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं पाई जाती। इससे एक ओर तो पिछले चार सौ वर्षों के भीतर सहस्र-लक्ष मुखों में पड़कर उन वाणियों का रूप काफी विस-बदल गया होगा और दूसरी ओर कितनी ही उक्तियों में ऐसे हेर-फेर के कारण अर्थांतर भी हो गया होगा। ऐसा मानने का कारण यह है कि कबीर के सिद्धांतों के संबंध में सबका मत एक ही नहीं है। यह स्वाभाविक ही है, व्यक्ति और काल-भेद से सभी सिद्धांतों में मतांतर हो जाता है। ऐसी स्थिति में उक्त शुद्धता की प्रवृत्ति के अभाव में यह सर्वथा संभव है कि जिसने उन्हें जैसा समझा उसी के अनुसार वाणियों में संशोधन कर लिया होगा। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित है कि साधु और भक्तजन 'कहत कबीर सुनो भाई संतो' जोड़कर बहुत से नए पद बनाते रहे हैं और अब भी बनाते जा रहे हैं। अतः मौखिक वाणियों का अध्ययन सरस होने पर भी आधार रूप में लिखित साहित्य को ही अधिक प्रामाणिक मानना पड़ता है।

तीसरी बात यह है कि कबीर के लिखित साहित्य के विषय में यह विश्वास किया जाता है कि बहुत से अज्ञात ग्रंथ प्राचीन कबीरपंथी मठों के अगम 'भंडारों' में सुरक्षित या अरक्षित रूप में पड़े हैं जिनका दर्शन भी सर्वसाधारण को सुलभ नहीं है। अतः जिन रचनाओं का कबीर के नाम से पता लग चुका है वे ही हमारे विचार का विषय बन सकती हैं। परंतु उनमें प्रायः ऐसी पुस्तकें भी सम्मिलित कर ली गई हैं जो स्पष्टतः कबीर की नहीं, प्रत्युत उनके पीछे उनके जीवन और सिद्धांतों के स्पष्टीकरण के लिये उनके शिष्यों वा भक्तों द्वारा लिखी हुई हैं। इस प्रकार का कबीरपंथी साहित्य कबीर के वास्तविक साहित्य से पृथक् ही है। परंतु जिन रचनाओं को हम कबीर की कह सकते हैं उनके प्रामाण्य में भी उपर्युक्त 'कहत कबीर सुनो भाई संतो' वाली प्रवृत्ति बाधक होती है। ऐसी नवीन अथवा मिथ्या रचनाओं को छाँटकर

शुद्ध कबीर-साहित्य से पृथक् कर लेना कुछ सरल कार्य नहीं है और वैसा करने के लिये केवल एक ही मार्ग सुलभ है। वह यह कि लिखित साहित्य में से भी अध्ययन के लिये मूल आधार रूप ऐसे ही ग्रंथ चुने जायँ जो ऐतिहासिक अनुपूर्वता के विचार से अधिक प्राचीन समझ पड़ें। ऐतिहासिक दृष्टि से—

(१) किसी कवि की रचना का सबसे प्रामाणिक रूप तो वही हो सकता है जिसे उसने स्वयं अपने हाथों से लिखकर प्रस्तुत किया हो।

(२) यदि किसी कारण ऐसी रचना प्राप्य न हो तो कवि के जीवनकाल में की गई उसकी प्रतिलिपि ही मान्य होगी।

(३) वह भी प्राप्य न हो तो उसकी जो अपेक्षाकृत सबसे प्राचीन प्रतिलिपि प्राप्त हो उसी को आधार मानना पड़ेगा।

परंतु दुर्भाग्य की बात है कि ऐसा कोई भी ग्रंथ प्राप्त नहीं है जो कबीर के हाथ का लिखा कहा जा सके अथवा उसकी प्रतिलिपि ही। भविष्य में भी ऐसे किसी ग्रंथ के प्राप्त होने की संभावना भी नहीं, क्योंकि यह निश्चित रूप से विश्वास किया जाता है कि कबीर ने अपने हाथ से कुछ नहीं लिखा।

यह सर्वथा संभव है कि कबीर ने कुछ न लिखा हो, क्योंकि अब तक ऐसी कोई सामग्री प्राप्त नहीं हुई है। परंतु उसके न प्राप्त होने ही के कारण यह निश्चित कर लेना कि सचमुच कबीर ने कुछ लिखा ही नहीं, कोई तर्क नहीं है। आज हम जिन काव्यों का प्रेमपूर्वक पठन-पाठन और रसास्वादन करते हैं उन सबकी उनके रचयिताओं द्वारा लिखी हुई प्रतियाँ प्राप्त नहीं हैं। हिंदी की सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रिय रचना रामचरितमानस तक की गोस्वामी तुलसी दास के हाथ की लिखी प्रति के प्राप्त होने का प्रमाण नहीं मिला है। फिर भी यह कहना दुस्साहस ही होगा कि उन्होंने अपने हाथ से उक्त ग्रंथ लिखा ही नहीं।

कबीर के न लिखने का सबसे बड़ा प्रमाण उनकी यह साखी है—

मसि कागद छूआ नहीं, कलम गही नहिं हाथ।
चारिउ जुग को महातम, (कबीर) मुखहि जनाई बात ॥

—बी० सा० १८७

तो क्या इससे निश्चित रूप से यह समझ लिया जा सकता है कि कबीर ने न कभी 'मसि कागद' छुआ, न कलम पकड़ी ? हो सकता है यही ठीक हो। परंतु एक प्रश्न विचारणीय है। आखिर उनके मसि कागद न छूने का कारण क्या था ? क्या केवल यही एक कारण हो सकता है कि उन्हें उसका शऊर ही न था, वे अक्षर-ज्ञान से कोरे थे, या और भी कोई कारण संभव है ? यदि यही कारण है तो मानना चाहिए कि उक्त साखी का प्रधान वर्ण्य विषय कबीर की निरक्षरता है। पर ऐसा करना साहस का काम होगा। अपने मुँह से अपने अपढ़ होने का ढिंढोरा पीटने के लिये मूर्ख के पास भी कोई कारण होना चाहिए, फिर कबीर इसका संदेश क्यों देने लगे ? वस्तुतः साखी का विषय कबीर का कागज-कलम न छूना नहीं, वरन् कागज-कलम छुए बिना भी उनका अपनी बात बता देने में समर्थ होना है। इससे अधिक से अधिक प्रसंगविशेष में मसि-कागद की व्यर्थता ही सिद्ध होती है, कबीर का अज्ञान नहीं। चारों युगों का माहात्म्य त्रेतादि युगों का इतिहास नहीं, प्रत्युत वे आध्यात्मिक विषय हैं जो कबीर की रचनाओं से विदित हैं। कबीर आध्यात्मिक ज्ञान में लौकिक शास्त्र ज्ञान को, फलतः लिखने-पढ़ने की सामग्री को, आवश्यक नहीं समझते—यह उनकी अनेक वाणियों से प्रकट है। एक स्थल पर वे स्पष्ट कहते हैं—

मसि बिनु द्वात कलम बिनु कागद बिनु अच्छर सुधि होई।

—बी० श० १६

कबीर से मिलती-जुलती स्वामी हरिदास (सं० १५१२—१६००) की उक्तियों से यह भाव और भी स्पष्ट हो जाता है—

जन हरीदास अवगति अगम, जहाँ भ्रांति नहिं छोति।
हम बात तहाँ की लिखत हैं, बिन लेखणि बिन दोति॥

लेखनी दावात लेकर वे करें भी क्या? वहाँ तो—

मसि कागद पहुँचै नहीं, अगम ठौड़ है लोइ।
जन हरीदास ऐसी कथा, समझै बिरला कोइ॥

केवल साधारण अक्षर-ज्ञान नहीं, अपितु वेदों और शास्त्रों के ज्ञान तक की व्यर्थता उपनिषद् आदि ग्रंथों में भी कही गई है,* परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि उनके रचयिताओं को शास्त्र-ज्ञान या अक्षर-ज्ञान नहीं था। अस्तु। यहाँ कबीर को पढ़ा-लिखा और विद्वान् सिद्ध करना हमारी प्रतिज्ञा नहीं है, परंतु यह स्पष्ट है कि उनके उपर्युक्त दोहे के आधार पर उन्हें निरक्षर नहीं बताया जा सकता। प्रसंगवश पढ़े-लिखे व्यक्ति की भी वैसी उक्ति मानने में कोई बाधा नहीं है। क्या पता कबीर ने स्वयं भी कुछ लिखा हो, पर अन्य अनेक कवियों की रचनाओं की भाँति वह भी काल की कृपा से हमें प्राप्त न हो।

यदि यह कहा जाय कि कबीर जिस काल और समाज में उत्पन्न हुए थे उसमें पढ़ने-लिखने की सुविधा ही नहीं थी, तो इससे इतना ही समझना उचित होगा कि द्विजकुलोचित शास्त्रीय शिक्षा अथवा मकतबी तालीम उन्हें न मिली होगी, यह नहीं कि वे अक्षर-ज्ञान से कोरे थे। अस्तु। तात्पर्य केवल यह है कि कबीर ने चाहे कुछ लिखा हो या न लिखा हो, और इतना तो सत्य ही है कि उनकी लिखी कोई रचना या उसकी प्रतिलिपि प्राप्त नहीं है, परंतु दुर्बल प्रमाणों के आधार पर उस प्रकार की विरुद्ध धारणा बनाकर न हम किसी कवि के व्यक्तित्व के प्रति न्याय कर सकते हैं न उसके साहित्य के प्रति।

फिर भी यदि यही मान लिया जाय कि कबीर ने कुछ नहीं लिखा, तो केवल इसी कारण से उनकी रचनाओं को अप्रामाणिक ठहराकर उनका त्याग

---

* यथा—(१) बहु शास्त्र कथाकन्थारोमन्थेन वृथैव किम्। मु० उप०, २।६३
(२) त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। गीता, २।४५

नहीं किया जा सकता, न किया गया ही है। अंतःप्रज्ञ सूरदास जी ने भी तो सूरसागर नहीं लिखा था, न दूसरे से लिखाकर वे उसे देख ही सकते थे, पर उनके सुधासागर सूरसागर का अनादर करके कौन व्यक्ति सहृदय कहलाने का अधिकारी होगा ? भगवान् बुद्ध ने भी अपनी अमर और अमोघ वाणी को लिपिबद्ध नहीं किया था, पर क्या इस कारण से वह कभी तिरस्कृत हुई है ? इसलिये—

कबीर की स्वलिपि वा उसकी प्रतिलिपि के अभाव में वह प्रति भी मान्य हो सकती है जो उनके मुख से सुनकर किसी शिष्य या भक्त के द्वारा उनके जीवन काल में लिखी गई हो।

इस दृष्टि से पता लगाने पर कहना पड़ेगा कि कबीर के मुख से प्रत्यक्ष सुनकर लिखा हुआ कोई ग्रंथ प्राप्त नहीं हुआ है, कम से कम किसी ग्रंथ को वैसा कहने का ऐतिहासिक प्रमाण हमारे पास नहीं है। ऐसी अवस्था में केवल यही उपाय है कि या तो कबीर के जीवन-काल में लिखा हुआ उनकी-रचनाओं का कोई संग्रह प्राप्त हो, अथवा अब तक की प्राप्त पुस्तकों में जो सबसे अधिक प्राचीन हो उसे ही मान्य समझा जाय। इस प्रसंग में यह आवश्यक है कि एक बार उस विशाल साहित्य पर दृष्टिपात किया जाय जो कबीर के नाम से प्रसिद्ध है। कबीर-साहित्य की भिन्न-भिन्न प्रसिद्ध ग्रंथ सूचियों की एक सारणी यहाँ दी जाती है (द्रष्टव्य संलग्न पत्रक)।

*

इन सूचियों को देखने से विदित होगा कि प्रोफेसर विलसन ने कबीर के केवल आठ ग्रंथों के नाम दिए थे। पादरी वेस्टकाट ने कबीर के जीवन तथा उपदेशों के अध्ययन के लिये ८२ ग्रंथों की तालिका दी। उसमें अलिफनामा और बीजक को एक एक बार गिनने तथा कबीरकसौटी, कबीरमंसूर, कबीरोपासना-पद्धति और कबीर-चरित्र-बोध को निकाल देने से वस्तुतः ७४ ही ग्रंथ होते हैं। हिंदी-नवरत्न में ७५ ग्रंथों की सूची दी गई है। इसमें यदि निर्भयज्ञान को एक बार गिनें और उग्रज्ञान और मूलसिद्धांत तथा मुहम्मदबोध

और नाममाहात्म्य में से प्रत्येक को पृथक् पृथक् ग्रंथ समझें तो यह सूची ७६ की होती है। श्री रामदास गौड़ के 'हिंदुत्व' में दी गई सूची ७१ ग्रंथों की है। इसमें अलिफनामा, निर्भयज्ञान और हिंडोला को एक एक बार और आगम और शब्दपारख, बसंत और होली तथा आनंद-रामसागर और मंगल को पृथक् पृथक् गिनने से भी ७१ ही पुस्तकें होती हैं। विलसन तथा गौड़ की सूचियों की सब पुस्तकें नवरत्न में आ गई हैं और उसमें गौड़ की सूची से पाँच पुस्तकें अधिक हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने काशी नागरीप्रचारिणी सभा के सन् १९२२ तक के खोज-विवरणों के आधार पर अपने 'संत कबीर' में ८५ ग्रंथों की तालिका दी है। उक्त सभा के सन् १९४३ तक के खोज-विवरण में १३० ग्रंथों का उल्लेख है। वेंकटेश्वर प्रेस (बंबई) से प्रकाशित कबीरसागर या बोधसागर में ४० ग्रंथ हैं। खोज-विवरण की लंबी सूची में वेस्टकाट, नवरत्न तथा कबीरसागर के असमान ग्रंथों को सम्मिलित कर देने से कबीर के कथित ग्रंथों की संख्या लगभग पौने दो सौ तक पहुँचती है। परंतु अब इन सब ग्रंथों को कबीर कृत कहने का आग्रह कोई नहीं करता। वस्तुतः कबीर-साहित्य और पंथ-साहित्य दोनों को एक में मिला देने से ही ग्रंथो की संख्या इतनी बढ़ गई है। उनमें से वशिष्ठ, लक्ष्मण, हनुमान, गरुड़, गोरख, दत्तात्रेय, मुहम्मद आदि के संवाद तथा पंथ की चर्या बतानेवाले सभी ग्रंथ सरलता से पृथक् किए जा सकते हैं और तब कबीर के ग्रंथों की संख्या २५ से अधिक नहीं होती।

इन पचीस में भी बिरहुली, बेली, चाँचर, रमैनी, बसंत, हिंडोला, विप्रमतीसी, चौंतीसी आदि जो अलग-अलग लिखे गए हैं, सब बीजक के ही अंग हैं। बीजक में इन सबका एकत्र संग्रह है। भक्ति, सत्संग आदि के भिन्न-भिन्न अंग साखियों के ही अंग हैं। पद और शब्द तथा साखी और दोहे में केवल नाम की ही भिन्नता है। यदि इन सबका एकत्र संग्रह किया जाय तो वह एक बहुत बड़े बीजक का ही रूप होगा। परंतु इन ग्रंथों के विषय में एक

बड़ी कठिनाई यह है कि इनकी जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं वे या तो तिथि-संवत् से रहित हैं या अठारहवीं शती से पहले की नहीं हैं। अधिकांश उन्नीसवीं और बीसवीं शती की हैं। केवल एक पुस्तक 'कबीर जी की बानी' ही ऐसी है जिसपर लिपिकाल संवत् १५६१ दिया हुआ है और जो इस दृष्टि से सबसे प्राचीन कही जा सकती है।

ऊपर की लंबी सूचियों में उल्लिखित साहित्य में कबीर के उपदेशों के लिये प्रधान धर्म-ग्रंथ के रूप में जिन ग्रंथों का प्रचार है वे हैं बीजक और कबीरसागर। पंथ की छत्तीसगढ़ी शाखा में अधिक प्रचार कबीरसागर का है और कबीरचौरा में बीजक का।* कबीरसागर, जैसा कि उसकी सूची से ही प्रकट है, पंथ का साहित्य है, कबीर की रचना नहीं।

कबीर की प्रकाशित रचनाएँ

अब कबीर के नाम की प्रकाशित रचनाओं पर भी थोड़ा विचार करना आवश्यक है। कबीर की रचनाओं के जो मुख्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं वे निम्नलिखित हैं—

(१) कबीर साहब की शब्दावली
(२) कबीर के पद
(३) साखियाँ
(४) बीजक
(५) संत कबीर
(६) कबीर ग्रंथावली

---

* दमखेड़ा के एक कबीरपंथी साधु (श्री विवेकदास) ने लेखक को बतलाया कि उधर कबीरपंथियों को मुख्यतः कबीरसागर पढ़ने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है। बीजक के पठन-पाठन का न प्रचार है, न सुविधा। कबीरचौरा के महंत श्री रामविलास जी के कथनानुसार अब उधर भी बीजक का प्रचार हो रहा है और अब तो बीजक के पंडित श्री विचारदास स्वयं खरसिया में रहते हैं।

इनके अतिरिक्त और भी कई चुने हुए संक्षिप्त संग्रह प्रकाशित हुए हैं पर उनका मूल आधार उक्त ग्रंथों में से ही कोई एक वा अनेक हैं। अयोध्या-सिंह उपाध्याय की 'कबीर वचनावली', रामकुमार वर्मा की 'कबीर पदावली', नरोत्तमदास स्वामी के 'कबीरदास' तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'कबीर' में कबीर की ऐसी ही चुनी हुई बानियाँ संगृहीत हैं।

(१, २) शब्दावली तथा पद

कबीर साहब की शब्दावली अनेक हस्तलिखित पोथियों और फुटकर पदों से शोधकर संकलित की गई है। उसके दूसरे भाग में निवेदन किया गया है— "हमने देश-देशांतर से बड़े परिश्रम और व्यय से ऐसे हस्तलिखित दुर्लभ ग्रंथ या फुटकर शब्द ......असल या नकल करा के मँगवाए ..... । जहाँ तक बन पड़ता है सर्वसाधारण के उपकारक पद चुनकर और कई लिपियों से मुकाबिला करके ठीक रीति से शोधकर संग्रह किए जाते हैं......परंतु इस सब जतन पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि हमारी पुस्तकें निरदोष हैं अर्थात् उनमें अशुद्धता और क्षेपक नाम मात्र नहीं है।" इस कथन से ही स्पष्ट है कि शब्दावली पर, जहाँ तक कबीर की रचनाओं को उनके वास्तविक रूप में देखने का प्रश्न है, पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता।

श्री क्षितिमोहन सेन द्वारा संगृहीत कबीर के पद चार भागों में प्रकाशित हुए। यह संग्रह मुद्रित तथा हस्तलिखित पुस्तकों के अतिरिक्त रमते साधुओं के मुख से सुनकर भी किया गया है, और जैसा पहले कहा जा चुका है, सेन जी साधुओं के मुख से सुनी बानियों को अधिक प्रामाणिक मानते हैं। इसलिये इसमें सन्-संवत् की प्रामाणिकता का कोई प्रश्न ही नहीं है।

(३) साखियाँ

कबीर की साखियों के कई संग्रह प्रकाशित हुए जिनमें वेलवेडियर प्रेस (प्रयाग) का साखी-संग्रह, युगलानंद कबीरपंथी द्वारा संशोधित 'सत्य कबीर की साखी' और विचारदास की टिप्पणी सहित 'कबीर साहेब का साखी-

ग्रंथ' मुख्य हैं। परंतु इनमें से किसी के भी मूल आधार के संबंध में कोई निश्चित बात ज्ञात नहीं। केवल युगलानंद जी ने सत्य-कबीर की साखी का जिन अनेक प्रतियों से संशोधन किया है उनमें से एक को संवत् १६०० की लिखी हुई बताया है जो उन्हें शिवहर-निवासी बख्शी गोपाललाल से प्राप्त हुई थी। पर वह प्रति इस समय प्राप्त नहीं है और मुद्रित प्रति में से उसकी साखियों को पृथक् करने का कोई साधन नहीं है।

फकीर महमद साहे आलम कादरी चिस्ती द्वारा मुंबई से प्रकाशित एक साखी संग्रह गुजराती में है जिसमें १०१ अंग हैं। प्रकाशक की भूमिका से उसकी मूल हस्तलिखित प्रति के संबंधों में विदित होता है कि वह कोई प्राचीन प्रति थी। परंतु वह कब की लिखी थी इसका पता नहीं है।

(४) बीजक

[illegible] ग्रंथ, मूल अथवा सटीक, कई व्यक्तियों द्वारा अलग अलग प्रस्तुत किया गया जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं—

१—[illegible]श्वनाथ सिंह जू देव

२—पूरनदास

३—प्रेमचंद

४—अहमदशाह

५—काशीदास

६—विचारदास

७—लखनदास और रामफलदास

८—राघवदास

९—हनुमानदास

१०—हंसदास शास्त्री, महावीरप्रसाद

इनमें से किसी ने भी अपने ग्रंथ की मूल-आधारभूत किसी ऐसी पुस्तक का उल्लेख नहीं किया है जिसकी कोई निश्चित तिथि ज्ञात हो। पादरी प्रेम-

चंद के बीजक की कोई प्रति प्राप्त नहीं हो सकी, पर वेस्टकाट के उल्लेख से पता चलता है कि उन्होंने मुर्शिदाबाद की किसी प्रति की नकल कराई थी और अन्य अनेक प्रतियों से उसका मिलान करके अपना बीजक छपवाया था। पर मुर्शिदाबाद की प्रति के संबंध में और कुछ ज्ञात नहीं। अहमदशाह ने अपना बीजक पाँच मुद्रित पुस्तकों (जो वस्तुतः विश्वनाथसिंह, प्रेमचंद, पूरनदास इन तीन के ही भिन्न संस्करण हैं) के आधार पर 'यथासंभव शुद्ध पाठ के साथ' तैयार किया था, किसी प्राचीन हस्तलिखित प्रति की सहायता नहीं ली थी! हनुमानदास और राघवदास ने इस संबंध में कुछ लिखा ही नहीं है।

काशीदास का बीजक पूरनदास के ही ग्रंथ का मूल (टीकारहित) संस्करण है। पूरनदास ने किस प्रति को लेकर अपनी टीका की थी इसका पता नहीं। निम्नलिखित उल्लेख से केवल टीका के समय का पता लगता है—

> संवत अठारह सै सही, साल चौरनबे जान।
> कार्तिक मास पूर्ण तिथि, शुक्ल पक्ष परवान॥
> वार रवि आदित्य दिन, समय प्रभात बखान।
> नग्र बुढ़नपुर बैठका, नागझिरी अस्थान॥

इससे केवल इतना ही निश्चित होता है कि मूल बीजक जिसकी उन्होंने टीका की, संवत् १८९४ के पहले का था।

लखनदास और रामफलदास का बीजक मुद्रित और हस्तलिखित ग्यारह प्रतियों से शुद्ध करके तैयार किया गया था, परंतु उसमें मूल आधारभूत किसी तिथि-सहित प्राचीन पुस्तक का उल्लेख नहीं है।

विचारदास ने अपने बीजक की भूमिका (पृ० ४४) में लिखा है—'इस पुस्तक का शोधन अति प्राचीन पाँच प्रतियों के आधार से किया गया है जो कबीरचौरा के पुस्तकालय में सुरक्षित है। उनमें एक प्रति अत्यंत जीर्ण-शीर्ण और अनेक दफा की जीर्णोद्धारित (मरम्मत) की हुई मालूम पड़ती है।'

परंतु इससे अधिक उन प्रतियों की प्राचीनता के संबंध में कोई उल्लेख नहीं है जिससे जाना जाय कि वे कितनी पुरानी हैं।

विश्वनाथसिंह का बीजक पुराना माना जाता है। बीजक के संबंध में यह बात प्रसिद्ध है कि कबीर के समय में ही उनके शिष्य धर्मदास ने उसकी कोई प्रति सं० १५२१ में लिखी थी और वह रीवाँ-नरेश के पास थी। डा० के० ने लिखा है कि रीवाँमें उस प्रति के संबंध में पूछताछ करने पर कोई पता नहीं चला। साथ ही यह भी प्रसिद्ध है कि कबीरदास के शिष्य भगवानदास बीजक लेकर धनौती भाग गए और वह वहीं रह गया। अतः विश्वनाथसिंह को वह बीजक तो मिला न होगा, हाँ यदि धर्मदास वाली प्रति रीवाँ में रही होगी तो अवश्य उन्होंने उसी का उपयोग किया होगा। पर उनके निज के उल्लेख से इसका निश्चय नहीं होता। उन्होंने अपने टीका-ग्रंथ में लिखा है—

"सो और और अर्थ जे कविरहा करै हैं ते भागूदास और भागूदास के शिष्य प्रशिष्य ते बीजक के वितंडाबाद अर्थ करि कै कबीरजी के सिद्धांत को अर्थ जो रामनाम है ताते जीवन को विमुख करि डार्‍यो नरक की राह लगाय दियो काहे ते दूसरी पोथी तो रही नहीं वोही पोथी रही तौने को मन-मुखी अर्थ करिकै आप बिगरे और शिष्य प्रशिष्यन को बिगार्‍यो जे उनके सत्संग किए ते सब याही ते नाम तो रहै भगवानदास पै भागूदास कबीरजी कह्यो है। औ मैं जो तिलक करौ हौं बीजक को सो एक तो साहब के हुकुमई ते कियो है सो आगे लिखि आए हैं दूसरे तिलक बानाइ बांधौगढ़ में आयो तहाँ बयालिस वंश विस्तार ग्रंथ देख्यो ताको प्रमाण तिलक में लिखि दियो है पोथी पंद्रह सै यकइस के साल की धर्मदास के हाथ की लिखी है और ये ही पोथी में कबीरजी राजाराम ते आगम कहि दियो है।"

इसमें 'पंद्रह सै यकइस' के साल का उल्लेख अवश्य है पर उस साल में लिखे गए किसी बीजक का तो कोई उल्लेख नहीं है। उलटे यह लिखा है कि भागूदास जो बीजक ले भागे उसके अतिरिक्त कोई दूसरी पोथी थी ही नहीं। धर्मदास की लिखी जो पोथी उन्होंने बांधवगढ़ में देखी उसका 'बया-

लिस वंश विस्तार' नाम स्पष्ट लिखा है। इससे विदित होता है कि १५२१ के धर्मदास वाले बीजक का अस्तित्व मानने के लिये वस्तुतः कोई आधार ही नहीं है। फिर वह विश्वनाथसिंह की टीका का आधार कैसे हो सकता था? यदि और कोई दूसरी प्रति रही हो तो उसका कहीं कोई उल्लेख नहीं है। संभव है जब कबीर जी ने इनसे बीजक की टीका करवाई (पृ० १९) तो बीजक भी उन्हें लिखा दिया हो। परंतु उसका समय संवत् १८५० के पहले नहीं जा सकता, क्योंकि विश्वनाथसिंह का राज्यकाल १८७०-१९११ विक्रमी है।

(५) संत कबीर

सिक्खों के ग्रंथ साहब में कबीर की जो रचनाएँ संगृहीत हैं, 'संत कबीर' में उन्हीं का "संपादन श्री गुरुग्रंथ साहब के पाठ के अनुसार ही बड़ी सावधानी से" किया गया है, यद्यपि इसमें कुछ साखियाँ नामदेव, तिलोचन, रैदास और नानक की भी आ गई प्रतीत होती हैं।* यह प्रसिद्ध है कि आदिग्रंथ का सकलन पाँचवें सिक्ख गुरु अर्जुनसिंह ने सं० १६६१ में कराया था। सिक्ख लोग गुरु के शब्द को इतना महत्त्व देते हैं कि उसमें कुछ भी घटाना-बढ़ाना अधर्म समझते हैं। भाई मोहनसिंह ने आदिग्रंथ के नागरी संस्करण की भूमिका में लिखा है कि सिक्खों में यह परिपाटी है कि पाठ करने के बाद वे निम्नलिखित वाक्य कहा करते हैं—

लग कन्ना, अक्षर, तुक, भुल, चुक, बध घट माफ

जिससे सावधानी रखने पर भी भूल से कोई त्रुटि हो जाय तो उसका दोष न लगे। इससे यह माना जा सकता है कि सं० १६६१ (ग्रंथ का संकलन-काल) के बाद कम से कम जान-बूझकर इसमें कोई हेरफेर या घट-बढ़ नहीं किया गया। डा० रामकुमार वर्मा ने इसी लिये इस ग्रंथ को सबसे अधिक प्रामाणिक माना है। पर इसका संकलन कबीर के लगभग एक सौ वर्ष पीछे कदाचित् संतों की

* संत कबीर, साखी २१२, २१३, २२०, २४१, २४२

स्मृति के आधार पर किया गया था। अतः संवत् १६६१ के पीछे की ही संकलित प्रतियों में यह अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है।

(६) कबीर ग्रंथावली

कबीर ग्रंथावली का संपादन दो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों का मिलान करके किया गया है, पर उसका मूल 'कबीर जी की बानी' है जिसको उसकी पुष्पिका के अनुसार मलूकदास ने खेमचंद के पठनार्थ बनारस में संवत् १५६१ में लिखा था। ग्रंथावली के संपादक ने कबीर की मृत्यु सं० १५७५ में मानी है, अतः उनके मत से यह प्रति कबीर के जीवनकाल में ही उनकी मृत्यु के चौदह वर्ष पूर्व लिखी गई। वे यह मानते हैं कि कबीर की सं० १५६१ तक की संपूर्ण रचनाएँ इसमें संगृहीत हैं, पर यह भी स्वीकार करते हैं कि कबीर ने इतना ही नहीं लिखा होगा। अतः सं० १८८१ की लिखी एक दूसरी प्रति में इससे जो पाठ-भेद हैं अथवा जो अधिक पद आए हैं वे इसकी पाद-टिप्पणियों में रखे गए हैं तथा परिशिष्ट में आदिग्रंथ में आए हुए अधिक पद भी संकलित किए गए हैं। ग्रंथावली की भूमिका में लिखा है—

"यह कहना तो कठिन है कि इस संग्रह में जो कुछ दिया गया है उसके अतिरिक्त और कुछ कबीरदास ने कहा ही नहीं है, पर इतना अवश्य है कि इनके अतिरिक्त और जो कुछ कबीरदास जी के नाम पर मिले उसे सहसा उन्हीं का कहा हुआ तब तक स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए जब तक उसके प्रक्षिप्त न होने का कोई दृढ प्रमाण न मिल जाय।"

इस प्रकार इसके संपादक ने सं० १५६१ वाली प्रति अर्थात् 'बानी' को सबसे अधिक प्रामाणिक माना है (पं० रामचंद्र शुक्ल ने भी इसे प्रामाणिक माना है–हिं० सा० का इतिहास), पर साथ ही कबीर के नाम से प्रसिद्ध इसके पीछे की रचनाओं की परीक्षा का भी मार्ग खुला रखा है।

'बानी' में दी हुई तिथि स्वीकार करने पर यह मानना पड़ता है कि इसके

पहले का लिखा कोई ग्रंथ अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। इसलिये यही सबसे अधिक प्रमाण्य ठहरती है और अध्ययन का मार्ग बहुत कुछ सरल हो जाता है। परंतु इसमें बड़ी कठिनाई यह है कि कुछ विद्वानों ने उक्त ग्रंथ के सं० १५६१ का लिखा हुआ होने में संदेह किया है। संदेह का मुख्य कारण यह है कि संपूर्ण पुस्तक की लिपि तथा उसके अंत में दी हुई पुष्पिका की लिपि में अंतर है जो ग्रंथावली में दिए गए अंतिम पृष्ठ के फोटो में भी स्पष्ट है। प्रोफेसर जुल्स ब्लाख का कथन है—"संपादक के दिए हुए फोटो से यह पता लगाना सरल है कि पुस्तक और तिथि दो भिन्न हाथों की लिखी हुई हैं। संभवतः दोनों के लेखक समकालिक थे, पर बा० श्यामसुंदरदास ने इस प्रश्न का समाधान नहीं किया।" डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उक्त प्रति को काफी प्राचीन मानकर उसका प्रमाण रूप में व्यवहार किया है, पर वे उसे सं० १५६१ को लिखी नहीं मानते। उन्होंने लिखा है—

"नागरीप्रचारिणी सभा की प्रकाशित पुस्तक में उक्त प्रति के अंतिम पृष्ठ का फोटो दिया हुआ है। उसमें जो संवत् लिखा हुआ है वह बाद की लिखावट जान पड़ती है। एक बार 'इतिश्री कबीरजीकी बाणी संपूरण समाप्तः॥ ···' इत्यादि लिखकर फिर से अपेक्षाकृत मोटी लिखावट में 'संपूर्ण संवत् १५६१' इत्यादि लिखना क्या संदेहास्पद नहीं है? पहली बार का 'संपूरण' और दूसरी बार का 'संपूर्ण' काफी संकेतपूर्ण है। एक शब्द के ये दो रूप हिज्जे और आकार प्रकार में स्पष्ट ही बता रहे हैं कि ये एक हाथ के लिखे नहीं हैं। ऐसा जान पड़ता है कि अंतिम डेढ़ पंक्तियाँ किसी बुद्धिमान् की कृति हैं। इसीलिये मुझे इस पुस्तक के सं० १५६१ में लिखित होने में काफी संदेह है, पर इसकी प्राचीनता में कोई संदेह नहीं है।" (कबीर, पृष्ठ १९)

डा० रामकुमार वर्मा डा० द्विवेदी के उक्त कथन से सहमत हैं और उन्होंने मूल पुस्तक और पुष्पिका के कुछ अक्षरों का पृथक् रूप से निर्देश करके उनका भेद दिखलाया है। इस पुस्तक की प्रामाणिकता में डा० वर्मा के संदेह का दूसरा कारण उसकी भाषा का 'पंजाबीपन' भी है। भाषा और पाठ के संबंध

में अन्यत्र विचार किया जायगा (अध्याय ४), यहाँ उसके काल-निर्णय के प्रसंग में उक्त लिपि-भेद की ही संक्षिप्त चर्चा की जायगी। पुस्तक के अंतिम पृष्ठ की अंतिम ढाई पंक्तियाँ ये हैं—

रमैंणी ७ ॥ इतिश्रीकबीरजीकीबांणीसंपूरणसमाप्तः ॥ साषी ॥८१०॥ अंग ६९ ॥ पद ॥ ४०२ ॥ राग ॥ १५ ॥ संपूर्ण संवत् १५६१ लिप्यकृत्य वाणारसमध्यषेमचंदपठनार्थमलुकदासबाचविचाजांसूश्रीरामरामछयाद्रसि-पूस्तकंद्रष्ठाताद्रसंलितंमयायदिशुद्धंतोवाममदोशोनदियतां।

इसमें विवाद का मूल विषय द्वितीय पंक्ति में 'संपूर्ण' से आरंभ करके अंतिम डेढ़ पंक्तियाँ हैं। इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है कि उक्त पंक्तियों और शेष पुस्तक की लिखावट में अंतर है। 'संपूर्ण' और 'संपूरण' का भेद भी स्पष्ट है और निम्नलिखित अक्षरों की लिखावट में भी भिन्नता है—

(क) मूल में य व के नीचे विंदु है पर पुष्पिका में नहीं।

(ख) मूल में 'दोष' में मूर्धन्य ष है पर पुष्पिका में तालव्य।

(ग) मूल में द्र इस प्रकार है— ‿द और पुष्पिका में इस प्रकार—द्र।

अंतर ही संदेह का स्थल है और अंतर प्रत्यक्ष है। अतः मैं यह कहने का दावा नहीं कर सकता कि दोनों लिखावटें दो भिन्न व्यक्तियों की नहीं हो सकतीं। परंतु विचारणीय यह है कि ऐसा अंतर एक ही व्यक्ति के लेखों में संभव है या नहीं? सामान्य अनुभव यह बतलाता है कि एक ओर तो दो भिन्न व्यक्तियों की लिखावटों में इतनी सरूपता हो सकती है कि वे सरलता से पहचानी न जा सकें। दुनिया के सारे लिपि संबंधी जाल इसी सरूपता की बदौलत होते हैं और यदि उक्त में किसी ने जाल किया तो अवश्य वह बहुत कच्चे हाथ का था? और दूसरी ओर एक ही व्यक्ति की लिपियों में काल, सामग्री, चित्तवृत्ति आदि की भिन्नता से पर्याप्त अंतर पड जाता है जिससे उन्हें एक ही व्यक्ति की मानने में संदेह होता है। अपवाद तो होते ही हैं, पर सामान्यतः अच्छे से अच्छा आधुनिक लेखक भी चलते हाथ से लिखे गए अपने ही लेखों की साव-

हो जाना संभव है।"[१] लिपि-परीक्षा में सतर्कता की दृष्टि से एक अन्य इतिहासविद् का कथन उद्धृत करना अनुचित न होगा—"यदि किसी ग्रंथ या लेख में हिज्जे की गलतियाँ हों, या कुछ अक्षर विरूप हों अथवा लिपि उस काल की न हो जिस काल का वह लेख अन्य प्रमाणों के अनुसार होना चाहिए, तो भी ये सब उसे ठुकरा देने के लिये पर्याप्त कारण नहीं हैं।"[२] अतः जब तक अन्य प्रकार के पुष्ट प्रमाणों से उपर्युक्त काल गलत न सिद्ध हो जाय, उसे स्वीकार करने में कोई अनिवार्य बाधा नहीं जान पड़ती। और यदि अंततः वह गलत ही सिद्ध हो तो भी कम से कम, जैसा डा० द्विवेदी भी मानते हैं, ग्रंथ की प्राचीनता में तो कोई संदेह नहीं है।

तीन मान्य ग्रंथ

पर यदि उक्त प्रति सं० १५६१ में लिखी हुई मान ली जाय तो भी एक तो इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि वह कबीर के मुख से सुनकर ज्यों की त्यों लिखी गई और दूसरे वैसा हो तो भी कबीर ने उतना ही नहीं कहा होगा। इस विचार से उनकी अन्य रचनाओं की आकांक्षा बनी ही रहती है। इसलिये तिथि की दृष्टि से इसके बाद आदिग्रंथ (सं० १६६१) भी मान्य है।

इस प्रकार हम आश्चर्य के साथ देखते हैं कि जो कबीर के विशाल साहित्य का पर्वत सा जान पड़ता था वह 'फूँकते फूँकते' ही अदृश्य हो गया। पर हम खेद के साथ अनुभव करते हैं कि उसके साथ ही उपर्युक्त दो ('बानी' और आदि-

---

१—भारतीय प्राचीन लिपिमाला, भूमिका पृ० ८

२—The detection of a number of evident mistakes of spelling or the presence of a few misshapen letters or the fact that the calligraphy is not of the time to which the record should be attributed on other good grounds, are not sufficient for spurning them.

—मेथड ऑव हिस्टॉरिकल रिसर्च, कर्नाटक हिस्टॉरिकल रिव्यू, भाग ७, १९४८

ग्रंथ) को छोड़कर बहुत से बहुमूल्य रत्न भी हाथ से निकल गए। परंतु अनंत रचना-जाल से भीत और नाम-तिथि के 'लेबुलों' के सहारे फूँक-फूँककर पैर रखनेवाली शंकित दृष्टि के पल्ले इससे अधिक पड़ ही क्या सकता है? भावुक हृदय तो रचना चाहता है व्यक्ति नहीं, मंत्र चाहता है देवता नहीं। मंत्र से वह देवता को आप बुला लेता है, वाणी से वक्ता को स्वयं पहचान लेता है। कबीर की तारीख जाने बिना भी उनकी चुटीली रचना उसे घायल किए बिना नहीं रह सकती। इसमें संदेह नहीं कि छोड़ दी गई रचनाओं में से कितनी ही ऐसी हैं जिनमें हृदय मानता है कि कबीर बोल रहे हैं, पर प्रमाण का अभाव है! यह आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि लौकिक न्याय-विधि से तो विवाद होने पर कोई प्रत्यक्ष हँसते या रोते हुए अपने प्यारे बच्चे को भी गोद में नहीं उठा सकता, 'अपना' नहीं कह सकता, जब तक कि उसके अपना होने की 'चश्मदीद' गवाही न पेश कर दे। परंतु ऐसी गवाही को कितना भी व्यावहारिक महत्त्व क्यों न दिया जाय, उसकी भयावह स्थिति तो स्पष्ट है। शंका की प्रवृत्ति को आवश्यकता से अधिक दूर खींच ले जाने से यह सर्वथा संभव है कि हमारे हाथ कुछ भी न लगे। क्योंकि बानी और आदिग्रंथ को भी तो हम अन्य लेखकों या संकलयिताओं के ही साक्ष्य पर कबीर की रचना मान सके हैं! इस विडंबना से बचने के लिये यह आवश्यक है कि जहाँ हम बाह्य ऐतिहासिक प्रमाणों को इतना महत्त्व दें वहाँ परंपरा की भी सर्वथा उपेक्षा न करें। जैसा पहले कहा जा चुका है, कबीर-पंथ में कबीर-रचित अनेक ग्रंथ माने जाते हैं पर बीजक उनका सबसे प्रसिद्ध और मान्य ग्रंथ है। यों भी बीजक कम पुराना नहीं जान पड़ता। डा० बड़थ्वाल ने इसे सन् १६०३ के कुछ बाद का माना है और वेस्टकाट ने आदिग्रंथ से भी पहले का, सन् १५७० के लगभग का बताया है। इसलिये उपर्युक्त दो ग्रंथों के साथ अध्ययन के क्रम में इसको भी सम्मिलित कर लेना सर्वथा उचित है।

यह बात अवश्य है कि बीजक के भिन्न भिन्न संस्करणों में पाठ तथा पद्यों के क्रम एवं संख्याओं में अंतर है। अतः उनमें से किसी एक को जो अन्यों

की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक कहा जा सके, चुन लेना आवश्यक होगा। मुख्य-मुख्य बीजकों की स्थिति स्पष्ट करने के लिये आगे दी हुई सारणी में उनके अंगों का क्रम पद्यों की संख्या के साथ दिया जाता है (द्रष्टव्य संलग्न पत्रकन)।

*

इस सारणी से यह स्पष्ट है कि प्रेमचंद और हनुमानदास के बीजकों को छोड़कर शेष सबमें अंगों का क्रम एक-सा है तथा साखियों के अतिरिक्त उनमें अन्य पद्यों की संख्याएँ भी समान हैं, केवल विश्वनाथसिंह के बीजक में शब्दों की संख्या भिन्न है। और विश्वनाथसिंह तथा अहमदशाह में 'सायर बीजक' के पद अधिक हैं। पूरनदास, विचारदास, राघवदास और हंसदास में पद्यों के क्रम तथा उनकी संख्याओं में भी पूरी समानता है। इन चारों में बीजक का जो रूप है वहीं कबीरपंथियों में अधिक प्रचलित और मान्य है। यह पहले कहा जा चुका है कि विचारदास ने अपने बीजक का संपादन कबीरचौरा की प्राचीन प्रतियों के आधार पर किया है। अतः बीजक के इसी रूप को मान लेना हमारे लिये अधिक सुविधाजनक होगा।

इस प्रकार कबीर की 'बानी', आदिग्रंथ (में संकलित पद्य) तथा बीजक ये तीनों ग्रंथ हुए। इन्हीं तीनों को कबीर-साहित्य की त्रयी मानकर इनके रूप, भाषा, विषय आदि की विवेचना की जायगी। इनके जो पद्य उद्धृत किए जायँगे, सुविधा के लिये उनकी संख्या का संकेत क्रमशः कबीर-ग्रंथावली,-संत कबीर तथा विचारदासके बीजक से ही दिया जायगा।

रचनाओं का प्रबंधन

लिखित तिथि तथा परंपरा के बाह्य साक्ष्य पर बानी, आदिग्रंथ और बीजक को कबीर की रचनाएँ मान लेने पर अब इनके भीतरी रूप की भी किंचित् परीक्षा आवश्यक प्रतीत होती है। साधारण दृष्टि से इन तीनों में पर-

स्पर तथा प्रत्येक में पृथक्-पृथक् भी भाषा और विचारों आदि में इतना भेद और विरोध दिखाई पड़ता है कि यह संदेह अनिवार्य हो जाता है कि या तो (१) जिस प्रवृत्ति के कुफल से बचने के लिये कबीर के नाम से प्रसिद्ध अन्य रचनाओं को छाँट दिया गया उसका प्रभाव इन तीन ग्रंथों पर भी है, अर्थात् इनमें दूसरों की रचनाओं का मिश्रण है, या (२) स्वयं कबीर की ही भाषा तथा उनके भावों में कोई व्यवस्था नहीं है, अथवा (३) किसी कारण इनमें केवल बाहरी भेद और विरोध दिखाई पड़ता है, वस्तुतः उनमें मौलिक एकरूपता है। परंतु इन तीनों बातों में से किसी की भी सत्यता का निर्णय तो अध्ययन के साथ ही साथ हो सकता है, उसके पूर्व नहीं। अतः प्रथम यह देखना आवश्यक है कि उक्त ग्रंथों में रचनाओं के प्रबंधन का रूप, अर्थात् उनमें पद्यों के संकलन का नियम और क्रम क्या है।

प्रत्येक ग्रंथ में पद्यों की संख्या और क्रम इस प्रकार है—

बानी[१]	आदिग्रंथ	बीजक
साखी ८०८ (अंग ५९)	पद २२८ (रागु १६)	रमैनी ८४
पद ४०३ (राग १५)	सलोकु २३८	शब्द ११५
रमैणी ७		अन्य पद्य ३४
		साखी ३५३

इससे पता चलता है कि तीनों ग्रंथों में न तो पद्यों की संख्याएँ एक सी हैं और न उनका वर्गीकरण और क्रम। बानी में पहले साखी और अंत में रमैणी है, और बीजक में पहले रमैनी और अंत में साखी। 'ग्रंथ' में रमैनियाँ हैं ही नहीं, और बीजक में कहरा, चाँचर आदि ३४ अन्य पद हैं। बानी की साखियाँ अंगों में, तथा बानी और ग्रंथ के पद भिन्न-भिन्न रागों में विभक्त

१—बानी की हस्तलिखित प्रति के अंत में दिए गए योग मे रमैणी ७; साखी ८१०, अंग ५९; पद ४०२, राग १५ है। परंतु वास्तविक संख्या ऊपर के अनुसार है। क॰ ग्रं॰ में साखियों का योग ८०९ है, पर अंग १ सा॰ ७, अंग ४० सा॰ ४ मे दोहराई गई है, इससे वे ८०८ ही हुई।

हैं, पर ग्रंथ के सलोकु और बीजक के शब्दों का ऐसा कोई वर्गीकरण नहीं है। परंतु इन भेदों के रहते हुए भी इनमें इतना साम्य अवश्य है कि नाभादास ने जो 'हिंदू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी' का उल्लेख किया है उसके अनुसार इन तीन स्थूल भेदों के अंतर्गत तीनों ही ग्रंथों के समस्त पद्य आ जाते हैं; और चाहे संयोग से ही हो, पर बीजक में तो नाम और क्रम भी वही है—रमैनी, सबदी (शब्द), साखी। साखी और सलोकु में केवल नाम का अंतर है। शब्द गेय पद ही हैं। रमैनियाँ दोहे-चौपाइयों में हैं जिनमें कुछ चौपाइयों के बाद एक दोहा रखा हुआ है, यद्यपि सर्वत्र अनिवार्य रूप से नहीं। ये ग्रंथ में बहुत कम हैं, पर हैं अवश्य। वहाँ ये रमैनी नाम से न होकर रागों के ही अंतर्गत संकलित हैं। रहे बीजक के कहरा, चाँचर आदि, वे भी शब्द ही हैं, और भिन्न भिन्न रागों में गेय हैं। फुटकर ग्रंथों में कहीं कहीं उनको तथा रमैनियों को भी शब्द कहा गया है। जैसे शब्द कहरा, शब्द रमैनी आदि। ग्रंथ का पद (सं० क० गउड़ी ६०) 'विषय बाँचु हरि राँचु समझि मन बौरा हो' इत्यादि बीजक के दूसरे चाँचर का ही संक्षिप्त रूप है। इस प्रकार पद्यों के नाम भिन्न होने पर भी वे सब रमैनी, शब्द और साखी ही के अंतर्गत माने जा सकते हैं।

बानी में पद्यों की संख्या सबसे अधिक है और 'ग्रंथ' में सबसे कम। जब हम इन तीनों ग्रंथों के पद्यों का अलग अलग मिलान करते हैं तो विदित होता है कि उनमें केवल उनके वर्गीकरण और क्रम में ही अंतर नहीं है, अपितु पद्य भी सबमें एक ही अथवा एक ही रूप में नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि किसी संग्रह में उससे लघुतर संग्रह के सभी पद्य उसी रूप में अथवा कुछ हेरफेर से आ गए हों। उनमें समानता है, पर बहुत थोड़ी। वह भी ऐसी कि उनका ठीक ठीक मिलान करना भी बड़ा दुष्कर है, क्योंकि समान पद्यों में भी कदाचित् ही कोई अपने समग्र रूप में तीनों में मिलते हैं। ग्रंथ के प्रत्येक पद के आदि में उसके बीच से दो या चार चरण निकाल कर रख दिए गए हैं जिससे वे प्रथम पंक्ति के द्वारा पहचाने नहीं जा सकते। प्रत्येक

संग्रह में किसी पद्य में कुछ पंक्तियाँ दूसरे संग्रह से अधिक हैं तो किसी में कम, और कभी कभी तो केवल एक-आध ही पंक्तियाँ समान मिलती हैं। यह सब देखते हुए हम कह सकते हैं कि समान पदों की संख्या की दृष्टि से बानी और ग्रंथ में जितनी समानता है उतनी बीजक और बानी अथवा बीजक और ग्रंथ में नहीं। उदाहरणार्थ, साखियाँ छोड़कर बानी और ग्रंथ में लगभग १०० पद समान हैं, पर बानी और बीजक में केवल ४०। केवल १७ पद ऐसे हैं जो तीनों में समान कहे जा सकते हैं। उनकी सूची नीचे दी जाती है—

	क० ग्रं०		सं० क०		बीजक	
(१) पद	२७	गौड़ी	गउड़ी	४२	शब्द	११२
(२) ,,	३३	,,	,,	३६	,,	९२
(३) ,,	४१	,,	,,	७	रमैनी	६२
(४) ,,	५९	,,	आसा	८	शब्द	८४
(५) ,,	६७	,,	गौंड	१	रमैनी	७०
(६) ,,	८९	,,	गउड़ी	३९	शब्द	३६
(७) ,,	११७	,,	आसा	३१	,,	३५
(८) ,,	१३३	,,	गउड़ी	५१	,,	३८
(९) ,,	१४१	,,	,,	२९	,,	७९
(१०) ,,	१९३	,,	,,	५४	,,	१५
(११) ,,	२४१	आसा०	सारठ	२	,,	७३
(१२) ,,	२४५	,,	आसा	२७	,,	६०
(१३) ,,	२५९	,,	विभास	२	,,	९७
(१४) ,,	३११	केदारा	केदारा	४	,,	७२
(१५) ,,	३६०	भैंरू	सूही	२	,,	१०६
(१६) ,,	३८७	बसंत	बसंत	२	बसंत	१०
(१७) ,,	४७२	धनाश्री	धनाश्री	३	शब्द	१०३

परंतु जैसा कहा जा चुका है, इन सम पदों में भी पाठ में बहुत असमानता है। एक छोटे से पद के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा—

क० ग्रं०—पद ८९

हरि ठग जग कौं ठगौरी लाई, हरि कै बियोग कैसैं जीऊं मेरी माई ॥टेक॥
कौंन पुरिष को काकी नारी। अभिअंतर तुम लेहु बिचारी ॥
कौंन पूत को काकौ बाप। कौंन मरै कौंन करै संताप ॥
कहै कबीर ठग सौं मनमांनां। गई ठगौरी जग पहिचांनां ॥

सं० क०—गउड़ी ३९

कउनु को पूतु पिता को का को। कउनु मरै को देइ संतापो ॥
हरि ठग जग कउ ठगउरी लाई। हरि के बिओग कैसे जीअउ मेरी माई ॥
कउन को पुरखु कउन की नारी। इया तन लेहु सरीर बिचारी ॥
कहि कबीर ठग सिउ मनु मानिआ। गई ठगउरी ठगु पहिचानिआ ॥

बीजक—शब्द २६

हरि ठग जगत ठगौरी लाई। हरि बियोग कस जियहु रे भाई ॥
(को) काको पुरुष कवन काकि नारी। अकथ कथा जम दिष्टि पसारी ॥
(को) काको पुत्र कवन काको बापा। कोरे मरै को सहै संतापा ॥
ठगि ठगि मूल सभनि को लीन्हा। राम ठगौरी काहु न चीन्हा ॥
कहहिं कबिर ठग सों मन माना। गई ठगौरी जब ठग पहिचाना ॥

अंतर केवल बाह्य रूप में है

उक्त ग्रंथों में पदों की संख्या तथा उनके प्रबंधन में उपर्युक्त प्रकार से साम्य और वैषम्य देखकर ऐसा अनुमान होता है कि कबीर ने अपनी बानी की उन्मुक्त धारा को स्वयं किसी प्रकार के बाँध में सीमित नहीं किया। उसमें से जो जिसके घट में समाया वही उसने भर लिया। सामूहिक कल्याण की भावना

से कुछ संतों ने अपनी अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार बड़े बड़े बाँधों में भी उसका जल संचित किया और अपने ही ढंग से उसमें घाट-सोपान बनाए। उनमें जल वही है, पर भिन्न देशकाल में भिन्न व्यक्तियों द्वारा प्रवाह को स्वेच्छया मोड़ ले जाकर बाँध देने से जो अंतर हो सकता था वह उसमें भी है।

यदि कबीर ने स्वयं अपनी रचनाओं का विषय आदि के अनुसार कोई वर्गीकरण किया होता, या उनमें कोई क्रम रखा होता अथवा कम से कम इस प्रकार का वर्गीकृत और क्रमयुक्त कोई संग्रह उक्त ग्रंथों के संकलयिताओं के पास होता, तो निश्चय ही हम उनमें उसी के अनुसार एकरूपता पाते। अधिक से अधिक यह होता कि उनमें थोड़ा-बहुत पाठभेद पाया जाता, अथवा प्रक्षेप आदि के कारण पीछे के संग्रहों में पहले के पदों के अतिरिक्त कुछ अधिक पद मिल जाते। परंतु हुआ यह कि कबीर ने जो शब्द या पद गाए और जो साखियाँ कहीं, उन्हें जब भिन्न-भिन्न प्रांतों के शिष्यों और संतों ने अपनाया तो वाणी का तत्त्व वही रहने पर भी व्यक्तिगत प्रभाव से पाठ में, और देशगत प्रभाव से भाषा और उच्चारण में, अंतर पड़ गया। संग्रह के समय जिसको अपनी तथा अन्य संतों की स्मृति से जितने पद मिल सके उसने उतने ले लिए और उनका, जैसी सुविधा जान पड़ी और जैसा ठीक समझ पड़ा उसी के अनुसार, वर्ग और क्रम रख दिया। इसी कारण एक ही शब्द को कभी हम एक राग में तो कभी दूसरे राग में, और इसी प्रकार एक ही साखी को कभी एक अंग में तो कभी दूसरे अंग में संकलित पाते हैं। विशाल संगीत-संग्रह 'राग कल्पद्रुम' के रचयिता कृष्णानंद व्यास ने संपूर्ण बीजक को ही भिन्न-भिन्न रागों के भीतर संकलित कर लिया है। अतः उपर्युक्त तीनों ग्रंथों में भिन्न प्रबंधन-प्रणालियों को तीन भिन्न व्यक्तियों या शाखाओं की स्वतंत्र रुचि का परिणाम मानना अनुचित न होगा। यह कहना कि उनका संकलन कबीर के बहुत पीछे भिन्न-भिन्न कालों में होने के कारण ही उक्त भिन्नता संभव हुई, ठीक नहीं है। यदि तीनों का संकलन कबीर के जीवनकाल

में ही होना मान लिया जाय तो भी भिन्न हाथों में पड़कर उनकी वाणी की यही अवस्था हो सकती थी।

तीन परंपराएँ

उपर्युक्त विवेचन से यह भी सहज ही अनुभव किया जा सकता है कि कबीर कि मौखिक वाणी की तीन प्रधान परंपराएँ रही होंगी, उन्हीं से तीनों ग्रंथों के लिखित संग्रह प्रस्तुत हुए, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि मुख-परंपरा में प्रचलित समस्त पद इन्हीं संग्रहों में आ गए। उक्त परंपराएँ कौन-कौन सी थीं, यह कदाचित् अगले अध्याय में तीनों की भाषा के विवेचन के प्रसंग में स्पष्ट हो सके।

चौथा अध्याय

कबीर की भाषा और शुद्ध पाठ

कबीर के काव्य के मर्म तक पहुँचने के लिये उनकी भाषा को समझने की आवश्यकता है, और उनकी भाषा का स्वरूप क्या है यह जानने के लिये उनके ग्रंथ ही हमारे पास हैं। उन ग्रंथों की भाषा यद्यपि हिंदी ही है और मानी भी हिंदी ही जाती है, परंतु उसमें ऐसी व्यवस्था वा एकरूपता नहीं पाई गई है जिसके आधार पर उसे अवधी, व्रज आदि की भाँति कोई निश्चित नाम दिया जा सके, अथवा कम से कम उसे साहित्य की शिष्ट भाषा के भीतर समझा जा सके। उसकी विविधरूपता को देखकर सहसा यह भी निश्चय नहीं किया जा सकता कि वह कबीर के मुख से जिस रूप में निकली थी उसी रूप में वर्तमान है अथवा उसमें परिवर्तन हो गया है और यदि परिवर्तन हुआ है तो कितना और किस रूप में। कबीर के गंभीर और सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन की ओर प्रवृत्ति न होने के जहाँ अनेक कारण हैं वहाँ भाषा संबंधी यह कठिनाई भी एक मुख्य कारण है। अतः पहले इस बात का पता लगाना आवश्यक है कि यह भाषा संबंधी गड़बड़ी किस प्रकार की है और उसका मूल कारण क्या है।

भाषा में मिश्रण

कबीर की भाषा का विवेचन करते हुए कबीर-ग्रंथावली की प्रस्तावना में लिखा गया है—"कबीर में केवल शब्द ही नहीं, क्रियापद कारक चिह्नादि भी कई भाषाओं के मिलते हैं। क्रियापदों के रूप अधिकतर व्रजभाषा और खड़ी बोली के हैं। कारक चिह्नों में से कै, सन, सा आदि अवधी के हैं, कौ व्रज का है और थैं राजस्थानी का। यद्यपि उन्होंने स्वयं कहा है—'मेरी बोली

पूरबी' तथापि खड़ी, ब्रज, राजस्थानी, पंजाबी, अरबी-फारसी आदि अनेक भाषाओं का पुट भी उनकी उक्तियों पर चढ़ा हुआ है। 'पूरबी' से उनका क्या तात्पर्य है यह नहीं कह सकते। उनका बनारस-निवास पूरबी से अवधी का अर्थ लेने के पक्ष में है, परंतु उनकी रचना में बिहारी का भी पर्याप्त मेल है। यहाँ तक कि मृत्यु के समय मगहर में उन्होंने जो पद कहा है उसमें मैथिली का भी कुछ संसर्ग दिखाई देता है। यदि 'बोली' का अर्थ मातृभाषा लें और 'पूरबी' का बिहारी, तो कबीर के जन्म के विषय पर एक नया ही प्रकाश पड़ जाता है। उनका अपना अर्थ जो कुछ भी हो, पर पाई जाती हैं उनमें अवधी और बिहारी दोनों बोलियाँ।''

जहाँ तक कबीर की भाषा में बोलियों के मिश्रण का संबंध है, उपर्युक्त कथन की सत्यता असंदिग्ध है क्योंकि उसमें भिन्न भिन्न भाषाओं और बोलियों के अवयव स्पष्ट लक्षित होते हैं। इस विषय में बानी से लिए गए ये उदाहरण ध्यान देने योग्य हैं—

(१) कबीर कहता जात है, सुणता है सब कोइ।
राम कहे भला होइगा, नहितर भला न होइ॥—सा० २।१

(२) देखहु यहु तन जरता है।—पद ९४

(३) आऊँगा न जाऊँगा मरूँगा न जीऊँगा
गुरु के सबद में रमि रमि रहूँगा।—पद ३३१

(४) करणी किया करम का नास।—पद ३२९

(५) वेद बड़ा कि जहाँ थैं आया।—पद २७

(६) नहिं को ऊँचा नहिं को नीचा।—पद ४१

(७) भौ भ्रम भागा ऐसी भई।—पद ३२९

(८) एक अचंभा ऐसा भया।—पद ३२९

(९) सबद अतीत का मरम न जानै।—पद ३६

(१०) नहिं ब्रह्मंड प्यंड पुनि नाहीं पंच तत भी नाहीं।—पद ३२

(११) को बीनै प्रेम लागौ री माई को बीनै।—पद १९

(१२) मेरौ मन लागौ तोहि रे ।—पद ५
(१३) त्यूं रस आनि बनायौ री ।—पद १९
(१४) लेख्यो भोमि बहुत पछितान्यौ ।—पद ९७
(१५) कौन पूत को काकौ बाप ।—पद ८९
(१६) कौन पुरिस को काकी नारी ।—पद ८९
(१७) वाकी विधवा काहे न भई महतारी ।—पद १२५
(१८) यहु तत बार बार कासों कहिए ।—पद ३४
(१९) चोक कै रंगि धर्यौ सगौ भाई ।—पद २२६
(२०) घर जाजरौ बलींडौ टेढौं औलौती अरराइ ।—पद २२
(२१) मैं सब तन सोध्यौं डार डार—पद ३८८
(२२) ताना लीन्हां बाना लीन्हां लीन्हें गोड़ के पउवा—पद २०
(२३) तैसैं नाचत मैं दुख पावा—पद ७८
(२४) तौ पंडित का कथसि गियाना पद —पद ३८
(२५) जस तू तस तोहिं कोई न जान—४७
(२६) मांगै देइ न बिनै मान—पद ३८१
(२७) निबिया छोलि छोलि खाई—पद १७७
(२८) पंडित सेती कहि रहे कहा न मानै कोइ—सा० ९।१
(२९) प्रेम खटोलवा कसि कसि बांध्यौ—पद ७७
(३०) काहे बीहो मेरे साथी मैं हाथी हरि केरा—पद २६१
(३१) अनेक जतन करि सुरझिहौ पुनि पुनि उरझाई—पद १७८
(३२) पकरि बिलाई मुरगै खाई—पद ११
(३३) हरि जी इहै बिचारिया, साखी कहौ कबीर—सा० ३४।१
(३४) पहुप बिना एक तरवर फलिया—पद ६
(३५) मृतक उठ्या धनक कर लीयैं—पद ६
(३६) बीछड़ियाँ मिलिबौ नहीं, ज्यों कांचली भुवंग—सा० १२।९
(३७) भागा भरम एक ही कहताँ—पद ८

(३८) क्या जांणौं उस पीव कूँ कैसैं रहसी रंग । सा० ११।१६

(३९) ना जाणौं कहाँ मारिसी, कै घरि कै परदेस ।—सा० १२।१२

(४०) गौव्यंदे तुम थैं डरपौं भारी—पद ११२

उपर्युक्त उदाहरणों में १ से १० तक के रेखांकित क्रियापद, कारक-चिह्न तथा अन्य शब्द खड़ी बोली के हैं। ११ से २० तक व्रज के, २१ से ३२ तक अवधी के तथा ३३ से ४० तक राजस्थानी के। इन चारों के उदाहरण इसी प्रकार पूरी पुस्तक भर में बिखरे हुए मिलते हैं; और यह नहीं कि एक एक के उदाहरण एक एक या कुछ पूरे पदों में अलग अलग मिलें, वरन् प्रायः एक ही पद में सबके उदाहरण एक साथ मिल जाते हैं। अतः इनके आधार पर कोई यह नहीं कह सकता कि 'बानी' की भाषा खड़ी, व्रज, अवधी या राजस्थानी में से कोई एक है।

बिहारी (भोजपुरी) के उदाहरण कबीर ग्रंथावली में एक-आध ही हैं, पर हैं अवश्य। जैसे—

(१) त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल तब हमरो नांउ रामराई हो—पद ५०

(२) ना हम जीवत न मुवले मांहीं—पद ३३२

पद २५७-५८ फारसी के प्रभाव के स्पष्ट उदाहरण हैं—

रे दिल खोजि दिलहर खोजि ना परि परेसानी माहिं।
महल माल अजीज औरति कोई दस्तगीरी क्यूँ नाहिं ॥
पीरां मुरीदां काजियां मुलां अरु दरवेस।
कहाँ थैं तुम किनि किये, अकलि है सब नेस ॥२५७
हम चु बूद निबूद खालिक गरक हम तुम पेस।
कबीर पनह खुदाइ की रह दिगर दावा नेस ॥२५८

परंतु अन्यत्र अरबी-फारसी के शब्द अधिकतर केवल वही आए हैं जहाँ कबीर ने काजी, मुल्ला या मुसलमानी धर्म के विषय में कुछ कहा है। जैसे—साखी २२।८,९, ११ तथा पद ५८-६२, २५५, २५९ आदि में जोरी, जिबहै, हलाल, दफतर, जुलम, खालिक, सेख, सबूरी, हज, काबै, स्याबति,

करीमा, बिसमिल, पीर, पैकंबर, रोजा, निवाज, मसीति, सुनति (सुन्नत), कितेब, खलक, रहीम, पाक, दोजग (दोज़ख़), भिसति (बिहिश्त), मसकीन, मुरसिद इत्यादि। वैसे सब मिलाकर देखा जाय तो सामान्य रूप से अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। जैसे-–सदकै, मुहकम, जोर, हजूरी, खुसी, खजीना, मिहरि इत्यादि। अरबी-फारसी के पदों (व्याकरणसिद्ध रूपों) का तो सर्वथा अभाव ही है। तात्पर्य यह कि हिंदू-मुसलमान दोनों को एक करने का प्रयत्न करनेवाले कबीर की भाषा में विदेशी शब्दों का जितना मेल आज-कल की 'हिंदुस्तानी' के समर्थकों की दृष्टि से होना चाहिए उसका शतांश भी उसमें नहीं मिलेगा। जो थोड़े से शब्द आए हैं वे पूर्ण रूप से देशी साँचे में ढलकर।

यदि यह पूछा जाय कि उपर्युक्त भाषाओं में से कबीर की 'बानी' पर किस-का प्रभाव अधिक है तो कहना पड़ेगा कि भोजपुरी, पंजाबी अथवा अरबी-फारसी के पद वा शब्द इतने बिरल हैं कि वे सरलता से गिन लिए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त वे इस प्रकार मिले-जुले नहीं हैं जिससे सब मिला कर पूरे ग्रंथ की भाषा के स्वरूप पर कोई प्रभाव पड़ता हो। वास्तविक घाल-मेल खड़ी, ब्रज, अवधी और राजस्थानी का ही दिखाई देता है जिसके कारण भाषा के लक्षण स्थिर करने में भारी उलझन होती है। परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनमें से भी राजस्थानी का ही रंग सबसे अधिक गाढ़ा है। अथवा यों कहे कि खड़ी, ब्रज, अवधी और राजस्थानी का मिश्र रूप भी राजस्थानी के आवरण से ढका हुआ है। राजस्थानी के इस दूसरे प्रकार के प्रभाव का संबंध भाषा के रूप से कम, वेश से अधिक है। यथा—

अंबर कुंजां कुरलियां गरजि भरे सब ताल
जिनि पै गोविंद बीछुटे तिनके कौण हवाल॥ सा० ३।२
जे बेधे गुरु अष्विरां ते संसा चुणि चुणि खद्ध। सा० १।२२
सांची प्रीति विषै माया रूँ हरि भगतन सूँ हाँसी।
कहै कबीर प्रेम नहीं उपज्यौ बाँध्यौ जमपुर जासी॥ पद ४०

उपर्युक्त पंक्तियों में कुंजां कुरलियां (= कुंज कुरले), अष्यिरां (=अक्षरों से) और जासी (= जायगा) ये राजस्थानी रूप इस प्रकार छंदों में जमकर बैठे हुए हैं कि इन्हें हटाकर इनके स्थान पर खड़ी आदि के रूप रखना सरलता से सभव नहीं है। परंतु—

स्यंघ (=सिंह, पद ९)
स्यंत (= मीत, मित्र)
प्यंड (=पिंड, सा० ५।२०)
गोव्यंद (= गोविंद, पद १५)
ब्यंद (=विंदु, पद ५७)
च्यंतामणि (=चिंतामणि, सा० ५।१९)
उत्यम (उत्तिम, उत्तम, पद १३)
स्वांति (= शांति, पद १५)
अठ्यासी (=अठासी, पद १)
भिष्या (=भिक्षा, सा० ३०।४)
स्याबति (=साबित, सा० २०।११)
छयांड्या (= छोडा, पद ८२)
सुगन (=सगुन, पद २०)
कुबधि (कुबुधि, पद १६)
धनक (=धनुप, पद ६)
मूरिख (= मूरख, पद १६)
पुरिष (=पुरुष, पद १)
इब (=अब, पद ६५)
बबेकी (विवेकी, पद २९)
बदेस (=विदेस, पद १४)
सहत (सहित, पद ८७)

इस प्रकार के सैकड़ों शब्दों में, जिनके उदाहरण ढूँढने के लिये प्रयत्न की आवश्यकता नहीं, स्पष्ट रूप से राजस्थान का देश-प्रभाव केवल उच्चारणगत है। यही बात न के स्थान पर ण के बाहुल्य के संबंध में भी कही जा सकती है। जैसे कहाणी, बुणि, ताणौं-बाणौं, हूँण न देइ (होने नहीं देता) इत्यादि में।

इसके अतिरिक्त बहुत से शब्द और प्रयोग कबीर की बानी में ऐसे पाए हैं जो विशेषकर राजस्थानी में ही प्रचलित हैं। जैसे—

आमन धूमना (पद ३०२)
आधा-प्रधा (सा० १२।१५)
अपूठा (सा० १३।१)
डागल (सा० १२।५०)
कुंजां (सा० ३।२)
निवांणं (सा० १३।२२)
लार (सा० २२।१६)
छानां (सा० २९।१६)

इत्यादि। ऐसे शब्दों और प्रयोगों की एक लंबी सूची 'ढोला मारू रा दूहा' के संपादकों ने उक्त ग्रंथ के भाषा-विचार के प्रसंग में दी है जिसमें से दीठा, दाँधा (=दग्ध), द्रिढ, सेंती (= से), संसौ (= संशय), त (नाहिंत मौन रहब दिन राती–तुलसी) जैसे सामान्य शब्दों को छोड़कर अधिकांश अवश्य ही ऐसे हैं जो विशेष रूप से राजस्थानी के कहे जा सकते हैं।

जो कुछ भी हो, उक्त प्रकार से न्यूनाधिक मात्रा में कई भाषाओं के उदाहरण कबीर की बानी में मिलते हैं, यह प्रत्यक्ष है। अतः केवल किसी एक भाषा के लक्षण न मिलने के कारण उसे मिश्र भाषा कहना उचित हो सकता है। परंतु विचारणीय यह है कि इस तथ्य के आधार पर हम क्या क्या अनुमान कर सकते हैं और इससे कबीर की भाषा पर कहाँ तक प्रकाश पड़ता है। इस संबंध में स्वभावतः दो मुख्य प्रश्न उठते हैं। एक तो यह कि क्या उक्त मिली-जुली भाषा कबीर की है? और दूसरे यह कि उसके इस प्रकार मिली-जुली होने के कारण क्या हैं?

क्या उक्त भाषा कबीर की है?

उक्त भाषा कबीरदास की है या नहीं, इसका निर्णय करना सरल कार्य नहीं है, क्योंकि उसे कबीर की न मानने के पक्ष में दो प्रबल प्रमाण उपस्थित किए जाते हैं। एक तो यह कि 'बानी' कबीर के जीवनकाल की लिखी हुई नहीं है, उसमें दी हुई तिथि अविश्वसनीय है; और दूसरा यह कि बानी की भाषा में पंजाबीपन बहुत है जब कि काशी-निवासी कबीर की भाषा पूर्वी होनी चाहिए। परंतु पहली बात में वस्तुतः कोई विशेष तत्त्व नहीं है; क्योंकि जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है, किसी कवि के जीवन्काल में भी उसकी मौखिक वाणी देश और व्यक्ति-भेद से भिन्न-भिन्न वक्ताओं के मुख में पड़कर विकृत और परिवर्तित हो सकती है। दूसरी ओर किसी कवि के जीवन-काल में लिखी उसकी रचना के प्राप्त न होने को उसकी अप्रामाणिकता का कारण मानना व्यावहारिक नहीं है। इस प्रकार के प्रमाणों का आश्रय लेने से कबीर

की तो कोई रचना हाथ लग ही नहीं सकती, संभव है और भी कितने ही प्रसिद्ध कवियों की अमूल्य रचनाओं के महत्त्व पर संदेह उठ खड़ा हो। इस कारण यदि कोई कबीर की बानी को उसकी लिखित तिथि से कुछ पीछे की भी सिद्ध करे तो भी इस बात पर आग्रह करना व्यर्थ होगा कि वह उनके जीवन-काल की लिखी नहीं है अतः वह कबीर की नहीं हो सकती।

दूसरा प्रमाण अवश्य बलवान् कहा जा सकता है। यह बात सर्वमान्य है कि कबीर काशी निवासी थे। जो लोग उनका जन्म काशी में नहीं मानते वे भी यह स्वीकार करते हैं कि बाल्यावस्था से लेकर उनके जीवन का अधिक भाग काशी में ही बीता था। इसलिये अनायास ही यह धारणा हो सकती है कि कबीर की रचनाओं की भाषा काशी और उसके आस-पास की होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त कबीर ने स्वयं कहा है कि 'बोली हमारी पूरब की।' इसलिये उनकी भाषा पूरब की ही होनी चाहिए। परंतु जहाँ तक स्वयं कबीर की उक्ति का प्रश्न है, यह ध्यान रखना चाहिए कि कबीर जैसे आध्यात्मिक कवि की रचनाओं में से ऐतिहासिक तथ्य ढूँढ निकालने में बहुत सावधानी की आवश्यकता है। जहाँ सांप्रदायिक दृष्टि वाला व्यक्ति शुद्ध ऐतिहासिक प्रसंगों की नैरुक्तिक व्याख्या कर डालता है वहाँ केवल इतिहास पर दृष्टि रखने वाले व्यक्तियों से आध्यात्मिक प्रसंगों के भी ऐतिहासिक अर्थ करने की भूल हो सकती है। अतः ऐतिहासिक अर्थ वहीं ग्रहण करना उचित है जहाँ वैसा करने में युक्ति का विरोध न करना पड़े। कबीर के उपर्युक्त दोहे का पूरा रूप इस प्रकार है—

बोली हमरी पूर्व की हमैं लखै नहिं कोय।
हमको तो सोई लखै जो धुर पूरब का होय॥ (बी० सा० १९४)

इसका अर्थ सरल है। कबीर कहते हैं—"हमारी बोली पूरब की है, हम को कोई नहीं लखता। हमको तो वही लखता है जो धुर पूरब का हो।" फिर इसका दूसरा अर्थ ढूँढ निकालने की क्या आवश्यकता है? परंतु यहाँ प्रश्न यह है कि यदि पूरब का तात्पर्य पूर्व दिशा का कोई देशविशेष है तो वह

देश कौन-सा है, और वहाँ की बोली क्या है जिसे कोई नहीं समझ पाता ? फिर 'लखै' का और 'पूरब' के साथ 'धुर' लगाने का क्या विशेष प्रयोजन हो सकता है ?

कबीर काशी के थे तो पूरब का अर्थ काशी होना चाहिए। परंतु काशी में रहकर काशीवालों से ही वे क्यों कहने लगे कि मेरी बोली काशी की है, उसे कोई नहीं समझ सकता ? यदि पूर्वी से पूर्वी हिंदी अर्थात् अवधी का तात्पर्य लिया जाय तो अवधी भी काशी-वासियों के लिये दुर्बोध नहीं हो सकती। और यदि 'पहिले दरसन मगहर पायो पुनि काशी बसे आई' के अनुसार 'पूरब' से मगहर का अर्थ लें तो मगहर भी काशी से इतनी दूर नहीं है कि वहाँ की बोली समझने में कठिनाई हो। फिर दूसरी पंक्ति में 'धुर पूरब' भी कहा गया है जिसका अर्थ आजकल का 'फ़ार ईस्ट' तो हो ही नहीं सकता, अधिक से अधिक बिहार या बंगाल तक जा सकते हैं। परंतु विद्यापति ठाकुर मिथिला में ही मार्ग रोक देते है। कबीर के पहले ही उन्होंने मैथिली का जो रूप हमारे सामने उपस्थित कर दिया है उसे देखते हुए कबीर की भाषा मैथिली भी नहीं कही जा सकती, और अधिक पूर्व की तो बात ही क्या ? और जब काशी स्वयं पूर्व में गिनी जाती है तो वहाँ वालों के लिये पूर्व में मिथिला तक का प्रदेश 'धुर पूरब' और वहाँ की बोली 'किसी के न समझने योग्य' नहीं कही जा सकती। कबीर की रचनाओं की ऐसी भाषा है भी नहीं।

यदि यह कहा जाय कि कबीर कहीं गुजरात आदि धुर पश्चिम के प्रांतों में भ्रमण करते रहे होंगे, वहाँ वालों के ही सामने उक्त दोहा कहने की आवश्यकता पड़ी होगी, तो इसे मानने में भी दो बाधाएँ हैं। ऐसा प्रसिद्ध है और इसे मानने में कोई आपत्ति भी नहीं है कि कबीर ने पश्चिम के प्रांतों में भी भ्रमण किया था। परंतु जब उनकी बोली ही वहाँ कोई नहीं समझता था, तो जब तक हम कबीर को सरख् समझते हैं, यह किसी प्रकार मानते नहीं बनता कि वे फिर भी अपनी ही बोली बोले जाते थे और साथ साथ यह भी कहते थे कि हमारी बोली कोई नहीं समझता, हमारी बात केवल धुर पूरब

वाला ही समझ सकता है। दूसरे, कबीर के पदों और उपदेशों का थोड़े ही समय के भीतर पंजाब, राजस्थान, गुजरात और दक्षिण तक में जितना अधिक प्रचार हो गया था उसे देखते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि उनकी बोली कोई नहीं समझता था? वास्तविक बात तो यह है कि आज पाँच सौ वर्षों के बाद भी कबीर की वाणी को समझने में मुख्य कठिनाई पूर्व के किसी देश विशेष की भाषा के कारण नहीं, प्रत्युत पश्चिम (राजस्थान) की भाषा के कारण अधिक है। वस्तुतः कबीर को इसकी शिकायत थी ही नहीं कि उनके किसी देशविशेष की भाषा कोई नहीं समझता। वे तो कहते हैं—"हमैं लखै नहिं कोय।" इससे प्रकट होता है कि वे कोई ऐसी गूढ़ बात कह रहे थे जो साधारण लोगों के लिये अलक्ष्य थी। यह गूढ़ बात उनके अलौकिक अनुभव की कथा थी जिसके लिये उन्होंने कहा है—

'अनभै कथा कवन सूँ कहिए है कोई चतुर बबेकी।
कहै कबीर गुर दिया पलीता सो झल बिरलै देखी॥'

बानी, पद ८

इसी अकथ कहानी को बूझने के लिये वे कहते हैं—

इहि तत राम जपहु रे प्रानी बूझौ अकथ कहानी। —वही, पद ९

राम का मर्म कोई नहीं जानता। राम से परिचय की कथा इसीलिये सब को समझ में नहीं आती। इसी से कबीर कहते हैं—

कासूँ कहिए सुनि रामा तेरा मरम न जानै कोई जी। —वही, पद ३०

प्यारे राम मन ही (मन) माना।
कासूं कहूं कहन कौं नाहीं दूसर और न जाना॥ —वही, पद ५४

जब वे अपने भगवद्दर्शन या राम से परिचय के अलौकिक अनुभव को लौकिक वाणी में व्यक्त करते हैं तो अवश्य वह कभी-कभी ऐसी दुर्बोध हो जाती है कि उसके भाव को लख लेना सरल नहीं होता। यही उनकी पूरब की बोली, उनके हृदयाकाश का शब्द, उनका आध्यात्मिक अनुभव है। इस

मर्म को भली भाँति वही लख सकता है जो धुर पूरब का हो, उसी पथ का पथिक हो; स्वयं साधक हो, राम तक पहुँचा हुआ हो और कबीर की ही भाँति अनुभव कर चुका हो।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पूरब की बोली का अर्थ देशविशेष की भाषा नहीं, हृदय-देश में होने वाले आध्यात्मिक अनुभव की वाणी है। यह अर्थ प्रकरण में पूरा पूरा बैठ जाता है और कबीर की अन्य उक्तियों द्वारा भी इसकी पुष्टि होती है। किंतु केवल प्रकरण में बैठाने के लिये कोरे अटकल से खींचतान कर ऐसा अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं। ज्ञान वा अनुभव का उदय होने पर साधक की संपूर्ण सत्ता उसी प्रकार उद्‌भासित हो उठती है जैसे आकाश में सूर्योदय होने से बाह्य जगत का कण-कण प्रकाशित हो जाता है। अतः उस अलौकिक प्रकाश को व्यक्त करने के लिये साधक प्रायः अनुभव का उदय न कहकर सूर्योदय का ही वर्णन करता है। कबीर ने भी कहा है—

उद्या सूर निसि किया पयाना सोवत थैं तब जागा—(बानी, पद ६)

सूर्योदय प्राची में होता है और अनुभव हृदय मे, इस कारण अंतर्गगन में अनुभव-सूर्य के लिये हृदय को पूर्व दिशा कहना सर्वथा उपयुक्त है। इसी सादृश्य को लेकर सूर्योदय तथा पूर्व का उक्त अर्थ साधकों में रूढ़ भी हो गया और कबीर ने उसी रूढ अर्थ में 'पूरब' का प्रयोग किया है। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है—

पूरब दिसा हंस गति होई। है समीप संधि बूझै कोई॥

—बी० र० ५

अतः मेरी समझ में 'पूरब की बोली' से कबीर की भाषा का पता लगाने का प्रयत्न विशेष फलप्रद नहीं हो सकता।

अब यदि इस बात पर ध्यान देते हैं कि कबीर काशी के थे, तो यह मानने

में कोई बाधा नहीं दिखाई देती कि उनकी भाषा काशी की होनी चाहिए। पर इसका कोई अभिलेख प्राप्त नहीं कि कबीर के समय में काशी की बोली का रूप क्या था। संप्रति काशी की बोली भोजपुरी है जो पूर्वी भाषावर्ग में बिहारी के अंतर्गत मानी गई है। यह अधिकांश में पूर्वी अवधी से मिलती है, पर इसमें भूत कृदंत तथा सामान्य वर्तमान काल के क्रियारूपों में 'लकार' का प्रयोग, जो केवल पूर्वी वर्ग की भाषाओं की ही विशेषता है, अवधी से इसका मुख्य भेदक है। यथा—

सामान्य वर्तमान	भूत कृदंत
हम खाई ला (= हम खाते हैं)	हम खइली, खायल (= हमने खाया)
तू खाला (= तुम खाते हो)	तूं खइला (= तुमने खाया)
ऊ खाला (= वह खाता है)	ऊ खइलस (= उसने खाया)

काशी का घनिष्ठ संबंध बहुत प्राचीन काल से ही मगध से रहता आया है, अतः कबीर के समय में भी काशी की बोली भोजपुरी का ही प्राचीन रूप रही होगी। परंतु कबीर की बानी की भाषा भोजपुरी नहीं है, अतः वह कबीर की भाषा नहीं मानी जा सकती। परंतु यही बात ग्रंथ साहब तथा बीजक के संबंध में भी कही जा सकती है, क्योंकि उनमें से किसी की भाषा पूरी पूरी या प्रधानतः भी भोजपुरी नहीं है। इसके विपरीत तीनों में कुछ विभिन्नता होते हुए भी उनमें सामान्य रूप से एक मिली-जुली भाषा का प्रयोग पाया जाता है। इस खड़ी-ब्रज-अवधी-राजस्थानी मिश्रित भाषा का रूप कबीर की बानी में हम देख चुके हैं, ग्रंथ साहब और बीजक से भी कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

बीजक

झगरा एक बढ़ो राजाराम। जो निरुवारै सो निरबान॥
ब्रह्म बड़ा कि जहाँ थैं आया। वेद बड़ा कि जिनि उपजाया॥

(शब्द ११२)

कबीर भरम न भाजिया, बहु विधि धरिया भेख।
साईं के परचे बिना, अंतर रहि गई रेख॥ (सा० ४६)

चलते चलते पगु थका, नगर रहा नौ कोस। (सा० ५०)

काटे आम न मौरसी, फाटे जुरे न कान। (सा० ५६)

पानी पवन अकास जायँगे चंद जायँगे सूरा हो।
ये भि जायँगे वो भि जायँगे परत न काहु के पूरा हो॥ (कहरा ८)

संत कबीर

जगि जीवनु ऐसा सुपने जैसा जीवनु सुपन समानं।
सांचु करि हम गांठ दीन्ही छोडि परम निधानं॥
बाबा माइआ मोहि हित कीन्ह। जिनि गिआनु रतन हिरि लीन्ह॥
(आसा २७)

अंबर घनहरु छाइआ, बरषि भरे सर ताल।
चातक जिउ तरसत रहै तिनको कउन हवाल॥ (स० १२४)

कबीर इहु तन जाइगा, सकहु त लेहु बहोरि। (स० २७)

कीचड़ आटा गिरि परया, कछू न आयो हाथ।
पीसत पीसत चाबिया, सोई निबह्या साथ॥ (स० २१५)

कबीर थोड़े जल माछुली, भीतर मेल्यो जाल।
इह टोघनै न छूटसहि, फिरि करि समुदु सम्हालि॥ (स० ४९)

ऐसी अवस्था में दो ही बातें संभव हैं। या तो यह कि मिली-जुली भाषा ही कबीर की भाषा थी, काशी की बोली नहीं; अथवा काशी की बोली ही उनकी बोली थी, पर उन्होंने अपनी बानियों के लिये सामान्य रूप से उसका प्रयोग नहीं किया, यद्यपि कुछ पद उसमें अवश्य कहे। दूसरी ही बात अधिक संभव प्रतीत होती है।

क्या कबीर की भाषा सधुक्कड़ी है ?

पंडित रामचंद्र शुक्ल ने कबीर की भाषा को 'कुछ पंजाबी लिए राजस्थानी' कहा है (इतिहास, पृ० ६७) और बीजक की भाषा के संबंध में लिखा है—"इसकी (साखी की) भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी-पंजाबी मिली खड़ी बोली है, पर 'रमैनी' और 'सबद' में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है।" (वही, पृ० ९८)।

सधुक्कड़ी का अर्थ उन्होंने अन्यत्र अधिक स्पष्ट किया है—

"कबीरदास ने यद्यपि पंचरंगी मिली-जुली भाषा का व्यवहार किया है जिसमें ब्रजभाषा क्या उस खड़ी बोली या पंजाबी तक का पूरा पूरा मेल है जो पंथवालों की सधुक्कड़ी भाषा हुई पर पूरबी की झलक उसमें अधिक है।"

(बुद्धचरित भूमिका, पृ० १६)

वहीं सधुक्कड़ी भाषा पर निम्नलिखित टिप्पणी दी हुई है—

"खड़ी बोली मुसलमानों की भाषा हो चुकी थी। मुसलमान भी साधुओं की प्रतिष्ठा करते थे, चाहे वे किसी दीन के हों। इससे खड़ी बोली दोनों धर्मों के अनपढ़े लोगों को साथ लगानेवाले और किसी एक के भी शास्त्रीय पक्ष से संबंध न रखनेवाले साधुओं के बड़े काम की हुई। जैसे इधर अंगरेजी के काम की हिंदुस्तानी हुई।"

यह सधुक्कड़ी भाषा कबीर को नाथपंथियों से मिली थी—

"...कबीर आदि संतों को नाथपंथियों से जिस प्रकार 'साखी' और 'बानी' शब्द मिले उसी प्रकार साखी और बानी के लिये बहुत कुछ सामग्री और सधुक्कड़ी भाषा भी।" (इतिहास पृ० २६)

सधुक्कड़ी भाषा का निर्माण इस प्रकार हुआ था—

"जैसा पहले कहा जा चुका है इस पंथ (नाथपंथ) का प्रचार राजपूताने तथा पंजाब की ओर ही अधिक रहा। अतः जब मत के प्रचार के लिये इस पंथ में भाषा के भी ग्रंथ लिखे गए तब उधर की ही प्रचलित

भाषा का प्रयोग किया गया। उन्हें मुसलमानों को भी अपनी बानी सुनानी रहती थी जिनकी बोली अधिकतर दिल्ली के आसपास की खड़ी बोली थी। इससे उसका मेल भी उनकी बानियों में अधिकतर रहता था। इस प्रकार नाथपंथ के इन जोगियों ने परंपरागत साहित्य की भाषा या काव्य-भाषा से जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या व्रज का था, अलग एक सधुक्कड़ी भाषा का सहारा लिया जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था।" (इति०, पृ० २२)

सारांश यह कि सधुक्कड़ी उन साधुओं की भाषा है जो हिंदू-मुसलमान दोनों धर्मों के अपढ़ लोगों को अपना अनुयायी बनाना चाहते थे। यह देश की परंपरागत सामान्य काव्य-भाषा से भिन्न और राजस्थानी-पंजाबी-व्रज-अवधी-खड़ी मिश्रित भाषा है। खड़ी बोली का मेल इसमें विशेष रूप से मुसलमानों के लिये किया गया था, क्योंकि वे पहले ही इसे अपना चुके थे और सरलता से इसे समझ सकते थे। कबीर ने इसका प्रयोग किया पर उन्होंने स्वयं इसका निर्माण नहीं किया, यह उन्हें नाथपंथियों से मिली।

कबीर की भाषा में खड़ी, व्रज, राजस्थानी आदि का मेल है, यह हम बराबर देखते आ रहे हैं। पर इसका सधुक्कड़ी नाम मुख्यतः यह सूचित करता है कि यह सामान्य काव्य-भाषा से अलग साधुओं की कृत्रिम भाषा है। कम से कम इसका 'क्कड़ी' प्रत्यय इसकी साधुता का व्यंजक तो नहीं है। तो क्या यह ऐसी ही भाषा है ? इसे समझने के लिये पहले सामान्य भाषा के रूप को समझना आवश्यक है।

सामान्य भाषा का रूप

सामान्य भाषा का अर्थ वह भाषा है जिसका प्रचार किसी एक वर्ग या प्रदेश में सीमित न होकर समान रूप से कई वर्गों या प्रदेशों में हो। ऐसी भाषा होने का यह तात्पर्य नहीं होता कि तत्तद् भिन्न प्रदेशों में वहाँ की विशेष

भाषाएँ प्रयुक्त नहीं होती। इसके विपरीत सामान्य भाषा का अस्तित्व ही देशभाषाओं के भिन्न अस्तित्व की सूचना देता है। ऐसी भाषा के दोनों रूप एक साथ प्रचलित रह सकते हैं—बोलचाल और साधारण व्यवहार वाला रूप भी और साहित्यिक अथवा काव्यप्रयुक्त रूप भी। वर्तमान समय में राजस्थान, व्रज, बुंदेलखंड, अवध और उसके पूर्व के स्थानों में वहाँ की देशी बोलियाँ प्रचलित हैं, पर उनके होते हुए भी वहाँ एक सामान्य भाषा हिंदी (खड़ी बोली) का प्रयोग होता है। यह खड़ी बोली उन प्रदेशों में साहित्य में भी प्रयुक्त होती है और साधारण लिखा-पढ़ी, भाषण-व्याख्यान आदि में भी। इसके दोनों रूप तत्त्वतः एक ही होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों में कुछ भी अंतर नहीं है। बोलचाल की भाषा में मुखसुख प्रयोग की बहुत कुछ स्वाधीनता रहती है, और उसे नित्य नए शब्दों और रूपों को ग्रहण करने में बहुत संकोच नहीं होता; इस कारण उसमें स्थिरता और एकरूपता कम होती है। दूसरी ओर काव्य में प्रयुक्त भाषा आरंभ में बोलचाल की ही भाषा होने पर भी, अपनी एकरूपता की रक्षा में प्रयत्नशील रहने के कारण धीरे धीरे स्थिर होती जाती है। वह अपने भाव और शब्द दोनों के लिये अपने प्राचीन कोश पर अधिकाधिक निर्भर होती जाती है। बोलचाल की भाषा जहाँ वर्तमान पर खड़ी होकर भविष्य की ओर भी दृष्टि पसारती है वहाँ साहित्य की भाषा कभी-कभी भूत से इस प्रकार चिपक जाती है कि उसे वर्तमान की भी सुधि नहीं रहती। ऐसी अवस्था में साहित्य की भाषा बोलचाल की भाषा से कभी-कभी इतनी दूर जा पड़ती है कि नवीन विचार वाले लोगों के लिये वह अग्राह्य क्या, असह्य तक हो जाती है; और तब बोलचाल की सुबोध और सजीव भाषा की माँग और पुकार तेज हो जाती है। इस प्रकार फिर एक बार व्यवहार और साहित्य की, लोक और शास्त्र की, वाणी को एक होना पड़ता है। परंतु न बोलचाल की 'प्राकृत' अपनी बदलने की प्रकृति बदल सकती, न साहित्य की 'संस्कृत' अपने स्थिर होने की। इसलिये कालांतर में फिर दोनों एक दूसरे से दूर हो जाती हैं। यही क्रम चलता रहता है।

साहित्यारूढ संस्कृत के बाद प्राकृत, फिर उसके साहित्यारूढ होने पर अप-भ्रंश और उसके भी संस्कृत और व्याकृत हो जाने पर आधुनिक देशभाषाओं का प्रभाव इसी शाश्वत क्रम की कहानी है।

परंतु इसमें ध्यान देने की मुख्य बात यह है कि यद्यपि बोलचाल की ही भाषा समय पाकर साहित्यारूढ और संस्कृत हो जाती है, तथापि जब तक वह अपना यह पद नहीं प्राप्त कर लेती तब तक साहित्य की भाषा जो उस समय तक रूढ़ और 'शिष्ट' हो चुकी रहती है, अपनी प्राचीनता के गर्व में उसका तिरस्कार और बहिष्कार ही करती है, अपने प्रभाव-क्षेत्र के भीतर उसके पैर नहीं जमने देती। कुछ समय पूर्व, जब खड़ी बोली अपने वर्तमान पद की अधिकारिणी नहीं हुई थी तो व्रजभाषा से होड़ करने में उसे ऐसी ही मुसी-बत का सामना करना पड़ा था। और पहले, कभी व्रज और अवधी की भी ऐसी अवस्था थी कि गोस्वामी तुलसीदास जैसे सिद्ध महाकवि को 'भाखा भनित' के लिये सकुचाना पड़ रहा था। अपभ्रंश बेचारी का तो साहित्यारूढ होने पर भी नाम-कलंक नहीं मिटा। जो प्राकृत एक समय संपूर्ण देश की काव्यभाषा हो गई थी उसी को संस्कृत वैयाकरणों द्वारा पहले 'अपभ्रष्ट' पदवी मिली थी। तात्पर्य यह कि प्राकृत, अपभ्रंश, भाखा—तीनों एक समय सर्वमान्य हुईं और साहित्यिक भाषा के चिरधर्म के अनुसार उन्होंने अतीत के मोह में वर्तमान से नाता तोड़ा और साथ ही अपने अधिकारपूर्ण पद से भी। परंतु उम्मेदवारी की अवस्था में तीनों ही खड़ी बोली की भाँति बहुत दिनों तक साहित्य में असाधु और अशिष्ट समझी जाती रहीं।

इस दृष्टि से कबीर की भाषा भी उस समय की रूढ़ काव्य-भाषा के सामने 'असाधु' कही जा सकती है। परंतु न तो वह केवल साधुओं की भाषा है और न कई भाषाओं को मिला-जुला कर 'बनाई' हुई। यह भी उतनी ही प्राकृत है जितनी उस समय की अन्य देशभाषाएँ। भेद केवल यह है कि अन्य देशभाषाएँ अपने सीमित प्रदेशों की बोलियाँ थीं, पर कबीर की भाषा यद्यपि काव्य में प्रयुक्त 'पुरानी हिंदी' नहीं थी फिर भी उसी की भाँति गुजरात से

बिहार तक और पंजाब से दक्षिण तक बोली और समझी जाती थी। पंद्रहवीं शती में वह आजकल की हिंदी खड़ी बोली का प्रतिनिधित्व कर रही थी। इसी से कबीर ने बनारस की बोली में कुछ पद कहकर भी सामान्य रूप से उस प्रचलित लोकभाषा में ही अपनी बानियाँ कहीं। वह उस समय की कृत्रिम हिंदुस्तानी नहीं, प्रकृत अपभ्रंश की ही सगी बेटी थी।

किसी भाषा का मिली-जुली होना सदैव उसके कृत्रिम होने का ही लक्षण नहीं होता, स्वाभाविक रूप से विकसित सामान्य भाषा भी मिश्र हो सकती है—अथवा कुछ समान लक्षणों के आधार पर वैसी समझी जा सकती है। सामान्य भाषा किसी देशविशेष की बोली भी हो सकती है जो राजनीतिक, धार्मिक या व्यापारिक आदि कारणों से सार्वदेशिक बन जाती है। उस रूप में वह अपने विस्तार-क्षेत्र की प्रादेशिक भाषाओं से भी अवश्य प्रभावित होती है। परंतु उसमें केवल कुछ समान लक्षणों के मिलने से उसे 'मिश्र' भाषा कहना उचित या आवश्यक नहीं। वे उसी भाषा के सामान्य लक्षण कहे जा सकते हैं। उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

व्रजभाषा में 'ने' के साथ सकर्मक क्रिया में भूत कृदंत का प्रयोग खड़ी बोली के समान पाया जाता है और आहि, कहै, चलै आदि वर्तमान के तथा लीन्ह, कीन्ह, दीन्ह आदि भूतकाल के क्रियापद अवधी के समान मिलते हैं तथा उसका 'हतो' (= था) गुजराती में भी प्रचलित है; परंतु इससे व्रजभाषा मिश्र नहीं कही जाती। व्रजभाषा ओकार-बहुला है और खड़ी आकारबहुला। व्रज में एकवचन में कहा जायगा—'मेरो घोड़ो आयो' और खड़ी में—'मेरा घोड़ा आया।' किंतु राजस्थानी में प्राकृत की भाँति (प्रा०—ए० व० बच्छो, ब० व० बच्छा) वचन-भेद से आकार और ओकार दोनों चलते हैं। जैसे एकवचन—'म्हारो घोड़ो आयो; ब० व०—'म्हारा घोड़ा आया।' इससे राजस्थानी में व्रज और खड़ी के मिश्रण का भ्रम हो सकता है। कबीर की भाषा में मुख्यतः खड़ी, व्रज, राजस्थानी और अवधी के रूप मिलते हैं। परंतु उस अपभ्रंश भाषा में भी जो

संपूर्ण भारत की सामान्य काव्यभाषा थी, इन सब के बीज पाए जाते हैं। यह इसीलिये कि वह सामान्य भाषा थी। महाराष्ट्री प्राकृत में शौरसेनी, मागधी, पैशाची और अपभ्रंश से जो समानता है उसके कारण हेमचंद्र ने उसे इन सबका मिश्रण (या खिचड़ी) न कहकर उसे ही आधार माना और उसी के सामान्य लक्षण बतलाकर अन्य भाषाओं के केवल उससे भिन्न लक्षणों का ही उल्लेख किया।

रूढ़ काव्यभाषा नहीं, किंतु परंपरा से छिन्न नहीं

कबीर की भाषा में व्रज और अवधी के लक्षण मिलना विलक्षण नहीं माना जाता, क्योंकि कबीर के बाद भी बहुत इधर तक हिंदी काव्य में इनका व्यापक रूप से मिला-जुला प्रयोग पाया जाता है। खड़ी बोली और राजस्थानी के रूपों के कारण ही वह काव्य-भाषा की परंपरा से पृथक् मानी जाती है। खड़ी के मिश्रण का कारण साधुओं द्वारा मुसलमानों के बीच मत-प्रचार की आवश्यकता बतलाई गई है। परंतु नाथ-पंथियों या कबीर, दादू आदि संतों की भाषा में ऐसी कोई बात नहीं मिलती जिससे कहा जाय कि खड़ी बोली का मिश्रण उसमें मुसलमानों के लिये ही किया गया अथवा उसे मुसलमानों के समझने योग्य बनाने का कोई विशेष प्रयत्न किया गया। ऐसा होता तो उसमें अरबी-फारसी शब्दों की बहुलता होती। और यदि मुसलमान देशी भावों और शब्दों को समझ सकते थे तो खड़ी बोली को मिलाने की आवश्यकता ही न थी। अपने परंपरागत अर्थगर्भित देशी शब्दों, रूढ़ संकेतों और आध्यात्मिक भावों के कारण जब यह भाषा हिंदुओं के लिये भी कठिन पड़ती रही होगी तो केवल आइहौं, गयौ, जरै, सुणै आदि रूपों को आऊँगा, गया, जरता है, सुणता है आदि कर देने से ही वह अपढ़ मुसलमानों के लिये कैसे विशेष रूप से सरल हो जा सकती थी? यह बात ठीक है कि मुसलमानों ने खड़ी बोली को अपना लिया था, परंतु वे उसे अपने साथ बाहर से नहीं लाए थे; और यदि वे न आए होते तो भी, वह तो अपने विकासमार्ग पर जा ही

रही थी। यदि संतों को प्रचार करना ही था तो जैसे हिंदुओं के लिये उन्होंने व्रज, राजस्थानी, अवधी और पंजाबी का प्रयोग किया, वैसे मुसलमानों के न रहने पर भी हिंदुओं के लिये ही उन्हें खड़ी बोली का प्रयोग करना पड़ता। परंतु वास्तविक बात यही प्रतीत होती है कि मुसलमानों के दिल्ली में जमने से पूर्व ही एक सामान्य भाषा का विकास उसी प्रकार होता आ रहा था जैसे अन्य देशभाषाओं का। नाथपंथियों ने राजस्थानी-पंजाबी का पुट देकर उसे 'बनाया' नहीं, प्रत्युत उसके प्रचलित रूप में ही उसे ग्रहण किया। यद्यपि यह उस समय की शिष्ट और साधु कही जानेवाली काव्यभाषा नहीं है, तथापि इसका ढाँचा नया नहीं, परंपरा से चली आती हुई काव्यभाषा का ही है। पुरानी काव्यभाषा खड़ी बोली से अपरिचित नहीं थी, यह शुक्ल जी के कथन से भी स्पष्ट है—

"पुरानी हिंदी की व्यापक काव्यभाषा का ढाँचा शौरसेनीप्रसूत अपभ्रंश अर्थात् व्रज और खड़ी बोली (पच्छिमी हिंदी) का था।"

(इति०, पृ० २४)

सधुक्कड़ी नहीं, खड़ी-दखिनी का पूर्व रूप

यदि कबीर की भाषा को कोई नाम देना आवश्यक हो तो उसे सधुक्कड़ी की अपेक्षा खड़ी कहना अधिक सार्थक होगा, क्योंकि यदि उसमें से कोई रूप फूट रहा है तो वह खड़ी बोली का। इनके अतिरिक्त खड़ी बोली का खरापन भी उसमें पूर्ण मात्रा में वर्तमान है। खड़ी के साथ-साथ जो और और रूप भी उसमें लिपटे हुए हैं वह किसी भी ऐसी सामान्य भाषा के लिये स्वाभाविक है जो नई-नई साहित्य में प्रयुक्त हुई हो और जो बोलचाल की भाषा से अभिन्न-प्राय हो। 'अहले ज़बाँ' साहित्यिकों और वैयाकरणों के बहुत प्रयत्न करने पर भी साहित्य की भाषा में से वह अस्थिरता सर्वथा नहीं मिट जाती जो वह साहित्य में अपने साथ बोलचाल की भाषा से ले आती है। इसका प्रमाण

वैदिक से लेकर आज तक की सभी साहित्यिक भाषाएँ हैं। इसी कारण व्याकरण के नियमों के साथ अपवादों की सूची लग जाया करती है। कबीर की अव्याकृत, बोलचाल से अभिन्न भाषा में इस अस्थिरता और विविधरूपता का होना और भी अधिक स्वाभाविक है।

खड़ी में ब्रज रूप

खड़ी में ब्रज के रूप पहले ही से लगे चले आ रहे थे, यह खड़ी बोली का पहला कवि माने जानेवाले मुसलमान कवि खुसरो की 'हिंदवी' से भी विदित होता है। उसमें खड़ी और ब्रज में भेद किया हुआ प्रतीत नहीं होता। यह एक ध्यान देने की बात है कि जिस दखिनी भाषा को उर्दू वाले अपना आधार मानते हैं उसका रूप कबीर की भाषा से मिलता-जुलता है और उसमें ब्रज और अवधी के अतिरिक्त राजस्थानी के भी भूत और भविष्यत् काल के क्रियारूप, अकारांत संज्ञाओं के आकारांत बहुवचन रूप तथा सूँ, कूँ, थैं आदि विभक्तियाँ बराबर पाई जाती हैं। यह बात भी लक्ष्य करने की है कि दखिनी में 'करना' क्रिया का विचित्र वर्तमान कृदंत रूप 'कीता' भी कबीर की भाँति (सरजी आनैं देह बिनासैं माटी बिसमल कीता-बानी पद ६२) पाया जाता है। दखिनी कवि वजही (सं० १६६८) की कविता के निम्नलिखित उदाहरण ध्यान देने योग्य है—

१—लग्या शाह उसासां भरन आह मार।
कि नजदीक नईं है वह गुनवंत नार॥
२—किसे कउं कि मुज इश्क उसका अहै।
वही जाने मुझ इश्क जिसका अहै॥
३—सूरज यूं है रंग आसमानी मने।
कि खिलिया कमल फूल पानी मने॥
४—सुराही पियाले सूँ हमदस्त हो।
करां फिरते थे दो दोनों मस्त हो॥

५—बजाओ जो कएं तौ उठे गायकर ।
सरे मरतबा हो खुशी पायकर ॥

६—ना पूछूँ बहमन जोयसी कब पिउ सूं मिलना होयसी ।

७—एक ताथँ सहेली मरना दिल दूजे पर न धरना ।
उस पिउ सूं अपना करना इस पापी जिउ कूँ खोयकर ॥

८—खाना बिरह कीती हूँ मैं पानी अनभौ पीती हूँ मैं ।

९—बिरहा यूँ संताता मुंजे तुज बाज तिल तिल रे पिया ।

१०—नबी की दुआ थैं बरस गाँठ पाया । (मुहम्मद अली कुतुबशाह)
—"उर्दू सहपारे"

दखिनी के उक्त नमूनों को देखकर निश्चय होता है कि कबीर की भाषा ही दखिनी से होती हुई आधुनिक हिंदी की ओर विकसित हुई है। यदि दखिनी खड़ी बोली का पूर्वरूप है तो कबीर की भाषा को दखिनी का पूर्वरूप कहा जा सकता है। आज की सँवरी हुई खड़ी बोली धीरे धीरे ही सँवरकर इस रूप में आई है, भाखापन इसमें से हाल ही में दूर हुआ है और उसके लिये प्रयत्न करना पड़ा है। सोयकर, खायकर, जावैंगे (बहुरि हम काहे को आवहिंगे-कबीर) आदि रूप तो अभी कल तक इसमें लगे चले आ रहे थे; अब ये साधु प्रयोग नहीं रह गए। सच पूछा जाय तो खड़ी बोली का इतिहास कबीर की भाषा और दखिनी की उपेक्षा करके पूरा नहीं हो सकता।

खड़ी बोली का मुख्य लक्षण उसकी आकारबहुलता है। कबीर की भाषा में आकारांत रूप कम नहीं मिलते; हाँ, उनके साथ साथ ओकारांत रूप भी मिलते हैं। परंतु खड़ी बोली का एक अन्य मुख्य लक्षण है सकर्मक क्रिया के भूत कृदंत रूप के साथ कर्ता में 'ने' का प्रयोग। यह उसमें नहीं पाया जाता। परंतु इस कारण से उसका रूप पहचानने में बाधा नहीं पड़नी चाहिए,

क्योंकि 'ने' का प्रयोग न होने पर भी कर्म के अनुसार क्रिया का लिंग-वचन, जो 'ने' के प्रयोग की आवश्यक शर्त है, उसमें खड़ी बोली के समान पाया जाता है—

१–मैं रनि रासी जे निधि पाई। —बानी, पद २

२–दखिन कूट जब सुनहा बोला तब हम सुगन विचारा —पद २०

३–पकड़ि बिलाई मुरगै खाई—पद ११

दखिनी में भी 'ने' का प्रयोग नहीं होता, और साथ ही उसमें यह भी विचित्रता है कि पूर्वी भाषाओं की भाँति सकर्मक भूत कृदंत मूलक क्रिया का रूप भी कर्ता के अनुसार पाया जाता है। जैसे—

१–शहंशाह मजालिस किए एक रात।

२–पिउ अपने कूं टुक आज मैं निस सपने देखी सोयकर।

सकर्मक भूत कृदंत के साथ कर्ता में 'ने' का प्रयोग खड़ी की भाँति ब्रज का भी लक्षण माना जाता है, परंतु वह सर्वत्र नहीं पाया जाता। यथा—

सूरदास

१—सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातनि भुरई राधिका भोरी।
२—मेरे नैना विरह की बेलि बई।
३—सूर पवन मिलि निठुर विधाता चपल कियो जल आनि।
४—मनो बराह भूधर सह पृथिवी धरी दसनन की कोरी।

घनानंद

१—मीत सुजान अनीति की पाटी इते पै न जानिए कौन पढ़ाई।
२—छाती लै विरह घाती कीने जैसे हाल हैं।

बिहारी

चढ़ी हिंडोरे पै रही, परी परी सी टूटि।
धरी धाय पिय बीच ही, करी खरी रस लूटि॥

ब्रज और खड़ी के विपरीत अवधी में 'ने' होता ही नहीं। यह माना जाता है कि सकर्मक भूतकाल की क्रिया में कृदंत रूपों के प्रयुक्त होने पर भी न तो उसके साथ कर्ता में करण का स्मारक रूप 'ने' आता है और न कर्म के अनुसार क्रिया का लिंग-वचन बदलता है। परंतु जायसी के निम्नलिखित उदाहरणों से प्रकट है कि 'ने' के अभाव में भी कर्म के अनुसार क्रिया के लिंग-वचन में परिवर्तन होता है—

१—केइ यह बसत बसत उजारा।
२—राजै पुनि पूछी हँसि बाता।
३—जौ तुम तप साधा मोहिं लागी।
४—घर घर चीर रचे सब काहू।
५—कहाँ सो नागमती तैं देखी।
६—नगर एक हम देखा, गढ़ चितउर ओहि नांव।
७—राजा कर भल मानहु भाई। जेइ हम कहँ यह भूमि देखाई।
८—नागमती जासौं दुख कहा।
९—हीरामन जो कही यह बाता।

इन उदाहरणों को देखते हुए खड़ी बोली दखिनी जायसी की अवधी की अपेक्षा अधिक पूर्वी है, परंतु इस कारण यह पूर्वी में नहीं गिनी जाती। कबीर में यदि 'ने' का अभाव है तो सकर्मक भूत-कृदंत क्रिया के कर्म के अनुसार होने के कारण वह दखिनी की अपेक्षा अधिक पछाँही है। अतः केवल 'ने' का अभाव उसके खड़ी बोली होने में बाधक नहीं होना चाहिए।

कबीर में अन्य भाषाओं के पद

अब इस बात पर भी विचार करना आवश्यक है कि कबीर में जो कुछ पद फारसी, पंजाबी, राजस्थानी और पूर्वी के मिलते हैं वे क्या उनके रचे हो सकते

हैं ? कबीर की बानी में से राजस्थानी और फारसी के उदाहरण पहले दिए जा चुके हैं। ग्रंथ साहब में एक-आध पद पंजाबी के हैं। यथा—

पेवकड़े दिन चारि है साहुरड़े जाणा।
अंधा लोकु न जाणई मूरखु एआणा॥

कहु डडिया बाँधै धन खड़ी। पाहू घरि आए मुकलाऊ आए॥
(सं० क०, ग० ५०)

अनभउ किनै न देखिआ बैरागीअड़े।
बिन भै अनभै होइ वणाहंबै॥
सहुह दूरि देखै ता भउ पवै बैरागीअड़े।
हुकमै बूझै त निर्भउ होइ वणाहंबै॥
(सं० क०, मा० ८)

बीजक में यों तो बीच बीच में पूर्वी का पुट मिलता ही है, कुछ पदों की भाषा प्रायः पूरी पूरी पूर्वी है। जैसे—

दाँत गयल मोर पान खात। केस गयल मोर गंग नहात॥
(बसंत ४)

इसी प्रकार बसंत ५, ६, ११, १२ और कहरा ११ आदि में भी। तो क्या ये अन्य देशभाषाओं के पद कबीर के नहीं है ? इन्हें कबीर कृत मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। इन पदों की रचना न कबीर की प्रवृत्ति के विरुद्ध कही जा सकती है, न उसके सामर्थ्य के बाहर। काशी में रहते हुए और बाहर भ्रमण में कितने ही साधु-फकीरों से उनका परिचय और सत्संग होता रहा होगा, उनके संसर्ग से उनकी भाषाओं का जानना कबीर जैसे प्रतिभावान् व्यक्ति के लिये कोई बड़ी बात न थी। यह सर्वथा संभव है कि भिन्न-भिन्न प्रांतों की बोलियाँ बोलनेवाले संतों के अनुरोध से, अथवा केवल मन की मौज में ही, कबीर कभी-कभी उनकी भाषाओं में कुछ पद कहते रहे हों। पूर्वी से

आत्मीय परिचय होने के कारण उसमें उन्होंने पंजाबी आदि की अपेक्षा अधिक पद कहे। एक ही छंद में दो भिन्न भाषाओं के चरण मिलाकर रचना करने की प्रवृत्ति तो कई कवियों में पाई जाती है। इसी प्रकार एक भाषा में रचना करते करते कुछ पद दूसरी भाषा में कह डालने की प्रवृत्ति भी। कबीर के लगभग १०० वर्ष पूर्व की शार्गंधरपद्धति का यह श्लोक तो काफी प्रसिद्ध हो चुका है—

नूनं वादल छाइ खेह पसरी निःश्राण शब्दः खरः।
शत्रुं पाड़ि लुटालि तोड़ि हन्सिौं एवं भणन्त्युद्भटाः॥
झूठे गर्व भरा मघालि सहसा रे कंत मेरे कहे।
कंठे पाग निवेश जाह शरणं श्रीमल्लदेवं विभुम्॥

संस्कृत और हिंदी के इस विचित्र मिश्रण के साथ उसी समय के लगभग खुसरो की फारसी-हिंदी मिश्रित रचना के भी नमूने प्राप्त हैं—

ज़िहाले मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल दुराय नैना बनाय बतियाँ।
किताबे हिजरां न दारम् ऐ जाँ न लेहु काहे लगाय छतियाँ॥

उसी समय के मैथिल-कोकिल विद्यापति जी इस प्रकार की अवहट्ट-

तिहुँअन खेत्तहिं कान्हि तसु किन्ति वल्लि पसरेइ।
अक्खर खंभारम्भओ मंचो बंध न देइ॥

लिखते लिखते किस प्रकार बीच-बीच में कहीं कहीं एक दम बोलचाल की भाषा तक उतर आते हैं, यह उनकी 'कीर्तिलता' में देखा जा सकता है—

पहिल नेवाला खाइ जाइ मुँह भीतर जबहीं।

× × ×

हिंदू तुरके मिलल बास, एकक धम्मे अओका उपहास।
कतहुँ बाँग कतहुँ बेद, कतहुँ मिसमिल कतहुँ छेद॥

× × ×

गोरि गोमठ पूरिल मही, पएरहु देना कै ठाम नहीं ।
हिंदू बोलि दुरहि निकार छोटेओ तुरुका भभकी मार ॥

इस प्रकार अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, पर यहाँ केवल एक और मनोरंजक उदाहरण गोस्वामी तुलसीदास जी से देना पर्याप्त होगा। तुलसीदास जी ने हिंदी काव्य में प्रचलित किसी शैली या परिपाटी को अपनी लेखनी से अछूता नहीं छोड़ा, फिर कबीर को ही वे कैसे छोड़ देते ? पहले कबीर का एक कहरा देखिए—

रामनाम भजु रामनाम भजु चेति देखु मन माहीं हो ।
× × ×
ई संसार असार को धंधा अंतकाल कोई नाहीं हो ।
उपजत बिनसत बार न लागै जौं बादर की छाँही हो ॥
नाता गोता कुल कुटुंब सब इन्ह करि कवन बड़ाई हो ।
कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु बूड़ी सब चतुराई हो ॥
(बी० क० ५)

और फिर गोस्वामी जी का निम्नलिखित पद—

राम कहत चलु राम कहत चलु राम कहत चलु भाई रे ।
नाहिं तो भव बेगारि महँ परिहौ छूटत अति कठिनाई रे ॥
बाँस पुरान साज सब अटखट सरल तिकोन खटोला रे ।
हमहिं दिहल करि कुटिल कमरचंद मंद मोल बिनु डोला रे ॥
× × ×
मारग अगम संग नहिं संबल नाउँ गाउँ कर भूला रे ।
तुलसिदास भवत्रास हरहु अब होहु राम अनुकूला रे ॥
(विनय० पद १८९)

इसमें कबीरदास की शैली पूरी पूरी उतर आई है। सरल (=पड़ा हुआ) और दिहल (=दिया)—ये पूर्वी प्रयोग भी विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों को देखते ए कबीरदास के पंजाबी, पूर्वी आदि के पद् कोई असाधारण बात नहीं हैं।

पंजाबी, राजस्थानी और पूर्वी का अतिरिक्त प्रभाव

कबीर की बानी में राजस्थानी के, ग्रंथ साहब में पंजाबी के और बीजक में पूर्वी के जो कुछ पद मिलते हैं उनके अतिरिक्त भी तीनों ग्रंथों पर व्यापक रूप से क्रमशः उक्त तीनों भाषाओं का हलका पुट दिखाई देता है। यह प्रभाव निश्चय ही तीन भिन्न प्रांतों के उच्चारण और लिपिभेद के कारण है।

बानी की हस्तलिखित प्रति नागरी में है। यह कबीर के किसी राजस्थानी शिष्य या भक्त की लिखी हुई थी; इसी से, जैसा पहले दिखाया जा चुका है, इसमें राजस्थानी के उच्चारण का व्यापक प्रभाव है। बानी की अन्य प्रति-लिपियाँ भी राजस्थानियों द्वारा की गई, और नागरी लिपि में। सं० १८८१ वाली प्रति दादूपंथियों की लिखी हुई है। सं० १८५५ वाली प्रति राजपूताने के निरंजन-पंथियों का संग्रह है, इसका लिपिस्थान जयपुर का खारड्या ग्राम है। इससे यही सूचित होता है कि 'बानी' कबीर की राजस्थानी या पश्चिमी परंपरा का ग्रंथ है।

आदिग्रंथ पंजाबियों द्वारा गुरुमुखी लिपि में लिखा गया। उसमें सर्वत्र माइआ (माया), किआ (क्या), कउ (को) जैसे शब्दों के रूप तथा राजस्थानी की भाँति ण की बहुलता पंजाबी उच्चारण और गुरुमुखी लिपि के कारण है।

बीजक की कोई प्राचीन हस्तलिखित प्रति न प्राप्त होने तथा मुद्रित संस्करणों में जानबूझ कर संशोधन किए जाने के कारण उसकी भाषा पर पूरा पूरा भरोसा करना कठिन है, परंतु फिर भी पूर्वी का रंग उसपर अलक्ष्य नहीं है। बीजक की जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं वे कैथी लिपि में लिखी हुई हैं। संयुक्त प्रांत के पूर्वी भाग और बिहार में अब भी इस लिपि का प्रयोग

होता है। यह प्रसिद्ध ही है कि कबीरदास के शिष्य भगवानदास के पास बीजक का संग्रह था। संभवतः वे बिहारी थे, इसी से बीजक लेकर उसी ओर भागे थे। बीजक उन्होंने पहले-पहल कैथी लिपि में लिखा होगा। इसलिये उसपर पूर्वी का प्रभाव स्वाभाविक है। प्रचलित बीजक मुख्यतः सिद्धांत ग्रंथ है। संभव है यह केवल सिद्धांत संग्रह की दृष्टि से किसी मूल विशाल संग्रह से संकलित किया गया हो।

तीन मुख्य परंपराएँ

इस प्रकार कबीर के तीन ग्रंथ अपने प्रबंधन और भाषा द्वारा कबीर की वाणियों की तीन मुख्य परंपराओं या शाखाओं की सूचना देते हैं—पश्चिमी, पूर्वी और उत्तरी।

शुद्ध पाठ का संपादन

कबीर के तीनों ग्रंथों के प्रबंधन तथा भाषा के संबंध में विचार करने से अभी तक उनका जैसा रूप हमारे सामने आया है उससे भली भाँति समझा जा सकता है कि कबीर की वाणी का, जैसा उन्होंने कहा उसी रूप में, कोई संग्रह संपादित करना वर्तमान अवस्थाओं में कठिन ही नहीं असंभव है। कारण यह है कि एक तो तीनों में से कोई भी कबीर की लिखी नहीं है, इनमें उनकी वाणी तीन भिन्न-भिन्न लेखकों के मुख और लेखनी से होकर आई है। दूसरे ये तीनों ग्रंथ एक ही ग्रंथ की तीन प्रतिलिपियाँ नहीं है, तीनों तीन परंपराओं के स्वतंत्र ग्रंथ हैं। जैसा हम तीसरे अध्याय में देख चुके हैं, इनमें समान पदों की संख्या बहुत कम है और उनमें भी साधारण पाठभेद ही नहीं, पंक्तियों का क्रमभेद और न्यूनाधिक्य भी है। इसका एक उदाहरण यहाँ दे देना आवश्यक प्रतीत होता है—

क० ग्रं० पद १३३

हरि बिन भरम बिगूते गंदा।
जापैं जाऊँ आपनपौ छुड़ावण ते बीधे बहु फंधा ॥ टेक ॥
जोगी कहैं जोग सिधि नीकी और न दूजी भाई।
लुंचित मुंडित मोनि जटाधर ऐ जु कहैं सिधि पाई॥
जहां का उपज्या तहां बिलाना हरिपद बिसर्‍या जबहीं।
पंडित गुनी सूर कवि दाता ऐ जु कहैं बड़ हमहीं॥
वार पार की खबरि न जानी फिर्‍यौ सकल बन ऐसैं।
यहु मन बौहिथ के कऊवा ज्यूं रह्यौ ठग्यौ सौ बैस॥
तजि बांवैं दांहिणै विकार हरिपद दिढ़ करि गहिए।
कहै कबीर गूंगै गुड़ खाया बूझै तौ का कहिए॥

सं० क० गउड़ी ५१

जोगी कहहि जोगु भल मीठा अवरु न दूजा भाई।
रुंडित मुंडित एकै सबदी एइ कहहि सिधि पाई॥
हरि बिनु भरमि भुलाने अंधा।
जापहि जाउ आपु छुटकावनि ते बाधे बहु फंधा ॥१॥
जह ते उपजे तही समानी इहि बिधि बिसरी तबही।
पंडित गुणी सूर हम दाते एहि कहहि बड़ हमही ॥२॥
जिसहि बुझाए सोई बूझै बिनु बूझे किउ रहीऐ।
सतिगुरु मिलै अंधेरा चूकै इन विधि माणकु लहीयै ॥३॥
तजि बावे दाहने बिकारा हरिपदु द्रिड़ु करि रहीऐ।
कहु कबीर गूंगै गुड़ु खाइआ पूछे ते किआ कहीयै ॥४॥

बीजक श० ३८

हरि बिनु भरम बिगुरचै गंदा।
जहँ जहँ गयो अपनपौ खोयो तेहि फंदे बहु फंदा॥

जोगी कहै जोग है नीको दुतिया अवर न भाई।
चुंडित मुंडित मौनि जटाधर तिनहुं कहां सिधि पाई॥
ज्ञानी गुनी सूर कवि दाता ई जो कहहिं बड़ हमहीं।
जहँइ से उपजे तहँइ समाने छूटि गयल सभ तबहीं॥
बाँये दहिने तजो विकारा निजु कै हरिपद गहिया।
कहहिं कबिर गूँगे गुर खाया पूछे से का कहिया॥

ऐसी अवस्था में वैज्ञानिक और व्यावहारिक यही जान पड़ता है कि तीनों ग्रंथों का उनके मूल पृथक् रूप में अध्ययन किया जाय। इसके लिये तीनों का अलग अलग शुद्ध पाठ होना आवश्यक है।

शुद्ध पाठ के संपादन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि मूल ग्रंथों में जो त्रुटियाँ दिखाई पड़ें उनका संशोधन कर दिया जाय। वस्तुतः ग्रंथ का रचयिता स्वयं लिखने में भूल कर जाय तो भी न्याय यही है कि उसके पाठ की ज्यों-के-त्यों रूप में रक्षा की जाय। लिपि संबंधी त्रुटियों के कारण उत्पन्न होने वाले अर्थ भ्रम को दूर करने के लिये संपादक उनका संकेत पृथक् रूप से कर सकता है, पर मूल पाठ में संशोधन और परिवर्तन की स्वतंत्रता स्वीकार करने से इसकी कोई सीमा न होने के कारण अनंत पाठभेद होकर ग्रंथ का रूप ही समाप्त हो जा सकता है, और फिर वैसी अवस्था में अध्येताओं को उसपर विश्वास करने के लिये कोई आधार ही नहीं रह जाता। यही कारण है कि कबीरपंथियों द्वारा मान्य होने पर भी बीजक को अध्ययन के लिये प्रामाणिक मानने में विद्वानों को संकोच होता है। बीजक की प्राचीन प्रामाणिक प्रति प्राप्त नहीं, और जो लोग उसको रखने का दावा करते हैं वे एक मूल पाठ और अन्य पाठांतरों का स्पष्ट उल्लेख न कर मूल पाठ में ही संशोधन कर देते हैं। इसलिये पंथ के बाहर का कोई व्यक्ति अधिक से अधिक यही कर सकता है कि बीजक के मुद्रित संस्करणों में से जो अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक जँचे उसे आधार माने और अन्यों को पाठ-भेद। परंतु बीजक का अधिक

से अधिक प्रामाणिक समझा जानेवाला भी मुद्रित पाठ उपर्युक्त कारण से प्राचीन मूल पाठ के अभाव में बानी और आदिग्रंथ की अपेक्षा कम ही प्रामाणिक होगा, यह उसके मुद्रित संस्करणों के अनुशीलन से विदित हो सकता है।

आदिग्रंथ का मुद्रित संस्करण इसलिये प्रामाणिक माना जाता है कि सिक्ख लोग मूल ग्रंथ की प्रतिलिपि या प्रतिमुद्रण में शुद्धता का बहुत ध्यान रखते हैं। हिंदी की प्राचीन पुस्तकों के प्रतिलिपिकारों का भी यही दावा रहा है कि 'जो देखा सो लिखा', पर वे मानते हैं कि उनसे भूलें हो सकती हैं, इसलिये साथ ही यह भी कहते हैं कि 'भूला चूका सोधियो'। अतः यह कहना अनावश्यक है कि उनसे प्रायः भद्दी भूलें हुई हैं। इसका यह मतलब नहीं कि आदिग्रंथ के मुद्रित संस्करण में भी कुछ भूलें होनी ही चाहिएँ, पर उत्तम तो यही हो कि आदिग्रंथ की मूल हस्तलिखित प्रति से ही पाठ लिया जाय। परंतु उसके अनुपलब्ध होने की अवस्था में उसका मुद्रित संस्करण ही मान्य है।

कबीर ग्रंथावली के परिशिष्ट अथवा 'संत कबीर' के संकलयिताओं ने यह उल्लेख नहीं किया है कि उन्होंने कबीर का पाठ आदिग्रंथ की किस प्रति से लिया है। 'ग्रंथ' का नागरी प्रत्यक्षर भाई मोहनसिंह वैद्य (तरन तारन, अमृतसर) ने वि० १९८४ में प्रकाशित कराया था। इसमें शब्दों को पृथक् न करके मूल ग्रंथ की समूची पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं। क० ग्रं० के परिशिष्ट में ग्रंथ में दी हुई कबीर की उन १९२ साखियों और २२२ पदों का नागरी में (शब्द तोड़कर) संग्रह है जो क० ग्रं० में नहीं आए। पर 'ग्रंथ' का सबसे सुंदर नागरी संस्करण सर्वहिंद सिक्ख मिशन (अमृतसर) का है। यह भी मूल का नागरी प्रत्यक्षर है पर इसमें शब्द तोड़कर अलग अलग दिए हैं, अतः हिंदी पाठकों के लिये यह विशेष उपादेय है। संत कबीर में भी उसके संपादक और टीकाकार की प्रतिज्ञा के अनुसार "तत्त्वतः गुरुमुखी लिपि में लिखे गए कबीर के पदों का देवनागरी लिपि में प्रतिबिंबवत् रूपांतर है।"

सिक्ख मिशन के संस्करण से साम्य के कारण हमने भी सं० क० को क० ग्रं० के परिशिष्ट से अधिक शुद्ध माना है और इसी का उपयोग किया है।

क० ग्रं० में यत्र-तत्र साधारण त्रुटियों को छोड़कर 'बानी' का पूरा पाठ सुसंपादित है और आधारभूत दोनों हस्तलिखित प्रतियाँ भी काशी नागरी-प्रचारिणी सभा में सुलभ हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, इन तीन ग्रंथों के अतिरिक्त भी ऐसे बहुत से पद हैं जो कबीर के कहे जा सकते हैं और जो पूर्वोल्लिखित तीनों शाखाओं के भिन्न-भिन्न मुद्रित तथा अमुद्रित ग्रंथों एवं संतों की स्मृति में सुरक्षित हैं, पर उन्हें प्रक्षिप्त पदों से पृथक् करना तथा उनके मूल पाठ का पता लगाना टेढ़ी खीर है। पर जितने अंशों में यह कार्य संभव है उसके लिये जाँच की कोई कसौटी उक्त तीन ग्रंथों की ही भाषा और भाव-परंपरा के अध्ययन द्वारा स्थिर की जा सकती है। भाषा का विवेचन इस अध्याय में हो चुका है; भाव-परंपरा आदि पर विचार अगले अध्यायों में किया जायगा।

लिपिदोष और पाठांतर

ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीनतम पाठ को शुद्धतम मान लेने पर भी यह नहीं भूला जा सकता कि प्राचीनतम पाठ में भी लिपिदोष हो सकते हैं और उनके कारण कभी-कभी अर्थ समझने में बड़ी कठिनाई उपस्थित हो जाती है। ऐसी अवस्था में मूल पाठ की रक्षा प्रथम कर्तव्य होने पर भी अर्थोद्घाटन की दृष्टि से 'संभव' शुद्ध पाठ का पृथक् संकेत कर देना कर्तव्य का उल्लंघन नहीं है। कवि के अर्थ को समझने के लिये ही तो मूल पाठ की रक्षा की जाती है। कोई अर्थ न निकलने पर भी, मूल पाठ अशुद्ध मालूम होने पर भी, उसी को अर्थ निचोड़ने के लिये अजागलस्तन की भाँति व्यर्थ ऐंठते रहना और पाठांतरों से संकेत मिलने पर भी संभव शुद्ध पाठ की ओर संकेत न करने का आग्रह करना कर्तव्य-पालन का अंग नहीं कहा जा सकता। लिपि की शुद्ध भूलें तो मूल पुस्तक में ही हो सकती हैं, पर प्रतिलिपिकार कभी तो सचमुच भूल कर

जाते हैं और कभी मूल शब्द को न पढ सकने या उसका अर्थ न समझने के कारण जान-बूझकर उसमें संशोधन या परिवर्तन कर देते हैं। पाठांतरों की तुलना से इसका पता लगाया जा सकता है—

मूल	पाठांतर
(१) बानी पद ६-सारंग श्रीरंग धार रे।	गुटका १८५५—मारंग श्रीरंग धार रे।
(२) ,, १३-चूल्है अगनि बताइ करि।	,, ,, —चूल्है अगनि जलाइ करि।
(३) ,, ३८५-कहि कबीर उबरे द्वै तीनि।	,, ,, —कहि कबीर उबरे द्वै दीन
(४) ,, २५९-बंदे ऊपरि मिहर करौ मेरे साईं।	बी० श० ९७—जिन्ह पर मेहर होहु तुम साँईं। (पूरनदास) जन पर मेहर होहु तुम साईं (विचारदास) सं० क० वि० प्र० २—तू करि मिहरामति साईं।
(५) ,, पद ८—औलौठीका चव्या बलींडे।	गुटका— औलौती का चव्या बरेंडे।
(६) ,, २५९ —क्या तु जू जप मंजन कीयें।	बी० श० ९७—क्या वजू जपमंजन कीये। (पूरनदास) का ऊजू जप मंजन कीन्हें। (विचारदास)

उदाहरण (१) में 'सारंग' का 'मारंग' स्पष्टतः शीघ्रता में भूल से लिखा गया मालूम होता है। (२) में 'अगनि बताइ करि' ठीक न बैठने के कारण

लिपिकार ने 'बताइ' की जगह 'जलाइ' कर दिया है। परंतु ठीक यह मालूम होता है कि 'बताइ' की जगह 'बुताइ' था, पश्चिमी उच्चारण के कारण भूल से उकार छूट जाने से 'बताइ' हो गया है। अग्नि के साथ 'बताइ' का मेल न देख उसे 'बलाइ' समझ पीछे 'जलाइ' कर दिया गया। परंतु ऐसा करने से अर्थ बिलकुल उलटा हो गया। (३) को हम पाठांतर का शुद्ध उदाहरण मान सकते हैं। 'द्वैतीनि' और 'ह्वैदीन' दोनों में यद्यपि पहला अधिक शुद्ध जान पड़ता है, पर दोनों ठीक हो सकते हैं। उदाहरण (४) में चारों पाठों को मिलाने पर 'जन पर मिहर करौ मेरे साईं' पाठ शुद्ध जान पडता है।

(१) से (४) तक के उदाहरणों में पाठांतरों की अपेक्षा मूल ही अधिक शुद्ध है, यह स्वाभाविक है। पर कहीं-कहीं मूल का अर्थ लगाने में पाठांतर ही सहायक होते हैं। जैसे (५) में मूल के 'औलौठीका' में अनुमान ही लगाना पड़ता है पर पाठांतर को देखने से वह 'औलौती का' ही ठीक जान पड़ता है जो सीधे अर्थ को खोल देता है। इसी प्रकार (६) में 'तु जू' का कोई अर्थ नहीं निकलता। पाठांतरों से संकेत मिलने पर पता चल जाता है कि यह 'तु जू' नहीं, 'उजू' ही होना चाहिए। हस्तलेखों में 'उ' का रूप 'उ' और 'तु' का 'तु' इस प्रकार पाया जाता है। दोनों में बीच की एक रेखा का अंतर है। संभव है मूल के लिपिकार ने भूल से 'उ' में एक रेखा अधिक लगा दी हो, अथवा यह भी असंभव नहीं कि उसने 'उजू' का अर्थ न समझ सकने के कारण उसे अशुद्ध मान लिया हो और उसे 'तु जू' करके अपनी समझ से उसे शुद्ध कर दिया हो।

कबीर के शुद्ध पाठ के संपादन के किसी भी प्रयत्न में उपर्युक्त बातों का ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक है।

पाँचवाँ अध्याय

कबीर के सिद्धांत और उनकी साधना-पद्धति

कबीर का यद्यपि साधकों और भक्तों में बहुत ऊँचा स्थान है और उनकी विशेष ख्याति तथा पृथक् पंथ से उनकी मौलिकता सूचित होती है, तथापि उनकी साधना और सिद्धांतों के संबंध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कबीर की साधना-पद्धति एवं विचार-परंपरा भारतीय थी अथवा अभारतीय, श्रुति-सम्मत और शास्त्रीय थी या अवैदिक और उच्छास्त्र,* अथवा वह कुछ थी भी या नहीं, इस संबंध में अनेक विद्वत्तापूर्ण विचार प्रकट किए गए हैं। एक प्रबल पक्ष यह भी है कि कबीर ने अनेक देशी तथा विदेशी मतों और मार्गों से जो जो अच्छा लगा उस-उसका संग्रह करके एक नया पंथ खड़ा किया और वह भी बेमेल; उनके विचारों में किसी प्रकार की संगति और सामंजस्य नहीं है। ऐसी धारणा का मुख्य कारण यह है कि कबीर की रचनाओं में परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाली उक्तियों की बहुलता पाई जाती है। उनमें कहीं ज्ञान की प्रधानता है तो कहीं भक्ति की अनन्यता; कहीं निर्गुण ब्रह्म की उपासना है तो कहीं सगुण परमात्मा की भक्ति और कहीं सगुण-निर्गुण दोनों से अतीत परब्रह्म की स्तुति; कहीं योग की प्रशंसा की गई है तो कहीं उसी की निंदा; इत्यादि। परंतु मेरा यह विश्वास है कि यदि थोड़ी देर के लिये 'अपढ़' और 'जुलाहा' कबीर को भूलकर किंचित् धैर्य और मनोनिवेश के साथ उनकी उक्तियों का अनुशीलन किया जाय तो यह निश्चित रूप से स्पष्ट हो जायगा कि उनकी साधना-पद्धति सर्वथा असंगत सिद्धांतों का बेमेल ढाँचा ही नहीं है, उसमें कुछ सामंजस्य भी है और सार भी।

---

* उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति पौरुषं द्विविधं मतम्। ([illegible])

निर्णय में सावधानी की आवश्यकता

कबीर की साधना-पद्धति के सम्यक् बोध के लिये यह आवश्यक है कि उसे भारतीय साधना-परंपरा की भूमिका में रखकर देखा जाय। इसके विना उनके विरोधात्मक विचारों के विषय में पूरा पूरा समाधान नहीं हो सकता।

परंतु ऐसा करने से पहले कबीर की उक्तियों के आधार पर उनकी साधना-पद्धति का एक ढाँचा खड़ा करने का प्रयत्न उचित होगा। इस प्रयत्न में उनके अत्यंत गूढ़ पदों अथवा उलटवाँसियों से उलझना अनिवार्य नहीं, क्योंकि उनके विचारों को जानने के लिये उनके सीधे-सादे पदों की संख्या कम नहीं है। पर यह अवश्य है कि जो लोग कबीर से एक पूर्ण व्यवस्थित पद्धति की आशा रखते और उसे तर्क की कसौटी पर कसना चाहते हैं उन्हें कबीर की साधना-पद्धति पर विचार करते समय यह भूलना न चाहिए कि कबीर दर्शनशास्त्री नहीं थे; वे पहले संत और साधक थे, पीछे और कुछ। इस कारण शास्त्रीय और सुसंहित रूप में अपने विचारों को शृंखलित करने की आशा उनसे हमें नहीं करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बुद्धि और तर्क के बल से स्वमत की व्याख्या एवं स्थापना करनेवाले दार्शनिक पंडित भी यद्यपि परपक्ष में असंगति दिखलाकर उसका खंडन करके ही स्वमत की स्थापना करते हैं, तथापि आज तक कोई मत तर्क की कसौटी पर सोलह आने खरा उतर गया हो, इसमें संदेह ही है। यह बात दूसरी है कि प्रबल परपक्ष के अभाव में कोई मतविशेष किसी देशकाल विशेष में अद्वितीय बना रहे। परंतु फिर भी इससे किसी मौलिक विचारक के ज्ञान की महत्ता में तिलमात्र भी कमी नहीं हो सकती।

कबीर की साधना के स्वरूप तथा तत्संबंधी सिद्धांतों को जानने के लिये स्वयं कबीर के ही वचन सर्वोत्तम प्रमाण हो सकते हैं। परंतु उनके आधार पर अपना मत निश्चित करने में एक बड़ी कठिनाई यह है कि कबीर के पद मुक्तक रूप में हैं, और स्वयं कबीर द्वारा निर्धारित उनका कोई ऐसा क्रम

नहीं है जिसमें उनका अपनी पद्धति को व्यवस्थित रूप में प्रकट करने का कोई प्रयत्न दिखाई पड़े। यही कारण है कि किसी एक पद में किसी विषय की निंदा वा प्रशंसा देखते ही सहसा उनके सिद्धांतों पर कोई निर्णय देने में भ्रम होने की पर्याप्त संभावना रहती है। केवल एक-आध पद से, चाहे वे कितने ही प्रभावमय हों, यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि उनमें कौन-सा विषय अंग है और कौन-सा अंगी। विशेषतः जब एक पद में एक विषय की प्रशंसा हो और दूसरे में दूसरे की, और अन्यत्र उन दोनों की निंदा हो तो उसके विषय में कोई मत स्थिर करना तो दूर रहा, कबीर के संबंध में प्रतिकूल निर्णय देने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रह जाता। अतः यह आवश्यक है कि समान और विरुद्ध पदों की तुलना बहुत सावधानी से की जाय और उन्हीं में प्रधान रूप से कथित तथा अभ्यास, फल, उपपत्ति आदि से पुष्ट सिद्धांतों का पता लगाया जाय।

कबीर भक्तिमार्गी हैं

कबीर ने अपने पदों, साखियों और रमैनियों में बार-बार भक्ति की महिमा का वर्णन किया है और संतों, मुमुक्षुओं तथा संसार के दुःखी जनों को भगवान की भक्ति करने की सलाह दी है। उनके कथन के अनुसार भक्ति के बिना जीवन व्यर्थ है, भगवान के भजन के बिना कहीं भी सुख नहीं प्राप्त हो सकता।[१] हरिभक्ति के बिना संसार में जीने को धिक्कार है क्योंकि सार वस्तु केवल हरिभक्ति ही है, सांसारिक जीवन को तो धुएँ के धरहरे की भाँति नष्ट होते देर नहीं लगती।[२]

कबीर की दृष्टि में भक्ति का इतना महत्त्व है कि उसके बिना वे संसार में

१—भगति बिनु बिरथे जनमु गइओ।
साध संगति भगवान भजन बिनु कही न सचु रहिओ॥ सं० क०, ग० ५९

२—कबीर हरि की भगति बिन, ध्रिग जीमण संसार।
धूंवां केरा धौलहर, जात न लागे बार॥ बा० सा० १२।२७

किसी को भी निर्मल (माया या कर्ममल रहित) नहीं समझते ।[१] संसार के साधारण प्राणी ही नहीं ब्रह्मा, इंद्र, सूर्य, चंद्र आदि सब मैले हैं, निर्मल हैं केवल राम और राम के भक्त ।[२] यदि कोई बाह्य शुद्धता के द्वारा अपने को निर्मल बनाना चाहे तो यह असंभव है । हरिभक्ति के बिना न हृदय का मल शुद्ध होगा; न मुक्ति मिलेगी ।[३] हाँ, यदि हरि की शरण में जाय तो कोटि कोटि कर्म क्षण भर में ही नष्ट हो जाते हैं ।[४] रामनाम का आश्रय न लेने के कारण ही यह संपूर्ण जगत् माया से अंधा बना हुआ है ।[५] हरिभजन का प्रताप तो ऐसा है कि उससे नीच लोग भी उच्च पदवी प्राप्त कर लेते हैं और पतित से पतित मनुष्य भी भवसागर के पार उतर जाते हैं ।[६] जो मनुष्य हरिभजन से विमुख रहते हैं वे नरक में पड़ते हैं ।[७] इसीसे कबीर कहते हैं कि सब कुछ त्याग कर केवल राम को भजो ।[८] ऐसा करने ही से यमराज से छुटकारा मिल सकता है ।[९] वही कुल उत्तम है जिसमें हरि का भक्त उत्पन्न

१—यहु संसार सकल है मैला राम कहै ते सूचा । बा० प० १२९

२—सं० क०, मैं० ३

३—गगातीर जु घरु करहि, पीवहि निरमल नीरु ।
बिनु हरिभगति न मुकति होइ, इउ कहि रमे कबीर ॥ वही, स० ५४

४—पहली बुरा कमाइ करि, बांधी विष की पोट ।
कोटि करम फिल पलक मे, (जब) आया हरि की वोट ॥ बा० सा० २।१९

५—कहि कबीर इक राम नाम बिनु इआ जगु माइआ अंधा । सं० क०, ग० ६७

६—है हरि भजन को प्रवांन ।
नीच पावै ऊँच पदवी बाजते नीसान ॥
भजन कौ प्रताप ऐसो तिरे जल पाषान ।
अधम भील अजाति गनिका चढे जात बिवान ॥ बा० प० ३०१

७—नरक परहि ते मानई, जे हरिनाम उदास । सं० क०, स० ९५

८—सरबु तिआगि भजु केवल रामु । वही, ग० ३

९—ऐसौ जानि जपौ जगजीवन जम सूं तिनका तोरौ रे । बा० प० ८५

हुआ, जिस कुल में हरिभक्त नहीं उत्पन्न हुआ वह व्यर्थ ही है।[१]

राम का भक्त कबीर को इतना प्रिय है कि उसके बिना रमणीय दृश्यों से पूर्ण स्थान भी उन्हें सूने लगते हैं और जहाँ राम के भक्त हैं वह उजाड़ स्थान भी उन्हें नगरों से अधिक रम्य लगता है।[२] भक्ति के आवेग में वे यहाँ तक कह डालते हैं कि जिस व्यक्ति ने रामभक्ति की साधना नहीं की वह घोर अपराधी है, उसे तो जनमते ही मर जाना चाहिए था।[३] हरि-विमुखों का संग वे त्याज्य ही नहीं समझते, उनसे वे सदा डरते रहने के लिये कहते हैं—

जे नर भए भगति थैं न्यारे तिनथैं सदा डराते रहिए। बा०,प० १४४

बीजक में भी, जो कबीरपंथ में ज्ञानप्रधान ग्रंथ माना जाता है, भक्ति संबंधी ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है। यथा—

(१) आपा तजै औ हरि भजै, नखसिख तजै विकार।
सब जिउ से निरबैर होइ, साधुमता है सार॥
—बी०सा० १३७

(२) सुमिरन करहू राम का छांड़हु दुख की आस।—बी० र० १७

(३) कहहिं कबीर सुनहु हो संतो रामचरन रति मानी।
—बी० श० १३

(४ निरपछ ह्वैके हरि भजै, सोई संत सुजान।—बी० सा० १३८

(५) इच्छा के भवसागरै, बोहित राम अधार।
कहै कबीर हरि सरन गहु, गोपद खुर विस्तार॥—बी० र० २०

१—कबीर सोई कुल भली, जा कुल हरि को दासु।
जिहि कुल दास न ऊपजै, सो कुल ढाक पलासु॥ स० क० स० १११

२—कबीर जह जह हौं फिरयौ कौतुक ठाओ ठांइ।
राम सनेही बाहिरा, ऊजरु मेरे भाइ॥ वही, १४
पाटन ते ऊजरु भला, राम भगत जिह ठाइ। वही, १५१

३—जिह नर राम भगति नहि साधी। जनमत कस न मुओ अपराधी॥ वही, ग० २५

(६) भरम क बाँधल ई जग, कोई न करै विचार।
हरि की भगति जाने विना, भव बूड़ि मुआ संसार ॥
—बी० र० ७४

यदि सच पूछा जाय तो कबीर की रचनाओं में ऐसे थोड़े ही उदाहरण मिलेंगे जिनमें प्रत्यक्ष रूप से भगवद्भक्ति की महिमा का उल्लेख न हो, उसकी निंदा या विरोध का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। इससे सहज ही यह परिणाम निकाला जा सकता है कि कबीर की साधना भक्ति की साधना है। भक्ति को ही वे इस असार संसार में एक सार वस्तु समझते हैं तथा केवल उसी को मनुष्य के परम श्रेय का साधन मानते हैं।

भक्ति और ज्ञान

इस प्रकार से अत्यंत स्पष्ट शब्दों में भक्तिपक्ष का समर्थन देखकर यद्यपि कबीर के साधनामार्ग के संबंध में कोई संदेह नहीं रह जाना चाहिए, तथापि इस प्रकार का अंतिम निश्चय करने में बाधा यह आ पड़ती है कि अनेक पदों में भक्ति की भाँति ज्ञान (ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, आत्मविचार) का भी आपाततः प्रधान रूप से समर्थन दिखाई पड़ता है, जिससे ऐसी कल्पना करना अस्वाभाविक नहीं है कि या तो भक्ति और ज्ञान दोनों के संबंध में कबीर का मत निश्चित नहीं है अथवा उनका ज्ञान-मार्ग ही प्रधान है, भक्ति केवल उसके सहायक या अंग रूप में होकर आई है। कबीर ज्ञान की आँधी का वर्णन करते हैं जिससे माया के द्वारा बाँधी हुई भ्रम की टाटी उड़ जाती है, संशय की थूनी गिर जाती है, मोह की बँड़ेर टूट जाती है और तृष्णा का छप्पर नीचे आ पड़ता है।[१] ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति के आनंद में वे कहते हैं कि अब मैं

१—संतौ भाई आई ज्ञान की आँधी।
भ्रम की टाटी सबै उडाणी, माया रहै न बाँधी ॥
हितचितकी द्वै थूनी गिरानी मोह बलींडा तूटा।
त्रिस्ना छांनि परी धर ऊपरि कुबधि का भांडा फूटा ॥ ना० प० १६

सहज समाधि में कोटि कल्प विश्राम करूँगा। गुरु की कृपा से उनका सारा भ्रम दूर होकर उनके हृदय में परम ज्योति का प्रकाश हो गया है।[1] आत्मतत्व का विचार करने से वे काम-क्रोध को त्यागकर सबसे निर्वैर हो गए हैं[2] और आत्मविचार के द्वारा ही आत्मस्वरूप का परिचय हो जाने से उन्हें उक्त सहज समाधि का सुख प्राप्त हुआ है तथा वे जन्म-मरण से मुक्त हो गए हैं।[3]

कबीर के विचार से आत्मदृष्टि से हीन मनुष्य एक रस्सी में बँधे हुए गधों के समान हैं।[4] वे कहते हैं ज्ञान न होने के कारण ही मनुष्य इस संसार में बार-बार जन्म लेकर दुःख झेलता है।[5] इतना ही नहीं, ज्ञानहीन मनुष्यों का जीवन वे इतना निरर्थक समझते हैं कि उनके विचार से जिस कुल में ज्ञानवान् पुत्र नहीं उत्पन्न हुआ उसकी माता का विधवा हो जाना अच्छा था।[6]

उपर्युक्त प्रकार के उदाहरणों को लेकर यह सिद्ध करना निस्संदेह सरल है कि कबीर ज्ञानमार्गी थे और ज्ञान के ही द्वारा मुक्ति मानते थे। परंतु अन्य पदों में जो हम भक्ति की प्रधानता देख चुके हैं उससे इस निश्चय में विरोध पड़ेगा। तो क्या इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कबीर ने भक्ति और ज्ञान दोनों मार्गों को स्वतंत्र रूप में अपनाने का प्रयास किया और इसलिये वे वस्तुतः एक पर भी दृढ़ नहीं रह सके? वास्तविक बात यह है कि

१—अब मैं पाइबौ रे पाइबौ ब्रह्म गियान।
सहज समाधें सुख मैं रहिबौ कोटि कलपबिसराम॥
गुर कृपाल कृपा जब कीन्ही हिरदै कँवल बिगासा।
भागा भ्रम दसौं दिस सूझ्या परम ज्योति प्रकासा॥ बा० प० ६

२—जब थैं आतम तत बिचारा।
तब निरवैर भया सबहिन थैं काम क्रोध गहि डारा। वही, १८६

३—कहै कबीर जे आप बिचारै मिट गया आवन जाना। वही, ६

४—ज्यूं षर सूँ षर बंधिया यूं बंधे सब लोई।
जाकै आतम दृष्टि है सांचा है जन सोई॥ वही, १८१

५—ज्ञान अचेत फिरैं नर लोई तार्थैं जनमि जनमि डहकाए। वही, १२

६—जिहि कुल पुत्र न ज्ञान बिचारी। वाकी विधवा काहे न भई महतारी॥ वही, १२५

इस प्रकार का भ्रम प्रधानतः भारतीय साधना-मार्गों के विकास में उनके पारस्परिक संबंध को ठीक ठीक लक्ष्य न कर सकने तथा ज्ञान और भक्ति के मेल को सर्वथा अस्वाभाविक समझ लेने के कारण ही हो सकता है। जैसा आगे चलकर (अध्याय ६) स्पष्ट हो जायगा, भारतीय साधना के क्षेत्र में ज्ञान, भक्ति आदि के सिद्धांत यद्यपि पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप में परम श्रेय-साधन में समर्थ माने गए हैं तथापि वे परस्पर इस प्रकार असंबद्ध नहीं हैं कि एक के क्षेत्र में दूसरे के लिये स्थान न हो। ज्ञान और भक्ति में ऐसा कोई मनोवैज्ञानिक विरोध भी नहीं है जिससे एक के ग्रहण करने पर दूसरे का त्याग सर्वथा अनिवार्य हो। अतः यह असंभव नहीं है कि कबीर के पदों में दो में से कोई एक ही प्रधान हो और दूसरे का महत्त्व उसके अनिवार्य अंग के रूप में कथित हुआ हो। ध्यान से देखने पर विदित होगा कि जहाँ कबीर ने आत्मज्ञान या आत्मविचार को मुक्ति का साधक बतलाया है वहाँ उनका यह तात्पर्य नहीं है कि भक्ति गौण है, अथवा ज्ञान अकेला ही मुक्ति-साधन में समर्थ है। ऐसे भी पद आए हैं जिनमें ज्ञान और भक्ति दोनों का एकत्र उल्लेख हुआ है। ऐसे पदों में यद्यपि दोनों का समर्थन प्रधान रूप से किया गया जान पड़ता है तथापि पद के आरंभ और अंत के वाक्यों में अथवा बार-बार कई वाक्यों में कथित विषय को लक्ष्य करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः भक्ति ही प्रधान है और ज्ञान उसका आवश्यक अंग होकर आया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद

जा नरि राम भगति नहिं साधी। सो जनमत काहे न मूवौ अपराधी ॥
गरभ मुचे मुचि भई किन बांझ। सूकर रूप फिरै कलि मांझ ॥
जिहि कुल पुत्र न ज्ञान विचारी। वाकी विधवा काहे न भई महतारी ॥
कहै कबीर नर सुंदर सरूप। राम भगति बिनु कुचल कुरूप ॥

—बा० प० १२५

में निश्चय ही ज्ञान और भक्ति के बीच कोई विरोध नहीं है, बल्कि दोनों का आवश्यक रूप में कथन है। परंतु आरंभ और अंत में रामभक्ति का ही महत्त्व-

कथन होने के कारण प्रधानता उसी की मानी जानी चाहिए, ज्ञान की नहीं। वस्तुतः ज्ञान कबीर की भक्ति का आवश्यक अंग होने के कारण उसकी भी अनिवार्यता का कथन असंगत नहीं है। बानी पद १६ में ज्ञान की आँधी का वर्णन करने के अनंतर अंत में कहा गया है—

आँधी पीछैं जो जल बूठा प्रेम हरी जल भींना।

ज्ञान की आँधी के अनंतर प्रेम की वर्षा हुई जिसमें हरि के भक्त भीग गए। यह स्पष्ट बतलाता है कि ज्ञान प्रेम या भक्ति का सहायक है, प्रधान भक्ति ही है। ज्ञान* हो जाने पर काम क्रोध आदि दूर हो जाते हैं, असार संसार से वैराग्य हो जाता है और परमात्मा के प्रति हृदय में प्रेम उत्पन्न होता है। परमात्मा से प्रेम हो जाने पर मनुष्य जन्म-मरण के बंधन से छूट जाता है। इसी से, जहाँ कबीर कहते हैं कि आत्मदृष्टि से हीन मनुष्य एक रस्सी में बँधे गधों के समान हैं (पृ० १२९, पा० टि० ४) वहीं वे यह भी कहते हैं—

एक एक जिनि जाणिया तिनहीं सचु पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौ लीन मन ते बहुरि न आया॥

कबीर की दृष्टि से प्रेम या भक्ति करने के पहले प्रिय अथवा भजनीय परमात्मा का ज्ञान होना आवश्यक है। जिसको जानते नहीं, जिससे कोई परिचय नहीं, उससे प्रेम करना कैसा ? जब लौकिक प्रेम भी परिचय के बिना संभव नहीं है तो परमात्मा को जाने बिना उसकी भक्ति कैसे की जा सकती है ? यही कारण है कि कबीर ने राम या परमात्मा को जानने पर बराबर जोर दिया है, और इसी से वे जितना जोर देकर यह कह सकते हैं कि भक्ति के बिना मुक्ति नहीं हो सकती उतना ही जोर देकर वे यह भी कह सकते हैं कि ज्ञान के बिना भी मुक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान के बिना भक्ति जो

---

* ज्ञान से कबीर का अभिप्राय, उनके पदों के अनुसार, आत्मविचार, आत्मदृष्टि अथवा स्वरूप-परिचय है।

नहीं हो सकती। अतः यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि कबीर की साधना में ज्ञान भक्ति का आवश्यक अंग है।

इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि भक्ति की साधना में ज्ञान के सहायक वा साधन रूप होने के कारण उसकी उपयोगिता भक्ति के सिद्ध हो जाने तक ही है। भक्ति के सिद्ध हो जाने पर मानसिक क्रिया वा विचार के रूप में उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती, जैसे किसी भी प्राप्य वस्तु के प्राप्त हो जाने पर फिर उसका परिचय प्राप्त करने की, पता ठिकाना पूछने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी से कबीर कहते हैं—

अब क्या कीजै ज्ञान बिचारा। निज निरखत गत ब्यौहारा ॥
जाचिक दाता इक पाया। धन दिया जाइ ना खाया ॥
कोइ ले मरि सके न मूका। औरनि पै जाना चूका ॥
× × ×
कहै कबीर सो पाया। प्रभु भेंटत आप गँवाया ॥
—बा० प० २८२

पिछले उदाहरणों में ज्ञान की प्रशंसा देखने के बाद ऐसे पदों से सहसा यह निष्कर्ष निकालना कि कहीं ज्ञान की स्तुति है और कहीं निंदा, केवल उतावली का सूचक होगा।

यद्यपि भक्ति के लिये ज्ञान आवश्यक है, तथापि भक्ति ज्ञान का आवश्यक परिणाम नहीं है। यह संभव है कि ज्ञान होने पर भी हृदय में भक्ति उत्पन्न न हो। ऐसे बाह्योपार्जित, अननुभूत, भक्तिरहित ब्रह्मज्ञान को कबीर कभी महत्त्व नहीं देते। बिना भक्ति का ब्रह्मज्ञान काल के पाश से छुड़ाने में कदापि समर्थ नहीं हो सकता। इसी से वे कहते हैं— जो बड़े ध्यानी और ब्रह्मज्ञानी हैं वे भी यम के पट्टे में लिखे हुए हैं।···काल का पहरा सारे संसार के ऊपर है और उसके अंतर्गत सब ज्ञानी लोग भी हैं। मुक्त केवल वे ही हुए जिन्होंने राम की भक्ति जान ली—

ब्रह्मगियानी अधिक धियानी, जम कैं पटैं लिखावा।

× × ×

पहस्यौ काल सकल जग ऊपरि, मांहि लिखे सब ज्ञानी।
कहै कबीर ते भए खालसै रामभगति जिन जानी।
—बा० प० २६४

कबीर ज्ञानी भक्त हैं

श्रवण, मनन और चिंतन आदि के द्वारा किसी विषय को जानना और समझना, बुद्धि से उसका ज्ञान प्राप्त करना, एक बात है और उसके साथ रागात्मक संबंध स्थापित करना, उसे प्रेम या भक्ति का विषय बनाना दूसरी बात है। ऊपर कहा जा चुका है कि कबीर की साधना में ज्ञान का आवश्यक और महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर प्रधानता भक्ति की ही है। ज्ञान का महत्त्व भक्ति के ही लिये है, भक्तिरहित शुष्क ज्ञान का कोई मूल्य नहीं। इसीलिये कबीर ज्ञानी होकर भी भक्त हैं। इस दृष्टि से उन्हें ज्ञानी भक्त कहना अनुचित न होगा। *

---

* भगवद्गीता मे श्रीकृष्ण ने भक्त चार प्रकार के बतलाए हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इन चारों मे एक (भगवान) की भक्ति करनेवाले, नित्ययुक्त ज्ञानी भक्त को ही उन्होंने सर्वश्रेष्ठ कहा है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते।
प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

तुलनीय—राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥
चहूँ चतुर कहँ नाम अधारा। ज्ञानी प्रभुहिं बिसेष पियारा॥
—तुलसी।

भक्ति और योग

कबीर में योग संबंधी पद बहुत हैं और उनमें योगियों के बाह्य वेश तथा आंतरिक क्रियाओं आदि का वर्णन प्रचुरता से पाया जाता है। इससे कतिपय विद्वानों के इस मत को बल मिलता है कि कबीर का संबंध किसी योगी कुल से था, भले ही वह कुल कुछ दिन पहले मुसलमान हो गया रहा हो। कबीर का कुल योगी (या जोगी) रहा हो या नहीं, पर इसमें संदेह नहीं जान पड़ता कि उन्होंने स्वयं सफल योग-साधना की थी, और इसलिये वे अपने काल में प्रचलित योगियों के संप्रदाय, वेश-भूषा और गुण-दोष से तथा यौगिक क्रियाओं और शब्दावलियों से पूर्णतः परिचित थे। वस्तुतः ज्ञान की भाँति योग का भी उनकी भक्तिसाधना में महत्त्वपूर्ण स्थान था। कबीर के कितने ही पदों में जो योग की निंदा दिखाई पड़ती है उसका कारण यह है कि वे योग की क्रियाओं का उपयोग केवल भक्ति की सिद्धि के लिये ही आवश्यक समझते थे। जैसे भक्ति से स्वतंत्र ज्ञान का उनके लिये कोई महत्त्व नहीं था उसी प्रकार भक्तिहीन योग को वे पाखंड ही समझते थे।

जैसा आगे चलकर विदित होगा (अ० ६), किसी भी भारतीय साधना-मार्ग में योग का भक्ति से विरोध नहीं पाया जाता। सभी साधनाएँ मन के द्वारा होती हैं। मन जब तक सांसारिक विषयों में लगा रहता है, जब तक बाहर से भीतर की ओर मुड़कर आत्मलीन नहीं हो जाता, तब तक परमात्म-तत्त्व का, जो अतींद्रिय विषय है, साक्षात्कार नहीं हो सकता। योग मन को बाह्य विषयों से रोककर एकाग्र और अंतर्लीन करने का क्रियात्मक साधन है, इसीलिये सभी साधना-मार्गों में उसकी प्रतिष्ठा है। भक्तों ने इसे भक्ति की सिद्धि का, भगवत्तत्त्व के ध्यान और साक्षात्कार का साधन बनाया। श्रीमद्-भागवत में प्राणायाम (श्वासजय) के द्वारा चित्त का निरोध करके, बाह्य विषयों से इंद्रियों को हटाकर मन को वासना से विमुख करके, उत्तम विषय भगवान

के स्वरूप का ध्यान करने का उपदेश किया गया है[1] और यह बताया गया है कि इस प्रकार की धारणा के अभ्यास से योगियों को शीघ्र ही भक्तियोग सिद्ध हो जाता है।[2] श्वास को सुषुम्ना के मार्ग से भिन्न भिन्न चक्रों में ले जाकर ब्रह्मरंध्र भेद करने की भी विधि बतलाई गई है।[3] भगवद्गीता में बतलाया गया है कि आत्यंतिक सुख अतींद्रिय और बुद्धिग्राह्य है। मनुष्य के लिये उससे बढ़कर अन्य लाभ कोई नहीं है और उसे प्राप्त कर लेने पर वह महान् दुःख से भी विचलित नहीं होता। यह सुख योग के द्वारा अर्थात् इंद्रियों को विषयों से रोककर मन को आत्मस्थ करने पर मिलता है। इस योग के द्वारा योगी सहज ही ब्रह्मसाक्षात्कार के परम सुख का अनुभव करता है।[4] आगे चलकर कहा गया है कि योगियों में सर्वश्रेष्ठ (युक्ततम) वही है जो श्रद्धा-पूर्वक भगवान की भक्ति करता है,[5] और किस प्रकार योग द्वारा मन को एकाग्र कर भगवान में लगाना चाहिए इस संबंध में भी उपदेश किया गया है।[6] इससे यह स्पष्ट है कि भक्तिमार्ग में बहुत प्राचीन काल से योग ने गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था और वह भगवद्भक्ति का एक उत्तम साधन माना गया था। कबीर ने भी इसीलिये उसे महत्त्व दिया था। योग साधना के पथ में होनेवाले षट्चक्रवेध, सोमपान, अनाहत ध्वनियों के श्रवण, ज्योति-दर्शन तथा लौकिक और अलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति को ही वे योग का उत्तम लक्ष्य नहीं मानते थे, यद्यपि उनकी रचनाओं से विदित होता है कि इन सबका अनुभव उन्हें था। उनकी दृष्टि से हृदय-कमल में परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार करने में ही योग की सफलता थी।

कबीर यह जानते हैं कि जो भगवान सर्वव्यापी है वह अपने घट में भी निवास करता है और यदि हम अपने ही घट में उसका दर्शन न कर सके तो बाहर भी उसके लिये भटकना निष्फल होगा—

(१) भाग०, २।१।१६–१८
(२) वही, २।१।२१
(३) वही, २।२।१९–२१
(४) गीता, ६।२१–२८
(५) वही, ६।४७
(६) वही, ६।१०–१८

सो साईं तन में बसै, भ्रम्यौ न जाणैं तास।
कस्तूरी के मृग ज्यूं. फिरि फिरि सूँघै घास ॥[1]

इसीलिये वे इस तन में ही भगवान को ढूँढते हैं—

हरि हिरदै रे अनत कत चाहौ।
भूलै भरम दुनी कत बाहौ ॥[2]

रे मन बैठि कितै जिन जासी, हिरदै सरोवर है अविनासी ॥
काया मधे कोटि तीरथ, काया मधे कासी।
काया मधे कवलापति, काया मधे बैकुंठ वासी ॥[3]

पर अपने घट के भीतर भगवान को ढूँढ लेना सहज नहीं है। इसलिये वे कहते हैं कि भक्ति-माधना बिना युक्ति (=योग) के नहीं हो सकती—

तन खोजौ नर ना करौ बड़ाई। युगति बिना भगति किन पाई ॥[4]

परमात्मा को तन में खोजना खांड़े की धार पर चलने के समान कठिन है क्योंकि वह उलटी चाल के बिना, प्राण और मन का स्वाभाविक बहिर्मुख गति को उलटकर अंतर्मुख किए बिना, नहीं मिल सकता। पर खोजे बिना और कोई चारा भी नहीं, जिसके मन में लगन लग गई वह बिना खोजे रह ही नहीं सकता—

लागै प्यास नीर सो पीवै बिन लागै नहिं पीवै।
खोजै तत मिलै अविनासी, बिन खोजे नहि जीवै ॥
कहै कबीर कठिन यह करणीं जैसे षंडे धारा।
उलटी चाल मिलै पारब्रह्म कौं, सो सत गुरू हमारा ॥[5]

काया के भीतर खोजने की युक्ति के अंतर्गत कबीर ने पवन को उलटकर

१—बानी, साखी ५३।३
२—वही, पद १७०
३—वही, पद १७१
४—वही, पद १४२
५—वही, पद १७०

षट्चक्र में रोकने, त्रिवेणी संगम पर वास करने (आज्ञाचक्र में ध्यान लगाने), कुंडलिनी को जगाकर सुषुम्ना रूपी मोक्ष-द्वार को खोलने, अनाहत ध्वनियों को सुनने तथा समस्त तत्त्वों का लय करके आत्मप्रकाश वा अंतर्ज्योति का दर्शन करने का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। यथा—

उलटि पवन षट्चक्र निवासी, तीरथराज गंग तट बासी।
गगन मंडल रवि ससि दोइ तारा, उलटी कूँची लागि किवारा।
कहै कबीर भई उजियारी, पंच मारि एक रह्यो निनारी ॥[१]

परंतु यौगिक क्रियाओं की सफलता, उनके सिद्धांत के अनुसार, मन को विकार-रहित कर राम से मिलाने में ही है। योग तो मन को भगवान् में स्थिर करने का ही एक उपाय है। फिर यदि मन कुटिल और विषयासक्त ही बना रहा और चंचलता छोड़कर भगवान में लीन न हो सका तो योग का उपयोग ही क्या ? अतः कबीर यौगिक क्रियाओं का उल्लेख चित्त को विकार-रहित और निश्चल कर राम से मिलने के लिये ही करते हैं—

जे मन नहिं तजै विकारा, तो क्यूँ तिरिये भौ पारा।
जब मन छांड़ै कुटिलाई, तब आइ मिले राम राई ॥
× × ×
ससिहर सूर मिलावा, तब अनहद बेन बजावा।
जब अनहद बाजा बाजै तब साईं संगि बिराजै ॥
× × ×

१—बानी, पद १७१

द्रष्टव्य—ब्रह्मस्थान वा ब्रह्मरंध्र को जाने का मार्ग सुषुम्ना है। प्राण के इडा-पिंगला (रवि-शशि) से सुषुम्ना मे प्रवेश करने का द्वार (मोक्षद्वार) कुंडलिनी के द्वारा अवरुद्ध रहता है। कुंडलिनी को जगाने मे सफल होने पर यह द्वार खुल जाता है। इसी से रवि-शशि को दो ताले और कुंडलिनी को ताली कहा गया है। किवाड और कुंजी का यह रूपक हठयोग-प्रदीपिका में भी है—

उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ (३।११६)

चित करि बटुआ तुचा मेषली भसमैं भसम चढ़ाइ।
तजि पाखंड पांच करि निग्रह खोजि परम पद राइ।[१]

सहज योग

कबीर की साधना पर विचार करते समय यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि यद्यपि वे योग को राम या परमात्मतत्त्व के साक्षात्कार का उपाय मानते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि यह पथ सुगम नहीं है, तथापि क्लिष्ट और अस्वाभाविक उपायों को वे भक्ति के लिये न उत्तम समझते हैं न आवश्यक। यही नहीं, उनके अनुसार वह वस्तु भी उत्तम नहीं जो अत्यंत क्लेश से प्राप्त हो—

मीठा सो जो सहजैं पावा। अति कलेस थैं करू कहावा।[२]

कबीर जिस योग को उत्तम मानते हैं वह सहज योग है। यह सहज योग अनेक प्रकार की क्लिष्ट साधनाओं की सूची में एक और नाम बढ़ाने के लिये नहीं, प्रत्युत यह सचमुच सहज उपाय का वाचक है। कबीर कहते हैं कि 'सहज, सहज' (सहज समाधि अथवा सहज योग) सभी लोग कहते हैं परंतु वस्तुतः सहज को कोई नहीं जानता। सहज (-योग) उसी को कहना चाहिए जिससे सहज ही भगवान मिल जायँ—

सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजै हरि जी मिलैं, सहज कहीजै सोइ॥[३]

उनके सहज योग में वेद-पुराण पढ़ने-गुनने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि पढ़ने-गुनने से जो ज्ञान हो सकता है वह सहज साधना द्वारा अनायास ही प्राप्त हो जाता है—

१—वही, पद २०८

२—क० ग्रं०, पृ० २३२

३—बा० सा० २१।४

का पढिए का गुनिए। का वेद् पुरान सुनिए॥
पढे गुने मति होई। मैं सहजैं पाया सोई॥[1]

कबीर का यह सहज योग और कुछ नहीं, रामनाम की ही साधना है। युक्तिपूर्वक रामनाम में लौ लगाने से भक्ति दृढ़ हो जाती है और सहज में ही सहज समाधि[2] लगकर आत्म-स्वरूप का परिचय (पहचान) हो जाता है—

सहजैं राम नाम ल्यौ लाई। राम नाम कहि भगति दिढाई॥
राम नाम जाका मन माना। तिन तौ निज सरूप पहिचाना॥[3]

रामनाम योग सहज इसलिये है—और यही उसकी मुख्य विशेषता है—कि उसमें हठ या क्लेश-पूर्वक अस्वाभाविक रूप से विषयों का अत्यंत त्याग नहीं करना पड़ता। सांसारिक कर्मों को करते हुए भी उसकी साधना की जा सकती है। जैसे कुंज (क्रौंच) पक्षी के मन में चारा चुगते समय भी अपने बच्चे के लिये ममता जागती रहती है और वह रह-रहकर चारा छोड़ उसकी ओर देखने लगता है, उसी प्रकार राम का भक्त सांसारिक विषयों का उपभोग करते हुए भी राम को नहीं भूलता, उसका मन बराबर उन्हीं में लगा रहता है—

चुगै चितारै भी चुगै, चुगि चुगि चितारै।
जैसे बचरहि कूंज मन, माइआ ममता रे॥[4]

केवल योग का राग से द्वेष है क्योंकि योग तो चित्तवृत्ति का निरोध है (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः), परंतु भक्ति तो स्वयं रागात्मिका है इसलिये भोग से उसका वैसा विरोध नहीं। पर किसी एक विषय में राग अत्यंत प्रबल होने पर अन्य विषयों की ओर से मन अनायास ढीला पड़ जाता है। राम में प्रीति दृढ़ हो जाने पर सांसारिक विषयों का आकर्षण स्वतः मंद पड़ जाता है

१—वही, पद २६२
२—वही, पद ४, ६
३—क० ग्रं० पृ० २२७।
४—सं० क०, स० १२३

और जड़ आसक्ति न रहने से उनका उपभोग भी कष्टदायक वा बंधकारक नहीं होता। इस प्रकार रामनाम योग से दोनों लोक सध जाते हैं। तभी तो कबीर कहते हैं—

एक जुगति एकै मिलै किंवा जोग कि भोग।
इन दून्यूं फल पाइए राम नाम सिद्ध जोग॥
—बा० प० ५

कबीर की भक्ति निष्काम है

प्रायः देखा जाता है कि भय वा स्वार्थ की भावना के वशीभूत होकर ही मनुष्य भगवान की भक्ति में प्रवृत्त होता है। परंतु यह आवश्यक नहीं कि उक्त भावना के बिना भक्ति हो ही न सके। और उच्च कोटि की भक्ति को तो भक्तों ने सदा निष्काम और अहैतुकी ही बतलाया है। सच्चे भक्त भगवान से धन, बल, विद्या, यश, प्रभुता आदि कुछ भी नहीं चाहते, यहाँ तक कि स्वर्ग या मुक्ति भी नहीं। वे माँगते हैं केवल उनका दर्शन और उनके चरणों की अविचल भक्ति। कबीर की भक्ति भी सर्वोच्च कोटि की निष्काम भक्ति है। वे राम के दर्शन के अतिरिक्त राम की भक्ति का और कोई फल नहीं चाहते। राम को छोड़कर के बिहिश्त (स्वर्ग) की भी परवाह नहीं करते। लोग उन्हें 'दोज़ख़' (नरक) का भय दिखलाते हैं पर राम के लिये वे उसे भी अंगीकार करते हैं—

दोजग तौ हम अंगिया, यहु डर नाहीं मुझ।
भिस्त न मेरे चाहिए, बाझ पियारे तुझ॥
—बा० सा० ११।७

सकाम भक्ति से तत्तत् कामनाओं की पूर्ति संभव है, स्वर्ग माँगने से स्वर्ग भी प्राप्त हो सकता है, पर भक्त के सर्वस्व भगवान तो नहीं मिल सकते। अतः जब तक भक्ति सकाम है तब तक कबीर उसे निष्फल ही मानते हैं—

जब लगि भगति सकामना, तब लगि निर्फल सेव।
कहै कबीर वै क्यों मिलैं, निहकामी निज देव॥
—वही ११।१०

लोकवेद, बाह्य क्रियाएँ, आचारादि

कबीर की ऐसी अनेक उक्तियाँ पाई जाती हैं जिनसे यह धारणा दृढ़ होती है कि कबीर की भक्तिसाधना में, यही नहीं कि वेदशास्त्र की मर्यादा, जप, तप, तीर्थ, व्रत, श्राद्ध, वर्ण-भेद, अस्पृश्यता आदि बाह्य क्रियाओं, आचारों एवं रूढ़ियों का कोई स्थान नहीं था, अपितु उसका इन सबसे घोर विरोध भी था और इसी से वे प्रायः इनपर बड़े कठोर और तीखे व्यंग किया करते थे। वे कहते हैं—चार वेदों के चार प्रकार के मत हैं और उन्हीं के विचार के भ्रम में यह सारा संसार भूला है। श्रुतियों का विश्वास करके सब लोग आशा-पाश में बँधे हुए हैं—

चारि वेद चहुँ मत का विचार। इहि भ्रम भूलि पर्‌यौ संसार।
सुरति सुमृति दोउ को बिसवास। बाझि पर्‌यौ सब आसा पास॥[1]

'पांडे, तुझे कौन कुमति लगी हुई है? तू अभागा है जो रामनाम नहीं जपता। वेद-पुराण तो बहुत पढ़ता है पर रामनाम का तत्त्व नहीं जानता। रामनाम के बिना वेद-पुराण का ज्ञान वैसा ही है जैसे गधे के ऊपर चंदन का बोझ। इससे अंत में मुख में धूल ही पड़ेगी।'

पांडे कौन कुमति तोहि लागी, तू राम न जपहि अभागी॥
वेद पुरान पढ़त अस पांडे खर चंदन जैसे भारा।
राम नाम तत समझत नाहीं अंति पड़ै मुखि छारा॥[2]

कबीर के लिये लोक वेद और कुल की मर्यादा गले की फाँसी है—

१—बानी, पद ४७

२—वही, ३९; और भी द्रष्टव्य सं० क० ग० ३९ तथा बी० श० ४१, ४२, ४३, ४५

लोक वेद कुल की मरजादा इहै गले में फाँसी ।[१]

सारा संसार ढूँढ़कर देख चुके, हरि के बिना सब अज्ञान ही है। छः दर्शन और छानबे पाखंड में ही सब लोग व्याकुल हैं, हरि को कोई नहीं जानता। जप, तप, संयम, पूजा, अर्चा, ज्योतिष में लोग पागल हो रहे हैं। ढेरों कागज लिख-लिखकर उसी में संसार भूला है। इससे कहीं परमात्मा मिलता है ?

आलम दुनी सबै फिरि खोजी हरि बिन सकल अयानां।
छः दरसन छ्यानवै पाषंड आकुल किनहूं न जाना॥
जप तप संजम पूजा अरचा जोतिग जग बौराना।
कागद लिखि लिखि जगत भुलाना मन ही मन न समाना॥[२]

'तिलक लगाकर गले में माला लटकाने से क्या हुआ जब गोपाल से मिलने का मर्म ही नहीं जानते ?'[३] 'वल्कल वस्त्र पहनने और वन में रहकर तप करने से भला क्या लाभ होगा ?'[४]

'ज़रा वेदशास्त्र कथनेवालों का यह व्यवहार तो देखो कि जीते पित्र को तो डंडा मारते हैं और मरने पर उसे गंगा में तारते हैं। जीते जी अन्न नहीं खिलाते और मरने पर पिंडदान देते हैं। जीवित पित्र को गालियाँ देते हैं और मृतक का श्राद्ध करते हैं। मुझे तो यह आश्चर्य होता है कि कौए का खाया पित्र लोग कैसे पाएँगे ?'[५]

ऐसा नहीं है कि केवल हिंदुओं या पंडितों के सबंध में ही कबीर के ऐसे विचार हों। मुसलमानों को भी वे इसी प्रकार फटकारते हैं—अरे मुल्ला ! क्या इतना चिल्ला-चिल्लाकर पुकारता है ? क्या अल्लाह बहरा है, या वह बहुत दूर है ? राम-रहीम तो सभी जगहों में भर रहा है। वह तेरे दिल में ही बैठा सब कुछ देख रहा है।[६] तू मुर्गी और बकरी मारता है और हक़-हक़ कहता है ? सभी जीव

१—बा० प० १२९
२—वही, ३४
३—वही, १३८
४—वही, ८८
५—बानी, पद ३५६
६—वही, ६०

साईं के प्यारे हैं, फिर तू ऐसा करके किस प्रकार छुटकारा पा सकता है ! तेरा दिल पवित्र नहीं है और तू उस मालिक का पता नहीं जानता, तब तू क्या बिहिश्त के लिये मरता है ? ऐसे बिहिश्त को तो दूर फेंककर मैं दोजख ही स्वीकार करूँगा।[१]

कबीर जाति के कारण किसी को ऊँचा-नीचा नहीं मानते—'नहिं को ऊँचा नहिं को नीचा।' वे ब्राह्मण-शूद्र अथवा हिंदू-तुर्क आदि भेदों को भी कृत्रिम मानकर अस्वीकार करते हैं—

१—एक जोति थैं सब उतपनां कौन बांभन कौन सूदा।
२—कहै कबीर एक राम जपहु रे हिंदू तुरक न कोई।[२]

हिंदू या मुसलमान किसी के साथ पक्षपात न कर प्रायः एक साथ ही दोनों के धर्म-कर्म पर आक्षेप करते हैं। यथा—

देव पूजि पूजि हिंदू मूए तुरक मुए हज जाई।[३]

काजी को संबोधित कर वे कहते हैं—'तू किस किताब की बातें करता है ? पढ़ते-पढ़ते कितने दिन बीत गए, अभी यही न समझ में आया कि हिंदू तुर्क में कोई भेद नहीं है, अंततः सबकी गति एक ही है ? खुदा ने किसी को तुर्क नहीं बनाया है। तू बलपूर्वक मुसलमान बनाता है। मैं इसे नहीं मान सकता। यदि खुदा किसी को मुसलमान बनाकर भेजता तो अवश्य उसकी सुन्नत भी करके भेजता। मुझे (पुरुष को) तो तू ने सुन्नत करके मुसलमान बनाया, पर औरत से क्या कहेगा ? वह तो हिंदू ही रहेगी, और वह अर्धांगिनी है इसलिये प्रत्येक मुसलमान आधा हिंदू ही रहेगा।'[४]

इस प्रकार की उक्तियाँ कबीर की रचनाओं में दुर्लभ नहीं है, अतः अधिक उदाहरण अनावश्यक है।

१—वही, ६२ २—वही, ५७
३—वही, ३१७ ४—वही, ५९

तथ्य क्या है ?

तो क्या उपर्युक्त उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकालना अनिवार्य है कि वेद, शास्त्र, पुराण, कुरान तथा सब प्रकार के धर्म-कर्मों की निंदा में ही कबीर को रस आता था, लोगों की धर्म-भावना के प्रति उनके मन में द्वेष ही भरा रहता था ? बात तो कुछ ऐसी ही लगती है और इसका उनकी भक्ति के साथ कोई मेल बैठता नहीं दिखाई देता । परंतु यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो ऐसा निष्कर्ष उचित नहीं प्रतीत होगा, कम से कम व्यक्तिगत रूप से वे इसके लिये दोषी नहीं ठहराए जा सकेंगे ।

यह पहले दिखाया जा चुका है कि कबीर की भक्ति में ज्ञान और योग का आवश्यक स्थान है, परंतु भक्तिहीन ज्ञान वा योग का उनके लिये कोई महत्त्व नहीं । उसी प्रकार समस्त धर्म कर्म भी, जो ऐहिक और पारलौकिक कामनाओं की पूर्ति के निमित्त किए जाते हैं और जिनके आश्रय लोक और वेद हैं, भक्त की दृष्टि से व्यर्थ अथवा कोरे पाखंड हैं। कबीर की भक्ति निष्काम और अहैतुकी है, वह किसी कामना को लेकर नहीं की जाती। भक्ति का लक्ष्य तो भगवान है, ऐहिक वा पारलौकिक सुख नहीं। इस कारण उपर्युक्त सकाम कर्मों से स्वभावतः भक्ति का कोई मेल नहीं बैठ सकता । वस्तुतः वे कर्म भक्ति-विरोधी हैं, क्योंकि उनका लक्ष्य भक्ति के विपरीत है । वे भगवान की ओर ले जानेवाले नहीं, भगवान से ध्यान हटाकर विषयों में उलझाने वाले हैं। अतः उक्त लोक-वेद-विहित कर्मों और आचारों का कबीर ने जो विरोध किया है उसका कारण यह नहीं कि वे व्यक्तियों अथवा मतविशेष के अनुयायियों से द्वेष रखते थे और इस कारण उनकी भावनाओं को चोट पहुँचाना चाहते थे । वस्तुतः नाभा जी की उक्ति के अनुसार वे भक्ति-विमुख समस्त धर्मों को अधर्म समझते थे (भक्तिविमुख जो धरम ताहि अधरम करि गायो) । कर्मों की सकामता और भक्ति-विमुखता ही उनके विरोध का कारण थी । वह भक्त ही कैसा जो लोगों को प्रसन्न करने के लिये भक्ति-विरुद्ध बातों की भी प्रशंसा करता रहे ? कुछ उदाहरणों से यह बात और स्पष्ट हो जायगी।

हम देखते हैं कि लोक-वेद और धर्म-कर्म की व्यर्थता का कथन कबीर ने स्वतंत्र आलोचना के रूप में नहीं, प्रत्युत प्रायः सदैव भक्ति या रामनाम के प्रसंग से उसकी सिद्धि और पुष्टि के ही निमित्त किया है। अतः उसे अविचार वा कुरुचि की द्योतक नहीं कह सकते। लोक, वेद और कुल की मर्यादा उन्हें गले की फाँसी इसीलिये लगती है कि उससे उनकी भक्ति में बाधा पड़ती है। इसी से वे दृढता के साथ अपने मन से कहते हैं कि 'तू इन बाधाओं के कारण मत हिचकिचा। समझ ले यह सारा संसार मैला है, पवित्र वे ही हैं जो 'राम' कहते हैं। मैं रामनाम किसी भी प्रकार से छोड़ने का नहीं, इसलिये तू गिरता-पड़ता ऊपर चढता चल।'[1] पहले वे लोकवेद का अनुसरण करते थे, परंतु जब गुरु ने ज्ञानभक्ति का दीपक हाथ में दिया तब उसकी व्यर्थता सिद्ध हो जाने से उसका त्याग किया।[2] भक्ति स्वयंप्रकाश है, उसे लोकवेद के पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं। एक स्थल पर वे यह भी कहते हैं कि 'वेद या कुरान को झूठा क्यों कहते हो ? झूठा वह है जो विचार नहीं करता'—

वेद कितेब कहौ क्यों झूठा झूठा जो नि विचारै।[3]

जब वे वेद-पुराण पढ़नेवाले 'पांड़े' को 'चंदन-भारवाही खर' कहते हैं तो वहीं उसका कारण भी बतलाते हैं— तू राम न जपसि अभागी। कहते हैं— 'पांड़े, वेद पढ़ने का फल तो यह है कि सब घट में राम को देखे। तभी सब काम सफल हो सकते हैं और तुम जन्म-मरण से छूट सकते हो। तुम तो जीव-वध करते हो और उसे धर्म बतलाते हो, तब भाई तुम अधर्म किसको कहते हो ? तुम तो जीव-वध करके मुनि बन गए, फिर कसाई कौन है ? इसी से भाई, इस प्रकार का धर्मकर्म बखेड़ा है। मैं ही नहीं, नारद, व्यास, शुकदेव सभी कहते हैं कि रामनाम में लौ लगाओ, तभी यह कुमति छूटेगी।'

१—बानी, पद १२९
२—बानी, सा० १।११ ३—वही, पद ६२

वेद पढ्यां का यहु फल पांडे सब घटि देखै रामा।
जन्म मरन थैं तौ तूँ छूटैं सुफल हूँहिं सब कामा॥
जीव-वधत अरु धरम कहत हौ अधरम कहां है भाई।
आपन तौ मुनिजन ह्वै बैठे कासनि कहौं कसाई॥
नारद कहै व्यास यौं भाषै सुषदेव पूछौ जाई।
कहै कबीर कुमति तब छूटै जो रहौ राम ल्यौ लाई॥[१]

इसी प्रकार जब वे जप, तप, संयम आदि को भ्रम बतलाते हैं तो वहाँ उनका अभिप्राय यही होता है कि इन सबमें भूले रहने से राम की भक्ति नहीं मिलती। हाँ, गुरु के उपदेश से चातक की तरह रामनाम रटो तो निश्चय ही भक्ति हृदय में निवास करेगी।[२] अन्यत्र वे कहते हैं—

क्या जप तप क्या संजमा, क्या तीरथ व्रत असनान।
जो पैं जुगति न जानिए, भावभगति भगवान॥[३]

सारांश यह कि लोकवेद और धर्मकर्म संबंधी कबीर की उक्तियाँ उनकी निंदक प्रवृत्ति की सूचक नहीं। जीवन में सार वस्तु राम की भक्ति है। समस्त कर्म उसी के साधक होने चाहिएँ, अन्यथा उनका प्रयोजन क्या? अंतर स्वच्छ और पवित्र हो तो बाह्य अपने-आप स्वच्छ हो जायगा। आंतरिक स्वच्छता राम की भक्ति के बिना संभव नहीं। प्रायः धर्म के नाम पर प्रचलित बाह्य कर्म, आचार, वेष आदि भेद और विरोध उत्पन्न करनेवाले, पाप और पाखंड को प्रश्रय देनेवाले तथा भक्ति में बाधा डालनेवाले होते हैं। इस कारण वे और भी त्याज्य हैं। कर्ममात्र त्याज्य नहीं; भक्तिसाधना और शरीरयात्रा के लिये अनुकूल और आवश्यक कार्य 'ईमान को दुरुस्त रखकर'[४] अवश्य करणीय हैं।

१—वही, ३९ २—वही, ३४
३—वही, १२१
४—सो हिंदू सो मुसलमान, जाका दुरस रहै ईमान। वही, पद ३५५

भक्ति का हेतु और फल

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कबीर की भक्ति निष्काम और अहैतुकी है। ऐसी अवस्था में भक्ति के हेतु और फल की चर्चा ही सर्वथा असंगत प्रतीत होती है। परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि भक्ति एक साधना है और निष्कामता उस साधना की उच्चतम भूमिका की वस्तु है जो साधारणतः राम के चरणों में प्रीति की वृद्धि के साथ धीरे-धीरे ही आती है। वह सिद्ध नहीं प्रत्युत साध्य वस्तु है। पूर्ण निष्कामता भक्ति की चरमावस्था की कसौटी है। साधारण अवस्थाओं में तो किसी हेतु या उद्देश्य के बिना भक्ति में मनुष्य की प्रवृत्ति होती ही नहीं, चाहे वह उद्देश्य मोक्ष हो या स्वर्ग अथवा सांसारिक सुख-समृद्धि। इसी प्रकार यद्यपि निष्काम भक्त अपनी साधना का कोई फल नहीं चाहता, तथापि उसकी साधना निष्फल नहीं होती। उसका अलभ्य और अनिवार्य फल उसे स्वतः प्राप्त होता है।

कबीर जैसे संत सांसारिक मनुष्यों के लिये दुःख से निवृत्ति पाने की व्याकुलता को ही भक्ति का उपयुक्त हेतु बतलाते हैं और पूर्ण मुक्त आनंदमय रामरूपता की प्राप्ति को उसका अनिवार्य फल।* आगे के विवेचन से उपर्युक्त कथन स्पष्ट हो जायगा।

दुःख

दुनिया भांडा दुख का, भरी मुहांमुहं भूख।

—बा० सा० १२।४७

यह संसार दुःखों का घर है। इसमें सर्वत्र तृष्णा और अभाव ही व्याप्त है, उसकी तृप्ति और पूर्ति कहीं भी नहीं है। नाना प्रकार के विषयों के संयोग से इंद्रियों को तुष्ट करने को ही मनुष्य सुख समझता है और उसी के प्रयत्न में निरंतर लगा रहता है, परंतु उसे सुख प्राप्त नहीं होता। कारण यह है कि

---

* तुल०—राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥—तुलसी

मनुष्य की आशा-तृष्णा कभी शांत होनेवाली नहीं। क्षणिक रूप में प्रायः उसकी इच्छाओं की पूर्ति निस्संदेह देखी जाती है, परंतु उससे प्यास बुझती नहीं, उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। जो सुख अल्प क्षणों के लिये मनुष्य को प्राप्त होता है उसे वह स्थायी बनाना चाहता है, परंतु वह स्थायी हो कैसे? मन और इंद्रियों सहित यह शरीर और उसका भोग्य यह संसार, इनमें कुछ भी तो स्थिर नहीं है। यह संसार और यह जीवन दोनों ही स्वप्न के समान हैं—

संसार ऐसा सुपिन जैसा जीवन सुपिन समान।

—बा०, पद २४५

सेमर के फूलों के समान इसका रंग केवल थोड़े दिनों के लिये है—

यहु ऐसा संसार है जैसा सैंबल फूल।
दिन दस के व्यौहार कौं, झूठे रंगि न भूल॥

ग्रा० सा० १२।१३

और जिस धूल की पुड़िया के समान शरीर के लिये मनुष्य संसार का संपूर्ण सुख बटोर लेना चाहता है वह भी अंत में मिट्टी ही मिट्टी रह जाता है—

कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी ज बाँधी एह।
दिवस चारि का पेखना, अंत षेह की षेह॥

—वहीं, १२।२०

इस शरीर का भरोसा ही क्या? कच्चे घड़े के समान तनिक सा धक्का लगाते ही यह किसी भी क्षण नष्ट हो जा सकता है—

यहु तन कांचा कुंभ है, लियां फिरै था साथि।
ढबका लागा फूटि गया, कछू न आया हाथि॥

—वही, १२।३९

अतः इस संसार में बड़े गर्व के साथ ऊँचे ऊँचे मंदिर उठाकर और

राज्य स्थापित कर स्थायी ऐश्वर्य-भोग की मनुष्य की आशा व्यर्थ और मूर्खता-पूर्ण है। काल सबका केश इस प्रकार हाथ में पकड़े हुए है कि वह किस क्षण किस स्थान पर किसको मार देगा इसका कुछ भी तो पता मनुष्य को नहीं रहता!

कबीर कहा गरबियौ, काल गहे कर केस।
नां जाणौं कहां मारिसी, कै घरि कै परदेस॥

—वही, १२।१२

यह काल का भय संतों की दृष्टि से मनुष्य के लिये सब दुखों से अधिक भयंकर है। और एक बार मरकर काल से छुट्टी भी नहीं मिलती, मृत्यु के पश्चात् फिर जननी के उदर में उलटे टँगकर नरक भोग करना पड़ता है। इस प्रकार इस जन्म-मरण के चक्र में बार-बार घूमते हुए मनुष्य को संसार में अनेक यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं?

दुःख का कारण

तो फिर मनुष्य के इस दुःखमय संसार का कारण क्या है? जन्म-मरण के चक्र में मनुष्य को आना हो क्यों पड़ता है? जन्म-मरण तथा तत्सभव समस्त दुःखों का कारण वास्तव में मनुष्य के अपने ही कर्म हैं जो मायाजन्य बासना द्वारा प्रेरित होकर किए जाते हैं—

माता जगत भूत सुधि नाहीं। भ्रमि भूले नर आवैं जाहीं।
जानि बूझि चेतै नहिं अंधा। करम जठर करम के फंधा॥
करम का बंधा जीयरा, अहनिसि आवै जाइ।
मनसा देही पोइ करि, हरि बिसरै तौ फिरि पाछे पछताइ॥

(क० ग्रं०, पृ० २२७-२८)

माया ही के प्रभाव से मनुष्य कर्म-बंधन में फँसता है इसलिये दुःख का मूल कारण माया ही है। इसी से प्रेरित होकर मनुष्य सांसारिक विषयों में

ममत्व रखने के कारण बार-बार अनेक योनियों में जन्म लेता और जरा-मरण का क्लेश भोगता है। अनेक यत्न करने भी उसे सुख का उपाय नहीं मिलता। जिस माया रूपी अग्नि में वह जलता रहता है उसे बुझानेवाला कोई व्यक्ति दिखाई नहीं देता। यह संसार झूठी मृगतृष्णा है, फिर भी लोग उसी से लिपटे हुए 'मोर-तोर' की माया में जल रहे हैं—

माया मोह भूले सब लोई। क्यंचित लाभ मानिक दियौ खोई॥
मैं मेरी करि बहुत बिगूता। जननी उदर जन्म का सूता॥
बहुतै रूप भेष बहु कीन्हा। जुरा मरन क्रोध तन खीना॥
उपजै बिनसै जोनि फिराई। सुख कर मूल न पावै चाही॥
दुख संताप कलेस बहु पावै। सो न मिलै जे जरत बुझावै॥
मोर तोर करि जरे अपारा। मृग तृष्णा झूठी संसारा॥[१]

यह संसार असार है, सत्य और सार वस्तु केवल राम-नाम है—

राम नाम पाया निज सारा। अविरथा झूठ सकल संसारा॥[२]

संसार माया का ही विस्तार है। राम आनंद-स्वरूप है पर उन्होंने त्रिगुणात्मिका माया का विस्तार कर उसके आवरण में स्वयं अपने को छिपा रक्खा है—

सत रज तम थैं कीन्ही माया। चारि खानि विस्तारि उपाया॥[३]
सतरज तम थैं कीन्हीं माया। आपन मंझै आप छिपाया॥
तें तौ जाहि अनंद सरूपा। गुन पल्लव विस्तार अनूपा॥[४]

माया के कारण आनंदस्वरूप का दर्शन न कर सकने से ही जीव संसार में भूला भूला फिरता है। माया ऐसी मोहिनी है कि वह सभी के ऊपर अपना

१—क० ग्रं०, पृ० २३३
२—वही, पृ० २३४
३—वही, २२८
४—वही, २२५

जहरीला जादू डाल देती है। बड़े बड़े मुनिवर, पीर, दिगंबर, योगी, जंगम आदि सभी को चुन-चुनकर इसने अपना शिकार बनाया।[1] इसी से कबीर इसे वेश्या, पापिनी, डाकिनी[2] इत्यादि कहते हैं।

माया को कबीर ने यद्यपि स्पष्टतः अज्ञान-रूपिणी नहीं कहा है, पर उसे भ्रमरूपिणी, ज्ञान या मति को हरनेवाली तथा सत्य के स्वरूप को छिपाकर असत्य में सत्य की प्रतीति करानेवाली अनेक स्थलों पर बतलाया है—

भरम करम दोउ बरतैं लोई। इनका चरित न जानै कोई॥
इन दोऊ संसार भुलावा। इनके लागे ग्यान गँवावा॥

× × ×

भरम करम दोउ मति परिहरिया। झूठै नाउं सांच ले धरिया॥[3]

× × ×

माया मोह धन जोबना, इनि बंधे सब लोइ।
झूठै झूठ बियापिया, कबीर अलख न लखई कोइ॥

झूठनि झूठ सांच करि जाना। झूठनि में सब सांच लुकाना॥[4]

१—तू माया रघुनाथ की खेलन चढी अहेडै।
चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे कोई न छांड्या नेडै॥
मुनियर पीर डिगंबर मारे जतन करंतां जोगी।
जंगल महि के जंगम मारे तूरे फिरै बलवंती॥
बेद पढंता बांमण मारा सेवा करंता स्वामी।
अरथ करंता मिसर पछाड्या तूरे फिरै मैमती॥ बा० प० १८७

२—वही, सा० १६।१, १६।४, १६।२१

३—क० ग्रं०, पृ० २३६

४—वही, पृ० २२९

परंतु भ्रम भी अज्ञान (मिथ्या ज्ञान) ही है अतः माया अज्ञान-रूपिणी है।[१]

दुःख से छूटने का उपाय

जन्म-मरण के दुःख से जीव को मुक्त करनेवाला राम के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं हैं, अतः राम की भक्ति करना ही दुःख से छूटने का एकमात्र उपाय है। हरि की भक्ति के बिना मुक्ति नहीं हो सकती—

भगति हीन अस जीवना, जनम मरन बहु काल।
आस्रम अनेक करसि रे जियरा रांम बिना को न करै प्रतिपाल॥[२]
भाव भगति बिसवास बिन, कटै न संसै सूल।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुकति नहीं रे मूल॥[३]

भगवान् ही जब कृपा कर हृदय में ज्ञान देते हैं तो माया छूट जाती है—

हरि हिरदै एक ग्यान उपाया, ताथैं छूटि गई सब माया।

राम की शरण जाने से, जो माया सारे संसार को पछाड़नेवाली है वह हरिभक्तों की चेरी हो जाती है—

साषित के तूं हरता करता हरि भगतन कै चेरी।
दास कबीर राम कै सरनै ज्यूं लागी त्यूं तोरी॥[४]

राम की भक्ति करने से जीव रामरूप हो जाता है, दुःख क्लेश सब खो जाते हैं, सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और माया और कर्म का कोई बस नहीं चलता—

१—तुलनीय— ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः॥
—श्रीमद्भागवत, २।९।३३

२—क० ग्रं०, पृ० २२८

३—वही, पृ० २४५

४—वा० प० १८७, २६९

(ज्यू) राम कहे ते रामै होई। दुःख कलेस घालै सब खोई ॥
जन्म के किलविप जाहिं बिलाई। भरम करम का कछु न बसाई ॥[१]

इसलिये दुःख के मूल कारण माया से छुटकारा पाने की इच्छा करनेवालों को भगवान की ही शरण में जाना चाहिए। कबीर भी इसी उपाय से उससे मुक्ति पाने में समर्थ हुए थे।

दास कबीर राम कै सरनैं छांडी झूठी माया।[२]

भक्ति के साधन

(१) दुःख की अनुभूति

यह कहा जा चुका है कि भक्त की दृष्टि से राम के बिना सारा संसार दुखी है और दुःख से छूटने का उपाय राम को पाना है। परंतु कठिनाई यह है कि निरंतर दुःखों से पीडित एवं यम से त्रस्त रहते हुए भी मनुष्य उनसे छूटने का प्रयत्न करने के बदले दिन दिन और उन्हीं में उलझता जाता है। वह मृगतृष्णा में पड़ा आ निरंतर दौड़ लगाता रहता है, राम की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। सुख के मूल को न पहचानकर वह विष को ही अमृत कहता है—

सोइ त्रास सुनि राम न गावै। मृगतृष्णा झूठी दिन धावै ॥
सुख कर मूल न चिन्हसि अभागी। चीन्हैं बिना रहै दुख लागी ॥
नीम कीट जस नीम पियारा। विष कूं अमृत कहै संसारा ॥[३]

ऐसी अवस्था में दुःख से मुक्ति पाने का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता क्यों कि ऐसे रोगी के लिये संसार में कोई दवा नहीं है जो अपने रोग को रोग न

१—क० ग्रं०, पृ० २३६ २—बा० प० २६९
३—क० ग्रं०, पृ० २३१

समझकर उसी में स्वास्थ्य के आनंद का अनुभव करना चाहता हैं।[१] उपाय और साधनों का प्रश्न तो उसी के लिये उठता है जो दुःख में तीव्र व्याकुलता का अनुभव कर इससे छूटने का मार्ग पाना चाहता है। अत. हृदय में भगवान की भक्ति उत्पन्न होने के लिये सर्वप्रथम आवश्यक है दुःख में व्याकुलता की तीव्र अनुभूति। यह बात नहीं कि किसी को ऐसी अनुभूति न होती हो, पर या तो वह क्षणिक होती है अथवा प्रायः पूर्ण असहाय अवस्था में आती है। संसार में अपने को सदा सुखी समझनेवाले व्यक्ति के जीवन में भी कभी न कभी, और कम से कम अंतकाल समीप आने पर तो अवश्य ही, इस प्रकार की व्याकुलता होती है और तब वह पछताता है कि शरीर के समर्थ रहते हमने कोई उपाय नहीं किया—

जब लगि है यहु निज तनु सोई. तब लगि चेति न देखै कोई ॥
जब निज चलि करि किया पयाना। भयो अकाज तब फिर पछिताना ॥[२]

इसीलिये कबीर बार-बार चेतावनी देते हैं कि संसार के क्षणिक सुखों का भरोसा छोड़कर नित्य सुख का मार्ग पकड़ो और समय तथा सामर्थ्य रहते भगवान का भजन कर लो। परंतु वे यह भी भली भाँति जानते हैं कि ऐसा करना सर्वथा जीव के वश की बात नहीं है। इसलिये यद्यपि वे समय से सावधान होने की चेतावनी देते हैं (क्योंकि जितना ही विलंब होगा उतना ही व्यर्थ दुःखभोग और शक्तिक्षय होगा) तथापि वे यह नहीं कहते कि विलंब से चेतने पर भक्ति से कोई लाभ ही न होगा। प्यारा राम तो सदा संग में ही रहता है। जब चेत जाय तभी वह हृदय में प्रकाशित हो जाता है—

१—श्री मद्भागवत के अनुसार दो ही प्रकार के व्यक्ति संसार मे सुखी हैं। एक तो वे जो माया से पूर्णतः मूढ होकर ससार मे आसक्त है और दूसरे वे जो बुद्धि से परे पहुँच कर परमात्मनिष्ठ हो गए है। क्लेश तो बीच के लोग भोगते हैं—

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः।
तावु भौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥ भागवत, ३।७।१७

२— क० ग्रं०, पृ० २३२

सार आहि जे संग पियारा।
जब चेतै तबही उजियारा ॥[1]

अस्तु, देर हो या सबेर, दुःख की उपर्युक्त भावना ही मनुष्य को भगवान की ओर ले जानेवाले सरलतम मार्ग पर शीघ्र से शीघ्र ला खड़ा कर सकती है।

(२) आत्म-विचार

पहले यह कहा जा चुका है कि कबीर की भक्ति का ज्ञान से कोई विरोध नहीं, प्रत्युत ज्ञान उसका एक आवश्यक अंग है। उससे भक्ति को एक सुदृढ आकार मिलता है। परंतु यह ज्ञान है क्या ? किसका ज्ञान ? और किस प्रकार यह प्राप्त होता है ?

ज्ञान से तात्पर्य सत्य-असत्य और सार-असार का विवेक है। माया के प्रभाव से मनुष्य भ्रम या अज्ञानवश असत्य को सत्य और सत्य को असत्य समझता है। यही उसके दुःख का कारण है। जब वह सत्य और असत्य दोनों को उनके वास्तविक स्वरूप में जान ले तो उसे ज्ञान उत्पन्न हुआ समझिए। बिना इस ज्ञान के भक्तिभावना अनिश्चित लक्ष्यों से टकराती फिरती है। और जब लक्ष्य निश्चित नहीं, तो उसे प्राप्त करने का प्रश्न ही क्या है ? अत: इस ज्ञान को प्राप्त करने का कोई उपाय अवश्य होना चाहिए।

कबीर की साधना में विचार अथवा 'आप-विचार' (आत्म-विचार) की बड़ी चर्चा हुई है। कबीर ने स्वयं अनेक स्थलों पर उसका उल्लेख किया है—

(१) मन फिर बैसि बिचारिया रामहिं ल्यौ लाई।[2]
(२) अपने बिचारि असवारी कीजै। सहज के पाइड़ै पाय जब दीजै।[3]
(३) कला अतीत आदि निधि निरमल ताकूं सदा बिचारत रहिए।[4]
(४) कथता बकता सुरता सोई। आप बिचारै सो ग्यानी होई।[5]

१—वही, २३३
२—बा० प० १५६
३—वही, २५
४—वही, १५७
५—वही, ४२।

(५) कहै कबीर जे आप बिचारै मिटि गया आवन जाना ।[1]

(६) जब थैं आतम तत विचारा
तब निरबैर भया सबहिंन थैं कामक्रोध गहि डारा ।[2]

यही विचार अथवा आत्म-विचार उपर्युक्त ज्ञान को प्राप्त करने का उपाय है। अतः कबीर की साधना में इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। विचार से कबीर का तात्पर्य केवल आत्मा के विषय में विचार ही नहीं अपितु उसमें आत्म-अनात्म के संबंध में स्वयं अपनी बुद्धि से विचार करने पर भी जोर है।

यह ठीक है कि भगवान की भक्ति करनी चाहिए। परंतु जब भगवान से परिचय नहीं, उनके स्वरूप का ज्ञान नहीं, तो भक्ति हो कैसे? कम से कम यदि इतनी प्रतीति न हो कि इस असार संसार में एक राम ही सार हैं और उन्हीं की शरण में जाने से दुःख से मुक्ति मिल सकती है, तो भक्ति में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। कबीर के कथन के अनुसार विचार करने से इस संसार की स्वप्नवत् स्थिति तथा राम की सत्यता का ज्ञान होता है और राम का परिचय प्राप्त हो जाने पर उन्हीं में मन लग जाता है—

समुझि बिचारि जीव जब देखा। यह संसार सुपिन करि लेखा॥
भई बुद्धि कछु ग्यान निहारा। आप आप ही किया बिचारा॥
ताकै चीन्हैं परचौ पावा। भई समुझि तासूं मन लावा॥[3]

भगवान का स्वरूप वस्तुतः भगवान की कृपा के बिना नहीं जाना जा सकता। पर मनुष्य को अपनी बुद्धि से विचार करते रहना आवश्यक है। विचार करने का अधिकार बड़े गुणवान् तथा ज्ञानी लोगों का ही नहीं है, पर ज्ञानी, मूर्ख सबके लिये अहंकाररहित होना आवश्यक है। अहंकाररहित होकर अपनी बुद्धि से प्रयत्न करने पर ही भगवान की कृपा का महत्त्व समझ में आता है—

१—वही, ६ २—वही, १८६ ३—क० ग्रं०, पृ० २३३

खग खोज पीछैं नहीं, तू तत अपरंपार।
बिन परचै का जानिए, सब झूठे अहंकार॥

गुन अरु ज्ञान दोऊ हम हीना। जैसी बुधि बिचार तस कीन्हा॥
हम मसकीन कछु जुगुति न आवै। जे तुम्ह देखौ तौ पूरि जन पावै॥[१]

विचार किस प्रकार किन विषयों पर करना चाहिए इसका भी संकेत कबीर ने स्वयं किया है। यथा संसार में कौन सयाना है और कौन मूढ, दुःख क्यों मिलता है और कैसे दूर होता है, किस बात में हर्ष है और किसमें विस्मय, कौन हित है कौन अहित, क्या सार है क्या असार, क्या सच है क्या झूठ, किससे संताप होता है किससे आनंद, इस संसार-सागर को पार करने के लिये क्या बोहित है और कौन केवट है—इत्यादि प्रश्नों के उत्तर मनुष्य को स्वयं अपनी बुद्धि से सोचकर ढूँढने का प्रयत्न करना चाहिए—

रे रे मन बुधिवंत भंडारा। आप आप ही करहु बिचारा॥
कवन सयान कवन बौराई। किहि दुख पइए किहि दुख जाई॥
कवन हरिष को बिसमै जाना। को अनहित को हित करि माना॥
कवन सार को आहि असारा। को अनहित को आहि पियारा॥
कवन साच कवन है झूठा। कवन करू को लागै मीठा॥
का बोहित को खेवट आही। जिमि तिरियै सो लीजै चाही॥[२]

कबीर की दृष्टि से संसार में सयाना वही है जो मनुष्य का उत्तम जन्म पाकर राम को जान ले। सुख का मूल भक्ति है, यह जान ले तो दुःख न हो। अमृत केवल प्यारे राम हैं, और सब विष। राम में रमने में ही हर्ष है और सब विस्मय। संतों की संगति ही सार है, अन्य सब असार। प्यारे राम हित हैं; संपूर्ण संसार अहित। सत्य वही है जो स्थिर रहे, जो उत्पन्न

१—क० ग्रं०, पृ० २३० २—वही, पृ०, २३०

और नष्ट होनेवाला है वह झूठ है।[1] भवसागर को पार करने के लिये भाव-भक्ति बोहित है, सद्गुरु उसे खेकर पार लगानेवाले हैं।[2]

(३) गुरु

दुःख की अनुभूति भी हो, दुःख से छूटने के लिये व्यकुलता भी हो और आत्म-विचार के द्वारा राम को पाने की तीव्र अभिलाषा भी जगी हो, फिर भी यह प्रश्न रह जाता है कि राम को पाएँ कैसे ? कौन उनका मार्ग दिखाए, कौन उन्हें पाने की युक्ति बताए ? इसी प्रश्न का उत्तर 'गुरु' है। गुरु राम का ज्ञान कराता और उनसे मिलने की युक्ति बतलाता है। गुरु के बिना सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता अतः संसार में गुरु को छोड़कर और किसी का भरोसा नहीं किया जा सकता। अनेक मार्गों में चित्त के भटकते रहने के कारण निगुरे जनों की बुद्धि स्थिर नहीं रह सकती, अतः वे गणिका-पुत्र के समान हैं जो किसी को पिता नहीं कह सकते—

गनिका कौ पूत पिता कासों कहै। गुरु बिना चेला ग्यान न लहै ॥[3]
गुरु बिन इहि जग कौन भरोसा काके संग ह्वै रहिए।
गनिका कै घरि बेटा जाया पिता नाम किस कहिए ॥[4]

गुरु के बिना मनुष्य कुछ नहीं कर सकता, पर गुरु के सहायता पाकर वह आवागमन से मुक्त हो जाता है—

कहै कबीर सकति कछु नाहीं गुरु भया सहाई।
आवण जाणी मिट गई मन मनहि समाई ॥[5]

मनुष्य-देह पाकर गुरु की सेवा करके अवश्य भक्ति कमानी चाहिए, क्योंकि गुरु से मिलकर जिनके अंतर्पट खुल जाते हैं वे फिर संसार में जन्म नहीं लेते—

गुरु सेवा करि भगति कमाई, जौ तैं मनिषा देही पाई।
गुरु मिलि जिनके खुले कपाट, बहुरि न आवै जोनी बाट ॥[6]

१—वही, पृ० २३२ २—वही, पृ० २३३ ३—बा० प० १२६
४—वही, १९७ ५—वही, १५६ ६—वही, ३४८

भगवान तो हृदय में ही हैं, कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं, परंतु जब गुरु की कृपा होती है और वे ज्ञान देते हैं तभी भगवान से भेंट होती है—

कहै कबीर कृपा भई गुरु ग्यान कहा समुझाइ।
हिरदै श्री हरि भेटिए जे मन अनतै नहिं जाइ॥[1]

हृदय-सरोवर में हरि-जल भरा रहने पर भी प्यासे जीव को बिना युक्ति के वह जल प्राप्त नहीं होता, पर गुरु के उपदेश से सहज ही उसकी तृषा बुझ जाती है—

सरवरि तटि हंसिनी तिसाई। जुगति बिना हरिजल पिया न जाई।
कहै कबीर गुरु बुधि बताई। सहज सुभाइ मिले राम राई॥[2]
दुभर पनिया भख्या न जाई। अधिक तृषा हरि बिन न बुझाई॥
गुरु उपदेस भरी ले नीरा। हरषि हरषि जल पिवै कबीरा॥[3]

इस संसार में मनुष्य घूम-घूमकर पतंग के समान मायारूपी दीपक पर गिरते और नष्ट होते हैं। केवल गुरु की कृपा से एकआध जन उससे बच जाते हैं—

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवैं पड़ंत।
कहै कबीर गुरु ग्यान थैं, एक आध उबरंत॥[4]

गुरु जब प्रसन्न होते हैं तो कुछ ऐसा ज्ञान देते हैं कि विषयों के पीछे दौड़ते हुए मन की सारी चंचलता नष्ट हो जाती है[5], प्रेम की बर्षा से सारे अंग भीग जाते हैं[6], पूर्ण परमात्मा से परिचय होकर सारा दुःख दूर हो जाता है और आत्मा शुद्ध हो जाने से निरंतर राम का दर्शन होता रहता है।[7]

यह स्वाभाविक है कि राम का साक्षात्कार वही करा सकता है जो स्वयं राम को पा चुका हो, और जो राम को पा चुका वह रामरूप ही है। इसी से

१—वही, ३०० २—वही, २९८ ३—वही, १४० ४—वही, सा० १।२०
५—बा० सा० १।९ ६—वही, १।३३ ७—वही, १।३५

कबीर गुरु और परमात्मा में भेद नहीं करते—'गुरु गोविंद तौ एक है, दूजा यहु आकार'। गुरु नर-रूप में परमात्मा ही है।

इस संसार में यदि कोई बड़ी से बड़ी गुरु-दक्षिणा देकर गुरु से उऋण होना चाहे तो यह उसकी मूर्खता होगी, क्योंकि गुरु तो रामनाम रूपी ऐसा अमूल्य हीरा देता है जिसके तुल्य संसार में कुछ है ही नहीं—

रामनाम के पटंतरै, देबे कौं कछु नाहिं।
क्या ले गुरु संतोषिए, हौंस रही मन माँहिं॥[१]

इस संसार में गुरु को प्राप्त करना भी कोई सहज बात नहीं है। सभी भक्ति-संप्रदायों में यह विश्वास किया जाता है कि भगवान गुरु की कृपा से ही मिलते हैं, परंतु उसके साथ यह भी अति विचित्र बात है कि भगवान की कृपा के बिना गुरु नहीं मिल सकते। कबीर भी यही कहते हैं कि जब भगवान की कृपा होती है तभी गुरु मिलते हैं—

जब गोविंद कृपा करी तब गुरु मिलिया आइ॥[२]

गुरु का इतना गौरव और माहात्म्य होने पर भी कबीर ने यह भ्रम होने का कोई कारण नहीं रहने दिया है कि गुरु ऐसे व्यक्ति को भी उबार सकता है जो उसका शब्द सुनना ही नहीं चाहता। जैसे वर्षा के जल से सूखा काठ अंकुरित नहीं हो सकता उसी प्रकार गुरु द्वारा बरसाया हुआ भगवत्प्रेम का जल विषय-विमूढ़ लोगों के ऊपर अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सकता—

हरिया जाणैं रूखड़ा, उस पाणीं का नेह।
सूका काठ न जांणई, ऊपरि बरस्या मेह॥[३]

विषयों के स्वाद में आसक्त मन गुरु का शब्द सुनने को तैयार ही नहीं होता—

१—वही, १।४ २—वही, १।१३
३—बा० सा० ५५।१

> कोटि करम करै पलक में, यहु मन विषया स्वादि ।
> सतगुर सबद न मानई, जनम गँवाया बादि ।।'

इसीलिये कबीर कहते हैं कि यदि शिष्य ही में चूक हो तो गुरु बेचारा क्या कर सकता है—'सद्‌गुरु बपुरा क्या करै, जो सिष ही माहें चूक ?' ऐसे शिष्यों पर गुरु का सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता है । इसलिये वे गुरुओं को भी सचेत करते हैं कि घर घर घूमकर उपदेश देने और शिष्य बनाने की आवश्यकता नहीं । जिसके हृदय में व्याकुलता होगी वही गुरु के वचन का आदर करेगा, और वह गुरु को स्वयं ढूँढ़ भी लेगा । दूसरे शब्दों में, जिसकी भगवान की ओर प्रवृत्ति होगी वही गुरु में श्रद्धा रख सकेगा और जिसकी गुरु में श्रद्धा है वही गुरुज्ञान के द्वारा भगवान को पा सकेगा ।

संसार में लोभी गुरुओं और अयोग्य चेलों की कमी नहीं है । ऐसे गुरु-चेलों से कबीर ने बराबर सावधान रहने के लिये कहा है । जैसे एक अंधा दूसरे अंधे को मार्ग दिखलाने जाता है और सामने कुआँ पड़ने पर दोनों ही उसमें गिर जाते हैं, उसी प्रकार अयोग्य गुरु और अनधिकारी शिष्य दोनों ही पापगर्त में पतित हो नष्ट हो जाते हैं ।[2] गुरु-शिष्य के बीच लोभ और स्वार्थ का संबंध होना पत्थर की नाव पर चढ़ने के समान है, निश्चय ही दोनों डूब जायँगे ।[3]

(४) संतों की संगति

'संत' के लिये कबीर ने साध, साधू, दास, भगत, हरिजन तथा वैष्णव शब्दों का भी प्रयोग किया है । अभिप्राय भगवान के भक्त से है । जिनके हृदय में हरि की प्रीति है ऐसे संतों की संगति भक्ति की सिद्धि में सदा सहायक होती है । सदा संतों का संग करने से अनायास संसार से वैराग्य और राम से प्रेम हो जाता है । भक्तिपथ के लिये अन्य कोई संबल हो या न हो, पर यदि संतों की संगति प्राप्त हो गई है तो सफलता में संदेह नहीं किया

१—बा० सा० १३।१८ २—बा० सा० १।९५ ३—बा० सा० १।२६

जा सकता, क्योंकि इसी के द्वारा अन्य सब आवश्यक साधन भी बिना प्रयास जुट जाते हैं। अन्य साधनों की सफलता में संदेह भी हो, पर साध-संगति कभी निष्फल हो ही नहीं सकती।

कबीर संगति साध की, कदे न निरफल होइ।[1]

इसी कारण कबीर ने इसको बहुत प्रधानता दी है।[2]

सब लोग बैकुंठ की बातें करते हैं पर कबीर साध-संगति को ही बैकुंठ बतलाते हैं—साध संगति बैकुंठहि आहि।[3] उनका ऐसा कहना अकारण नहीं, क्योंकि बैकुंठ तो वही है जहाँ भगवान का निवास हो, भगवान का निवास-स्थान संतों या भक्तों का हृदय है।

कबीर ने गुरु को परमात्मा का रूप माना है और गुरु की कृपा तथा संतों की संगति को प्रायः समान महत्त्व दिया है।

गुरु प्रसाद साध की संगति तहाँ परम पद पाया।[4]
साध की संगति अरु गुरु की कृपा थैं पकड़ौ गढ़ कौ राजा॥[5]

और कहीं-कहीं गुरु का भी नाम लेकर उनके स्थान में संत को ही रक्खा है—

नांव जिहाज खेवैया साधू उतरे दास कबीरा।[6]

परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उन्होंने गुरु का महत्त्व कुछ कम कर दिया है और इस प्रकार अपनी ही उक्ति का खंडन किया है। वास्तविक बात यह है कि गुरु भी तो कोई 'सापीभूत' संत ही होता है। संतों की संगति में रहने से हृदय और आचरण की शुद्धता तो होती ही है, उन्हीं में से कभी कोई ऐसा विशिष्ट संत भी मिल जाता है जो स्वयं कृपाकर युक्ति बताकर बेड़ा पार लगा देता है।

१—ग्रा० सा० २८।१
२—ग्रंथ, साधमहिमा तथा साध साषीभूत कौ अंग।
३—ग्रा० प० २४
४—वही, प० २६९
५—वही, प० ३५९
६—वही, १८९

संतों का आचरण

निर्वैरता, निष्कामता, भगवान में प्रीति और विषयों से वैराग्य—ये ही संक्षेप में संतों के लक्षण हैं—

निरबैरी निहकामता, सांई सेती नेह।
विषिया सूं न्यारा रहै, संतन का अंग एह ॥[१]

जिसका ऐसा आचरण नहीं है वह संत नहीं हो सकता। परंतु पूछा जा सकता है कि जिनका ऐसा आचरण दिखाई पड़े, क्या वे सभी संत हैं? ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि कोई सिद्ध पाखंडी भी स्वार्थ-साधन के लिये बाह्यतः संतों का सफल अनुकरण करके अपने मिथ्या आचरण द्वारा मूढ़ों की अंध-श्रद्धा का उपार्जन कर सकता है। प्रेम तो हृदय की वस्तु है। हृदय में भगवान का प्रेम है या नहीं, इसका पता कैसे चल सकता है? कबीर इसकी एक सरल पहचान बतलाते हैं। सांसारिक जनों की परस्पर प्रीति किसी न किसी स्वार्थ के वश होती है। बिना स्वार्थ का प्रेम ईश्वरीय ही होता है। भगवान सभी जीवों से निस्स्वार्थ प्रेम करते हैं अतः जिनके हृदय में भगवान की प्रीति है वे भी सबसे निस्स्वार्थ प्रेम करते हैं। इस प्रकार जो बिना किसी स्वार्थ के सबसे प्रेम और आदर का व्यवहार करे उसे भगवान का सच्चा भक्त समझना चाहिए—

स्वारथ को सब को सगा, जग सगला ही जाणि।
बिन स्वारथ आदर करै सो हरि की प्रीति पिछांणि ॥[२]

पर यह लक्षण बताना भी अनावश्यक ही है, क्योंकि जिसके हृदय में हरि प्रकट हो गए वह व्यक्ति क्या छिपा रह सकता है? वह तो लाख यत्न कर छिपाने से भी प्रकाशित हो ही जाता है। जैसे आँख से सूर्य का प्रकाश छिपा नहीं रह सकता उसी प्रकार हृदय स्वयं हरिभक्त को पहचान लेता है—

१—क० ग्रं० २९।१ २—वही, २९।१५

जिहि हिरदै हरि आइया, सो क्यूं छानां होइ।
जतन जतन करि दाबिए, तऊ उजाला होइ॥*

भगवान

यहाँ तक कबीर की भक्ति के संबंध में विचार किया गया। अब प्रश्न यह उठता है कि कबीर किसकी भक्ति करते हैं, उनका भजनीय या उपास्य कौन है? उसके नाम, रूप, गुण आदि का परिचय उन्हें होना ही चाहिए, नहीं तो उसकी भक्ति कैसे की जा सकती है? परंतु स्वयं कबीर तो यह कहते हैं कि वह अलक्ष्य और अकथ्य है। जैसे आकाश में उड़ते हुए पक्षी अथवा जलराशि के भीतर गतिमान मीन की पथरेखा अलक्ष्य रहती है, अतः किसी लक्षण से उसका परिचय देना कठिन है, उसी प्रकार उस अगुण अरूप अपरंपार का स्वरूप क्या है यह बतलाने का कोई उपाय नहीं—

पैर बिन निरति करां बिन बाजै जिभ्या हीणां गावै।
गावणहारे के रूप न रेखा सतगुरु होइ लखावै॥
पंखी का खोज मीन का मारग कहै कबीर बिचारी।
अपरंपार पार परसोतम वा मूरति की बलिहारी॥

—बानी, पद १६५

अपरंपार उपजै नहिं बिनसै। जुगति न जानिए कथिए कैसे॥

—क० ग्रं०, पृ० २३०

जैसा कहकर उसका परिचय दिया जाता है वैसा वह नहीं है, वह तो जैसा है वैसा वही है अर्थात् और कोई वस्तु वैसी नहीं जिसके सादृश्य से उसका परिचय दिया जा सके। ऐसी अवस्था में बुद्धिसंगत बात तो यही होती कि उसके विषय में कुछ कहने का व्यर्थ प्रयास न किया जाता। परंतु भक्त लोग तो परमात्मा को अनाम, अरूप, अगुण और अकथ्य बताकर भी उसके

* वही, २९।१६

नाम, रूप और गुण के कथन में ही अपना जीवन सफल मानते हैं। तो क्या यह पागलपन है ? नहीं। सुंदरदास तो कथन-श्रवण को स्वरूप-ज्ञान के लिये आवश्यक बतलाते हैं—कहिबो सुनिबो तौ लौं ज्ञान उपजै न जहाँ लौं। कबीर के कथनानुसार कथन-श्रवण से भक्तों को सुख उत्पन्न होता है और परमार्थ होता है—

> जस कथिए तस होत नहिं, जस है तैसा सोइ।
> कहत सुनत सुख ऊपजै, अरु परमारथ होइ॥

—क०, ग्रं०, पृ० २३०

कबीर के भगवान भक्तवत्सल, दीनदयाल, करुणामय, सर्वसुखदाता हैं। वे संपूर्ण विश्व को रचनेवाले और सबकी सुधि लेनेवाले हैं। वे दुखभंजन और दुरितनिकंदन हैं।[1] बड़े-बड़े पापी भी उनकी शरण में जाते हैं तो वे उन्हें क्षमा कर भवसागर के पार उतार देते हैं। परंतु उनके इन गुणों के वर्णन से कबीर का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि उनका परमात्मा सातवें आस्मान या स्वर्ग आदि किसी लोक-विशेष का निवासी है अथवा राम, कृष्ण आदि में से किसी अवतार-विशेष के रूप में लीला कर भक्त-रंजन करनेवाला है। बैकुंठ का तो वे मज़ाक उड़ाते हैं।[2] इसलामी निराकार ईश्वर के संबंध में आगे लिखा जायगा। अवतारों के विषय में वे कहते हैं कि परमात्मा ने न वाराहावतार धारण कर धरणी का उद्धार किया, न सीता से विवाह किया, न कंस-वध किया इत्यादि। अर्थात् भगवान के जितने अवतारों और चरित्रों का वर्णन किया जाता है उनमें से एक भी भगवान का नहीं है-

> ई सब काज साहब के नाहीं झूठ कहै संसारा।[3]

१—बानी, पद १९१, २४८, २६७, २९७, १०३, २६१, ११६

२—राम मोहिं तारि कहाँ लै जैहौ।
सो बैकुंठ कहौ धूँ कैसा करि पसाव मोहिं दैहौ। बा० प० ५२

३—बी० श० ८

वह कृपालु प्रभु सबका रक्षक है और काल की सीमा के बाहर है अतः न वह किसी का संहार करता न स्वयं मरता और न कहीं आता जाता है। जिन अवतारों को कर्त्ता समझ कर पूजते हैं वे तो सब उत्पत्ति विनाश शील हैं। अतः उनके कार्यों को परमात्मा के कार्य कहना असत्य है। जो आने-जाने वाला अर्थात् उत्पत्ति विनाश-शील है वह सब माया है। दशावतार ईश्वरीय माया के ही कार्य हैं—

संतो आवै जाय सो माया।
है प्रतिपाल काल नहिं वाके नो कहुँ गया न आया।

× × ×

दस अवतार ईसरी माया कर्ता कै जिनि पूजा।
कहै कवीर सुनहु हो संतो उपजै रूपै सो दूजा ॥[१]

कबीर कहते हैं कि लोगो, तुम जो भगवान को नंद का नंदन कहते हो सो वह नंद किसका नदन था? और जब धरती आकाश कुछ नहीं थे तब यह नंद कहाँ था? जिसका नाम निरंजन (माया के प्रभाव से बाहर), वह जन्म-मरण के संकट में भला क्यों पड़ेगा? वह तो अविनाशी है, सत लोग उसी के सुयश का वर्णन करते हैं—

लोका तुम ज कहत हौ नंद कौ नंदन नंद कहौं धूं काको रे।
धरनि अकास दोऊ नहीं होते तब यहु नंद कहां थौ रे ॥
जामैं मरै न संकुटि आवै नांव निरंजन जाकौ रे।
अबिनासी उपजै नहिं बिनसै संत सुजस कहैं ताकौ रे ॥[२]

तीनों लोकों में दशरथ-पुत्र राम का गुणगान किया जाता है, परंतु मैं जिस रामनाम की बात कहता हूँ उसका मर्म कुछ और ही है—

१—बी० श० ८

२—ग्रा० प० ४८

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। रामनाम का मरम है आना ॥[१]

संसार का संपूर्ण विस्तार अंजन (माया) है और निरंजन राम उससे न्यारा है। बिरला ही कोई अंजन के प्रसार को छोडकर निरंजन से प्रेम करता है।[२] पर वह निरंजन प्रभु कैसा है इसका तो जैसा पहले कहा जा चुका है, कुछ वर्णन ही नहीं किया जा सकता।

कबीर परमात्मा को निराकार और निर्गुण कहते हैं और उस निर्गुण निराकार निरंजन की भक्ति से ही मुक्ति बतलाते हैं—

ते नहिं डूबे पार तिरि लंघे निर्गुण अगुण संग करै।[३]
अंजन उतपति बरतनि लोई। बिना निरंजन मुक्ति न होई।[४]

निर्गुण राम का मर्म कोई नहीं जानता पर वे ही अपने भक्तों के आश्रयदाता हैं।[५] गुणी और पंडित सब सगुण लीला का ही गान करते हैं, निर्गुण को कोई नहीं बतलाता।[६] परंतु कबीर के मतानुसार सगुण और साकार की भक्ति करने से गुण और आकार से मुक्ति नहीं मिल सकती, क्योंकि सेवक जिसकी सेवा करता है उसी को वह प्राप्त होता है। अपने सगुण और साकार इष्ट तक ही उसकी पहुँच है, उसके आगे वह नहीं जा सकता—

आकार की ओट आकार नहिं ऊबरै
सिव बिरंचि अरु विष्णु ताईं।
जास का सेवक तास कौं पाइहै
इष्ट कौं छांडि आगे न जांहीं।

१—बी० श० १०९

२—राम निरंजन न्यारा रे अंजन सकल पसारा रे।

× × ×

कहै कबीर कोई बिरला जागै, अंजन छाँड़ि निरंजन लागै।—बानी, पद ३३६

३—वही, पद १८३

४—वही, पद ३३७

५—वही, पद ४९

६—वही, पद १८६

गुणमयी मूरति सेइ सब भेख मिलि
निर्गुण निजरूप बिस्राम नाहीं।[१]

निर्गुण निरंजन निराकार का पद ऐसा अद्भुत और अनुपम है कि उसके वर्णन से संदेह होने लगता है कि वहाँ कुछ है भी या शश शृंग की भाँति केवल धोखा ही है। वहाँ न उदय है न अस्त है; न सूर्य है न चंद्र है; न समुद्र, न पहाड़; न धरती, न गगन; न पवन, न नाद, न बिंदु; न पाप, न पुण्य; न शिव, न शक्ति; न वेद, न व्याकरण।[२] कुछ भी तो वहाँ नहीं है। फिर जहाँ कुछ है ही नहीं वहाँ भक्त और संत जन किसके लिये व्यर्थ टक्कर मारते हैं? ऐसा संदेह करनेवालों को ही सुनाकर मानो व्यंग पूर्वक कबीर अपने आराध्य से पूछते हैं—निरंजन प्रभु, तुम्हीं बतला दो न कि जहाँ तुम निवास करते हो वहाँ कुछ है कि शून्य ही है?

कहै कबीर जहाँ बसहु निरंजन तहाँ कछु आहि कि सुन्य।[३]

क्योंकि स्वयं कबीर के लिये निर्गुण, निराकार अथवा निरंजन, शून्य वा अभावरूप कदापि नहीं है। वस्तुतः वह परम ज्योतिस्वरूप है। वहाँ सूर्य, चंद्र नहीं हैं, फिर भी वहाँ 'चाँद बिहूणां चांदणां' और 'रवि ससि बिना उजास' है। और वह 'उजास' भी कैसा, कि मानो अगणित सूर्यों की श्रेणी एक साथ ही उदित हो गई हो—'मानो ऊगी सूरज सेणि'। उस पारब्रह्म की तेजोमयी शोभा कहने की वस्तु नहीं है। बिना देखे उसको अनुमान से समझ लेना संभव नहीं, यद्यपि इन चर्मचक्षुओं से वह देखा भी नहीं जा सकता।[४]

एक-भक्ति

कबीर केवल एक राम के भक्त हैं, अन्य किसी देव से उन्हें कोई प्रयोजन

१—वही, पद १९९
२—बा० प० २१९, २२०
३—वही, पद १६४
४—वही, परचा कौ अंग ;

नहीं—'जौ जांचूं तौ केवल राम । आन देव सूं नाहीं काम ।'[१] केवल एक राम ही सत्य है, और अन्य कुछ भी नहीं । उस परम सत्य के नाम के संबंध में कबीर को कोई आग्रह नहीं है, चाहे उसे राम कहो अथवा रहीम, करीम, अल्लाह, केशव आदि । अल्लाह आदि नाम सब राम ही के हैं—

हमारे राम रहीम करीमा केसौ अलह नाम सति सोई ।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै और न दूजा कोई ॥[२]

परंतु इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि कबीर के राम वही अल्लाह या खुदा हैं जो इसलाम का सर्वस्व है । इसलाम भी एक ही ईश्वर को मानता है, पर कबीर के लिये राम जैसे दशरथ-पुत्र अवतारी राम, अथवा मंदिर या मूर्त्ति में रहनेवाले राम नहीं उसी प्रकार अल्लाह सातवें आसमान या मसजिद में निवास करनेवाला अल्लाह नहीं । उनका स्वामी एक होकर भी घट-घट में समाया हुआ है—

मुसलमान का एक खोदाइ । कबीर का स्वामी घट-घट रहा समाइ ।[३]

घट ही में नहीं, वह तो भीतर बाहर दसों दिशाओं में सर्वत्र व्याप्त हो रहा है । इसीलिये वे मुल्ला को संबोधित कर कहते हैं—

मुल्ला कहा पुकारै दूरि । राम रहीम रह्या भरपूरि ।[४]

कबीर एक परमात्मा को मानते हैं यह ठीक है, और उसका नाम राम, रहीम, ब्रह्म, विष्णु, निरंजन, केशव जो कुछ भी रखा जाय इसकी उन्हें परवाह नहीं है, क्योंकि इससे उसकी एकता और स्वरूप में कोई अंतर नहीं पड़ता; तथापि भिन्न-भिन्न मतों द्वारा स्वीकृत ईश्वर के नामों के साथ जो गुण, आकार आदि का संबंध लगा हुआ है उसे वे एकदम अस्वीकार करते हैं । अपने निर्गुण, निरंजन, निराकार, सर्वघटव्यापी, दयालु एक परमात्मा तथा गुण-

---

१—वही, पद २४०   ३—वही, पद ५८
२—वही, पद २१०   ४—वही, पद ६०

आकार-देश काल-परिच्छिन्न अन्य किसी एक ईश्वर के अंतर को, चाहे वह ईश्वर राम हो या अल्लाह, कबीर भली भाँति समझते हैं, उसमें उन्हें तनिक भी संदेह नहीं है। यह कथन कि वे हिंदू अवतारवाद और मुसलमानी एकेश्वरवाद में किसी प्रकार का समझौता कराने का यत्न करते थे, नितांत निर्मूल है। न उक्त दोनों में से किसी एक का उनके व्यापक राम से ही मेल खाना किसी प्रकार संभव था, इसे भी वे भली भाँति समझते थे। इसीलिये जब वे परमात्मा को राम, रहीम या अन्य किसी नाम से पुकारते हैं तो इन नामों के साथ परंपरा से जो गुण-आकार आदि संबद्ध हैं वे भ्रम से कबीर के स्वामी के गुण-आकार न समझ लिए जायँ, इस कारण वे ऐसा समझनेवाले 'भोंदुओं' को तुरंत सावधान कर देते हैं—

राम रहीम जपत सुधि गई। उनि माला उनि तसबी लई॥
कहै कबीर चेति रे भौंदू। बोलनहारा तुरक न हिंदू॥[१]

फिर भी जब उनकी बात लोग नहीं समझ पाते तो वे कभी कभी मानों खीझ कर कह देते हैं कि भाई, जिस हिंदू-तुरुक के एक कर्ता की बात हम कहते हैं, बार बार समझाने पर भी हिंदू तुरुक उसे नहीं समझ पाते और वे देश-काल-परिच्छिन्न ईश्वर का ही ग्रहण कर सकते हैं, तो छोड़ो इस झंझट को, तुम अपनी राह चले चलो—

हिंदू तुरक का करता एकै ता गति लखी न जाई।
कहै कबीरा दास फकीरा अपनी रहि चलि भाई॥[२]

कबीर की इन उक्तियों से इस बात में तनिक भी संदेह नहीं रह जाता कि वे एक भक्त अवश्य हैं, पर मुसलमानी एकेश्वरवाद से उनकी एकभक्ति का कोई संबंध नहीं है।

१—वही, पद ५६ २—वही, पद ५८

ईश्वर का सर्वव्यापकत्व और अंतर्यामित्व

कबीर के राम केवल दसों दिशाओं में सर्वत्र बाहर ही नहीं स्थित हैं। उनके सिद्धान्त के अनुसार वह एक परमात्मा तत्-तत् रूपों को धारण किए हुए सभी वस्तुओं के भीतर काष्ठ में अग्नि की भाँति व्याप्त है और रूपों के नष्ट हो जाने पर भी वह स्वयं नष्ट नहीं होता—

जैसैं बाढ़ी काष्ठहिं काटै अगनि न काटै कोई।
सब घट अंतर तू ही व्यापक धरे सरूपै सोई ॥[1]

संसार के व्यक्त आकारवान् पदार्थ सभी नष्ट हो जायँगे। अविचल ध्रुवतारा भी नहीं रहेगा। सूर्य, चंद्र की भी बारी आएगी। पर सबका अंत हो जाने पर भी वह व्यापक निराकार परमात्मा सदा वर्तमान रहेगा—

धू अविचल नहिं रहसी तारा। चंद सूर की आइसी बारा ॥
कहै कबीर देखि संसारा। पड़सी घट रहसी निरकारा ॥[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कबीर के सर्वघटवासी परमात्मा की एकता अनेक में से किसी विशिष्ट एक की एकता नहीं, वरन् समस्त भिन्न अनेकों की तात्त्विक और मौलिक एकता है। बाहर जो परस्पर भिन्न नाना रूप दिखाई देते हैं वे सब उस एक परमात्मा के ही अनेक रूप हैं। वस्तुतः एक के अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं। अतः कबीर के लिये दो या अनेक ईश्वरों (राम, अल्लाह आदि) में से केवल एक को सबसे बड़ा मान लेने का प्रश्न ही नहीं है। वे तो 'एक' कहकर उसी सर्वव्यापक परमात्मा का निर्देश करते हैं जिसे वे तत्त्वतः एक ही जानते हैं—

हम तौ एक एक करि जाना
दोइ कहैं तिनही कौं दोजग जिन नाहिंन पहिचाना।[3]

१—बानी, पद ५५ २—वही, २४७ ३—वही, ५५

भीतर बाहर सर्वत्र विद्यमान ऐसे परमात्मा के लिये इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं। सब लोग उसे बाहर मंदिर, मसजिद, काबा, काशी, जंगल, गुफा आदि में ढूँढते हैं, पर कबीर कहते हैं कि जिस परमात्मा को तुम बाहर ढूँढ़ते हो वह तो तुम्हारे हृदय में ही है, फिर दूर जाने की आवश्यकता ही क्या? अपने अभ्यंतरवासी हरि से ही क्यों नहीं अपने जी की बात कहते?

जा कारनि तटि तीरथ जाहीं।
रतन पदारथ घट ही माहीं॥[1]
कहै कबीर रहु संग साथ।
अभिअंतर हरि सूँ कहौ बात॥[2]

कबीर तो उस अंतर्यामी से ही दर्शन देने के लिये प्रार्थना करते हैं—

हूँ तेरा पंथ निहारूँ स्वामी। कबरे मिलहुगे अंतरजामी॥[3]

आतमराम

अब तक कबीर के परमात्मा के संबंध में जो कुछ कहा गया उससे यह धारणा होना अस्वाभाविक नहीं है कि यद्यपि परमात्मा एक है और वह सर्वभूत में अखंड रूप से व्यापक है तथापि आत्मा से वह भिन्न है, कबीर का तात्पर्य आत्मा और परमात्मा की एकता से नहीं है। परंतु बात ऐसी नहीं है। इनके आराध्य की यह विलक्षणता अन्य सभी विलक्षणताओं से बड़ी जान पड़ेगी कि उसकी एकता आत्मा और परमात्मा की भी एकता है। आत्मा परमात्मा से अत्यंत अभिन्न है, वस्तुतः दोनों एक ही हैं। कबीर ने इसीलिये अपने राम को 'आतमराम' भी कहा है—

कौन विचार करत हौ पूजा।
आतमराम अवर नहिं दूजा॥[4]

१—ग्रा० प० ४२ २—वही, ३८४ ३—वही, २२४ ४—वही, १२५

आपा पर समि चीन्हिए, तब मिलै आतमा राम।

का नांगे का बांधे चाम।
जौ नहिं चीन्हसि आतमराम॥

क्या है तेरे न्हाई धोई। आतमराम न चीन्हा सोई॥

यह संदेह किया जा सकता है कि राम रहीम आदि अनेक नामों की भाँति आतमराम या आत्म-राम को भी कबीर ने परमात्मा का एक नाम स्वीकार कर लिया होगा, वस्तुतः आत्मा और परमात्मा को वे एक ही नहीं मानते थे। परंतु ऐसे संदेह के लिये भी कबीर ने अवकाश नहीं छोड़ा है। दृष्टांतों द्वारा उन्होंने पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा और परमात्मा की एकता दो भिन्न वस्तुओं में सामान्यलक्षणा नहीं, प्रत्युत पूर्ण एकता है। वह दो की एकता नहीं, एक की ही एकता है। जैसे जलाशय के भीतर डूबे हुए घड़े के भीतर और बाहर एक ही जल है, जैसे दर्पण में का प्रतिबिंब अपने बिंब से भिन्न नहीं है और जैसे घट के भीतर के आकाश और बाहर दसों दिशाओं में फैले हुए आकाश में कोई अंतर नहीं है, उसी प्रकार सर्व-व्यापक आनंदमूल पुरुषोत्तम तथा इस शरीर के भीतर का आत्मा दोनों एक ही हैं। जैसे घटादि क्षणिक व्यवधानों के नष्ट होने पर जलादि में दिखाई देने-वाले बाह्य भेद नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार वासनामय शरीर के न रहने पर आत्मा और परमात्मा में दिखाई देनेवाला भेद भी समाप्त हो जाता है—

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यहु तत कथौ गियानी॥

ज्यूँ बिंबहिं प्रतिबिंब समाना उदिक कुंभ बिगराना।
कहै कबीर जानि भ्रम भागा, सीवहि जीव समाना॥

आकाश गगन पाताल गगन दसौं दिस गगन कहाईले।
आनंदमूल सदा परसोतम घट बिनसे गगन समाईले ॥[1]

भगवान की शक्ति

आत्मा और परमात्मा का अभेद सत्य है। परंतु जान ऐसा पड़ता है कि संसार में मैं, तू और वह का व्यावहारिक भेद ही नित्य सत्य है, वह कभी दूर नहीं हो सकता। आत्मा और परमात्मा के बीच पर्दा डालकर दोनों को इस प्रकार पृथक् प्रतीति करानेवाली शक्ति माया है। यह माया, जैसा पहले कहा जा चुका है, सत-रज-तम रूपी, त्रिगुणात्मिका है (पृ० १५१) सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय का वास्तविक कारण यही है, क्योंकि राम तो निर्गुण, अतएव निष्क्रिय और अविकारी हैं। समस्त विकार और कार्य गुण के हैं और गुण माया के हैं। राम को जो विश्व का कर्ता कहा जाता है वह केवल 'बोलन सुख' अर्थात् कथन-श्रवण में व्यावहारिक सुगमता के लिये—

नैनां बैन अगोचरी, श्रवना कथनी सार।
बोलन सुख के कारनै, कहिए सिरजन हार ॥[2]

यद्यपि मायाकृत समस्त भेद रस्सी में सर्प की भाँति असत्य हैं (रज्जु कहं जथा उरग सम पेखा) तथापि त्रिगुणात्मिका प्रकृति रूपी माया स्वयं असत्य नहीं है। इसी की सत्ता से निर्गुण सगुण तथा निष्क्रिय कर्ता बना हुआ है। परंतु यह सत्ता स्वतंत्र नहीं है, माया राम के ही अधीन है, राम की ही है—

राम तेरी माया दुंद मचावै।[3]
तू माया रघुनाथ की खेलन चली अहेड़ै।[4]
कहै कबीर कछु समुझि न परई विषम तुम्हारी माया।[5]

१—वही, २९२ २— क० ग्रं०, पृ० २४१
३—बी० श० १३ ४—बा० प० १८७ ५—वही, १९२

गुणमयी माया और निर्गुण राम का संबंध ऐसा विचित्र है कि उसके कारण राम का स्वरूप-कथन करने में सदैव धोखा होता है। गुण में निर्गुण और निर्गुण में गुण इस प्रकार मिले हुए हैं कि राम का शुद्ध और पूर्ण स्वरूप न ग्रहण कर लोग माया में ही भटक जाते हैं—

संतो धोखा कासूं कहिए।
गुणमें निरगुण निरगुण में गुण (है) बाट छांड़ि क्यूं बहिए।[१]

कहना चाहिए कि माया भगवान की शक्ति है, और यदि शक्तिमान् के बिना शक्ति की, मायी के बिना माया की, सत्ता नहीं है तो शक्ति के बिना शक्तिमान् की, माया के बिना मायी की भी सत्ता नहीं है। माया और मायी का नित्य संबंध है। अपनी माया-शक्ति का विस्तार कर उसी में अपने को छिपा कर आनंद-स्वरूप मायी राम स्वयं अपने-आप से क्रीड़ा करता है—

सतरज तम थैं कीन्हीं माया। आपन मांझै आप छिपाया ॥[२]
इन में आप आप सबहिंन में आप आप सूं खेलै।[३]

मुक्ति

आत्मा और परमात्मा एक ही हैं पर माया के कारण जीव अपने को परमात्मा से भिन्न समझकर मायाकृत शरीर और संसार से ही अभिन्नता स्थापित कर लेता है। यही उसके दुःख का मूल कारण है। माया भगवान की ही है, अतः भगवान की कृपा के बिना उसका प्रभाव दूर नहीं हो सकता। जब भगवान की कृपा होती है तभी जीव उससे वियोग की व्याकुलता का अनुभव करता है। बीच में जो माया का व्यवधान आ पड़ा है उसे नष्ट कर वह फिर उससे एक हो जाना चाहता है, अर्थात् अपने शुद्ध पूर्ण आनंद-स्वरूप का अनुभव करना चाहता है। हरि-गुरु-कृपा से जब भक्ति सिद्ध हो जाती है

१—वही, १८० २—क० ग्रं०, पृ० २२५ ३—बा० प० १८६

तब उस अवस्था का अनुभव होने लगता है। उस अवस्था में पहुँचकर कबीर फिर राम से एक होकर कह सकते हैं—

हम सब मांहि सकल हम मांहीं। हम थैं और दूसरा नाहीं ॥
× × ×
तीन लोक में हमरा पसारा। आवागमन सब खेल हमारा ॥
षट दरसन कहियत हम भेषा। हमही अतीत रूप नहीं रेषा ॥
हमहीं आप कबीर कहावा। हमहीं अपना आप लखावा ॥[1]

आपा और पर (अहं और तत्) का भेद मिट जाने पर कबीर और राम एक ही हो जाते हैं। त्रिगुण का प्रभाव दूर हो जाने पर फिर उन्हें चाहे कबीर कहो चाहे राम, एक ही बात है—

सेई तुम सेई हम कहियत जब आपा पर नहीं जाना।[2]
त्रिगुन रहित फल रमि हम राखल तब हमरो नाम रामराई हो।
मैं सबनि मैं औरनि मैं हूं सब मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो।
कोई कहौ कबीर कोई कहौ राम राई हो ॥[3]

यही जीव की मुक्तावस्था है, क्योंकि माया का बंधन नष्ट हो जाने पर ही यह अवस्था प्राप्त होती है। यही आत्मा की शुद्ध और स्वाभाविक भेद-रहित निर्गुण निरंजन आनंद अवस्था है, अतः इसे सहज अवस्था भी कहते हैं।

जीवन्मुक्ति

राम से एकत्व अनुभव करने की उपर्युक्त मुक्तावस्था देह-त्याग के अनंतर ही प्राप्त हो, यह आवश्यक नहीं। कबीर तो इस शरीर के द्वारा ही उसे पाने के लिये व्याकुल होते हैं—

बिरहिनि ऊठै भी पड़ै दरसन कारनि राम।
मूवां पीछैं देहुगे, सो दरसन किहि काम ॥[4]

१—बा० प० ३३२ २—वही, २९२
३—वही, ५० ४—बा०, सा० ३।७

परंतु यह अवस्था अभेद की अवस्था है, अतः जब तक 'आपा' बना रहेगा, जब तक अहंभावना एकदम नष्ट नहीं हो जायगी, तब तक यह अवस्था आ ही कैसे सकती है? इस कारण इस जीवन में ही अपनी अहंभावना को मनुष्य सर्वथा मृत बना डाले, जीवनमृत हो जाय, तभी प्रभु का दर्शन संभव है। कबीर ने ऐसा करके ही प्रभु को पाया है—

> जो जीवत ही मरि जाने। तो पंच सयल सुख मानै॥
> कहै कबीर सो पाया। प्रभु भेटत आप गँवाया॥[1]

जब तक उनकी अहंभावना (मैं-पन) बनी हुई थी तब तक हरि नहीं मिले। अब जब हरि मिल गए तो वे स्वयं नहीं है अर्थात् अहंभावना नष्ट होकर हरि से एक हो जाने के कारण उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है—

> जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नांहिं।[2]

इसलिये वे यहाँ तक कह जाते हैं कि—

> अब मन रामहि ह्वै रहा, सीस नवाऊँ काहि?[3]

उनकी इस प्रकार की उक्तियों को उनके घोर अहंकार का उदाहरण बतलाना उनके साधना-तत्त्व का एक विपरीत अर्थ ग्रहण करना है।

समीक्षा

कबीर के वचनों के साक्ष्य से उनकी भक्ति-साधना का जो रूप खड़ा करने का प्रयत्न किया गया है उसके विषय में तीन मुख्य बातें विचारणीय हैं—(१) क्या उनकी भक्ति उनकी निज की साधना की स्वानुभूत वस्तु और एक संभव तथा संगत सिद्धांत है, अथवा सुनी-सुनाई बातों को जोड़कर बनाया हुआ एक बेढंगा ढाँचा मात्र? (२) वे परमात्मा को माता-पिता, स्वामी, दयालु, जगजीवन, सिरजनहार इत्यादि कहने के साथ-साथ उसे निर्गुण, निरंजन, निराकार भी

१—वही, पद २८२ २—बा० सा० ५।३५ ३—वही, २।८

बतलाते हैं, और कभी उसे सगुण और निर्गुण, हद और बेहद से परे अकथ्य और अनिर्वचनीय भी कहते हैं। क्या ऐसा परमात्मा भक्ति का विषय हो सकता है? (३) वे परमात्मा को आत्मा से अभिन्न बतलाते हैं। ऐसी अवस्था में भक्ति का अस्तित्व ही कहाँ रह जाता है; जब आत्मा-परमात्मा एक ही हैं तो कौन किसकी भक्ति करता है?

(१) पहली बात के संबंध में यह समझना चाहिए कि यदि किसी की अनुभूति की सचाई का विश्वास उसके वचनों से किया जा सकता है—और इससे बढ़कर दूसरा कोई साधन हो ही क्या सकता है?—तो यह मानना पड़ेगा कि कबीर की भक्ति उनके जीवनरस में घुली हुई उनकी निज की चीज है, इधर-उधर की सुनी-सुनाई बातों का चर्वण मात्र नहीं। कबीर के पदों के हृदय में पैठ सकने पर यह विश्वास करना असंभव हो जाता है कि वे सच्चे साधक नहीं, केवल एक पंथ-प्रवर्तक अथवा हिंदू-मुसलमान ऐक्य के नेता और सुधारक मात्र थे। उनका एक-एक शब्द ऐसा तीर की तरह बेधनेवाला है और उसमें दुनिया के दुरंगेपन के प्रति उनकी कठोरता, राम में उनका दृढ़ और अनन्य विश्वास, विरह की व्याकुल वेदना, मिलन की नाचती उमंग, योग की विलक्षण अनुभूतियाँ तथा मायामुक्त सहज रूप के अनुभव का उपमा-रहित आनंद—ये सब इतनी सचाई और सजीवता के साथ बोलते हैं कि उन्हें जूठन या उधार की वस्तु कहना केवल उपहासास्पद ही प्रतीत होता है। रही संभवता और संगति की बात, सो उसपर विचार करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हमारी साधारण परिभाषा के अनुसार संभव और संगत वही होता है जो बुद्धि और तर्क के विरुद्ध न हो। दूसरी ओर ऋषि-मुनि और संतजन यह कहते हैं कि उनका सहज अनुभव तर्कगम्य नहीं है—नैषा तर्केण मतिरापनेया[१]। भगवान की माया हमें सत्य को सत्य रूप में समझने नहीं देती[२], क्योंकि हम उसे तर्क से जानना चाहते हैं और माया तर्क-विरुद्ध है—सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते[३]। कबीर स्वयं यद्यपि

१—कठोपनिषद् १।२।९ २—भाग० २।९।३३ ३—वही, ३।७।९

बाह्य आचारों की आलोचना में सर्वथा बुद्धिवादी हैं, फिर भी अपने सहज अनुभव के संबंध में वे कोई दूसरा प्रमाण मानने को तैयार नहीं। उसमें वे तर्क की छूत नहीं लगने देते। ऐसा नहीं है कि वे उसे बुद्धि द्वारा लोगों को समझाने का प्रयत्न न करते हों। वे खूब समझाते हैं और समझाते-समझाते हैरान हो जाते हैं कि लोगों की मोटी अक्ल में उनकी बात नहीं आती, परंतु वे इसे अच्छी तरह समझते और अनेक बार कहते हैं कि उनके अनुभव अकथ्य हैं, वे मुँह से कहकर समझाने की चीज नहीं। यदि हम संतों के कथन की सचाई में अविश्वास ही करने पर न तुल गए हों तो उनके संबंध में अपनी शंकाओं को इस प्रकार सुलझा सकते हैं कि हम जिस बुद्धि और तर्क की कसौटी पर उनके अनुभवों को परखना चाहते हैं उसके अपने पैर नहीं हैं, हमारे प्रत्यक्ष अनुभवों के पैरों पर ही वे खड़े होते हैं। इस दृष्टि से प्रत्यक्ष अनुभव ही प्रधानतः प्रमाण ठहरते हैं। यदि हमने मिसरी नहीं खाई है तो जो लोग बड़ी तृप्त चेष्टा के साथ उसे मीठी बतलाते हैं उनके कथन को यदि हम आप्त न मानें तो भी किसी तर्क के बल से हम यह नहीं कह सकते कि वह मीठी नहीं होती, या मिर्च के समान चर्परी होती है। न हम यही कह सकते कि मनुष्य को जितने प्रकार के अनुभव हो सकते हैं उन सबको हम प्रत्यक्ष कर चुके हैं। और उधर कबीर ही नहीं, संसार के अनेक प्रसिद्ध संतों की वाणियाँ बहुत प्राचीन काल से इस बात की साखी दे रही हैं कि उनके अनुभव प्रत्यक्ष ही हैं। ऐसी अवस्था में यदि हम तर्क के द्वारा उनमें संगति न बैठा सकें तो इसमें उनका क्या दोष ?

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इससे तर्क की महत्ता या उपयोगिता कम हो जाती है। ज्ञान के मार्ग में तो हमारा संबल हमारी बुद्धि ही है। यदि उसी के द्वारा हम किसी बात को समझने-बूझने का प्रयत्न न करें तो और दूसरा साधन ही क्या है ? और यदि हमारा तर्क श्रद्धानीत है, अर्थात् केवल विरोध और खंडन में ही प्रवृत्त न होकर वास्तविक जिज्ञासा के साथ आगे बढ़ता है, तो वह किसी विशेष सत्य का प्रत्यक्ष कराने में भले ही

असमर्थ हो जाय, पर कम से कम उसके निकट तक पहुँचाने में सहायक तो अवश्य हो सकता है। तात्पर्य यह कि हम विलक्षण अनुभूतियों को भी श्रद्धा-नीत तर्क की कसौटी पर कस सकते हैं। ऊपर कबीर की भक्ति-साधना का जो रूप प्रस्तुत किया जा चुका है उसमें सामान्य बुद्धि और तर्क की दृष्टि से भी कोई असंगति या असंभवता दिखाई नहीं देती। परंतु उसे संभव और संगत कहने के पहले शेष दो शंकाओं पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

(२) कबीर की भक्ति-साधना में अस्वाभाविकता देखने का एक मुख्य कारण उनकी निर्गुण-भक्ति है। भारतीय साधना-परंपरा में निर्गुण-भक्ति का स्थान है या नहीं, यह हम अगले अध्याय में देखेंगे। यहाँ हमें केवल यह विचार करना है कि सामान्य बुद्धि और तर्क की दृष्टि से निर्गुण की भक्ति संभव है या नहीं, अथवा उसे स्वीकार करने में क्या बाधा है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसके उत्तर में विद्यारण्य स्वामी की "पंचदशी" से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत कर कबीर के जिज्ञासुओं को बहुत उपकृत किया है—

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्तेरसंभवः।
सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसंभवात्॥
अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमिति चेत्तदा।
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न च संभवेत्॥
वागाद्यगोचराकारमित्येवं यदि वेत्त्यसौ।
वागाद्यगोचराकारमित्युपासीत नो कुतः॥ (पंच० ९।५५—५७)

निर्गुण ब्रह्म गुणरहित, आकाररहित, अवर्ण और अगोचर है और मनुष्य का रागात्मक संबंध—प्रेम या भक्ति—सगुण, साकार और गोचर के ही साथ संभव है; इसी तर्क के आधार पर यह कहा जाता है कि निर्गुण की भक्ति का कोई अर्थ नहीं, वह असंभव, अस्वाभाविक और (कुछ आधुनिक विद्वानों की राय में) अभारतीय है। निर्गुण-सगुण का यह विवाद काफी पुराना है और हिंदी के भक्तिकाल में तो यह रामभक्त और कृष्णभक्त कवियों का प्रधान विषय

बन गया था। इसका कारण चाहे जो रहा हो, परंतु उपर्युक्त तर्क के मूल में संभवतः निर्गुण के अर्थ-ग्रहण में ही कुछ भ्रम अथवा सांप्रदायिक आग्रह रहा प्रतीत होता है।

विद्यारण्य स्वामी का स्पष्ट कथन है कि निर्गुण ब्रह्म की उपासना असंभव नहीं है। यदि कहो कि मन-वचन से अगम्य होने के कारण वह उपास्य नहीं है, तो ठीक इसी कारण से उसका ज्ञान भी तो संभव नहीं है। यदि वाणी आदि के द्वारा उसका आकार अगोचर होने पर भी वह ज्ञान का विषय हो सकता है, तो फिर उसकी उपासना क्यों नहीं की जा सकती?

इस सरल तर्क को समझने के लिये बहुत सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता नहीं है। हृदय का कोई रागात्मक संबंध—और भक्ति रागात्मिका ही होती है—उसी के साथ संभव है जिसे हम जानते हैं।[1] तब यह कहना कि जिसे हम जानते हैं उससे रागात्मक संबंध नहीं कर सकते, दूसरे शब्दों में जो ज्ञान का विषय है वह प्रेम वा भक्ति का विषय नहीं बन सकता, अनुभवविरुद्ध और तर्कविरुद्ध बात है। हाँ, यह भले ही कह सकते हैं कि जो भक्ति का विषय नहीं वह ज्ञान का भी विषय नहीं हो सकता। निर्गुण सगुण विवाद में यदि सांप्रदायिक आग्रह के कारण ही इस सरल तर्क पर ध्यान न दिया गया हो तो आधुनिक मनोविज्ञानी मर्मज्ञों के लिये इसे स्वीकार करने में कौन-सी बाधा हो सकती है?

और यदि एक क्षण के लिये मान भी लिया जाय कि निर्गुण राम भक्ति वा प्रेम का विषय नहीं, केवल ज्ञान का विषय है, तो इससे भी यह सिद्ध है कि वह निर्गुण कोई अभावरूप वस्तु नहीं है, क्योंकि ज्ञान का विषय वही वस्तु हो सकता है जिसका अस्तित्व हो। फिर जिसका अस्तित्व है उसमें दया आदि गुणों का होना असंभव नहीं है, न उसकी भक्ति ही असंगत है। यदि यह कहें कि तब उसे निर्गुण कहना निरर्थक और

१—तुलनीय—जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥
बिना प्रीति नहिं भगति दिढाई।—तुलसी

भ्रमोत्पादक है, तो संभवतः कबीर का उत्तर होगा कि निर्गुण का अर्थ 'कुछ नहीं' या 'दयादि गुणों से रहित' समझना ही भ्रम का कारण है। उससे हमारा तात्पर्य है केवल 'माया के प्रभाव से परे'। गुण का अर्थ है त्रिगुण—सत, रज, तम। माया त्रिगुणात्मिका है। त्रिगुण अर्थात् माया से भेद और द्वंद्व (सुख-दुःख, राग-द्वेष, हर्ष-शोक, लाभ-हानि, मित्र-शत्रु, उच्च-नीच, जीत-हार, सत्-असत्, सुंदर-असुंदर, कोमल कठोर, स्वर्ग-नरक, जन्म-मृत्यु, प्रकाश-अधकार, सत्य-अनृत इत्यादि) की उत्पत्ति होती है। निर्गुण राम अखंड, अभेद तथा समस्त द्वंद्वों से परे है। वह समान सम-रस, समदर्शी है। मनुष्य सांसारिक व्यवहार में जिन शब्दों का प्रयोग करता है वे स्वयं त्रिगुणात्मक हैं और वे त्रिगुणात्मक संसार के ही पदार्थों का बोध करा सकते हैं। अतः वाणी राम के स्वरूप का बोध कराने में असमर्थ है। राम का स्वरूप अकथ्य और केवल अनुभव का विषय है। परंतु वाणी के प्रयोग के लिये हम विवश हैं। अतः शब्दों में न उलझकर उनके द्वारा बोध्य तत्त्व पर ही जिज्ञासु की दृष्टि गड़ानी चाहिए। 'निर्गुण' कहने से उसे सगुण का विरोधी समझ लिया जाता है, पर निर्गुण-सगुण का द्वंद्व भी त्रिगुण के भीतर ही है, उसके परे नहीं। निर्गुण कहने से इस भेद और द्वंद्व की प्रतीति न हो, इसीलिये उसे निर्गुण-सगुण और हद-बेहद के परे कहकर स्पष्ट किया गया है। परंतु किसी भी शब्द से उसे पुकारें, बिना अनुभव के केवल तर्क से वह पकड़ में नहीं आ सकेगा।

अस्तु। निर्गुण राम अभाव रूप नहीं है, परंतु उसका स्वरूप अनुभव से ही जाना जा सकता है। वह ज्ञान का भी विषय हो सकता है और भक्ति का भी, परंतु बाह्योन्मुख इंद्रियों तथा मन के द्वारा उस तक पहुँचने का प्रयास व्यर्थ है।

(३) तीसरी और सबसे विलक्षण तथा असंगत लगनेवाली बात यह है कि जब कबीर आत्मा-परमात्मा में भी भेद न मानकर दोनों को एक ही मानते हैं और कहते हैं कि 'आतमराम' के सिवा और दूसरा कोई नहीं

है—('आतम राम अवर नहिं दूजा', बा० प० १३५)—तो भक्ति कौन किसकी करता है ? कबीर कहेंगे कि भाई, भेद तो है नहीं, परंतु भेद समझ लिया जाता है । यही तो दुःख का कारण है । वस्तुतः परमात्मा तो एक और आनंदस्वरूप है ('ते तौ आहि अनंद सरूपा', क० ग्रं० पृ० २२५), परंतु वह अपनी माया से आप ही अपने स्वरूप का गोपन करता है—

सत रज तम थैं कीन्हीं माया । आपण मांहैं आप छिपाया ॥

और आप ही अपने निरंजन स्वरूप को भूल जाता है—

ते तौ आहि निनार निरंजना, आदि अनादि न आन ।
कहन सुनन कौ कीन्ह जग, आपहि आप भुलान ॥

क० ग्रं०, पृ० २२७

इस प्रकार अपने निरंजन आनंद-स्वरूप को भूलकर, मायापाश में बँधकर, जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँसकर, जीव दुःख भोगता है। वह अपने शुद्ध परमात्म-स्वरूप से अपने को भिन्न समझता है। संसार के दुःखों से मुक्ति पुनः निज आनंद-स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान एवं रामरूपता की प्राप्ति से स्वयं हो जाती है, परंतु निज स्वरूप की पहिचान (प्रत्यभिज्ञान) के लिये राम की भक्ति ही एक मात्र उपाय है—

सहजै रामनाम ल्यो लाई । रामनाम कहि भगति दिढ़ाई ।
रामनाम जाका मन माना । ते तौ निज सरूप पहिचाना ॥ (वही)

जब तक रामरूपता की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक तो जीव अपने को राम से भिन्न ही समझता है, अतः उसकी भक्ति में असंगति क्या है ?

छठा अध्याय

भारतीय श्रेय-मार्ग और कबीर

कबीर की साधना का पिछले अध्याय में जो स्वरूप उपस्थित किया गया है वह केवल उन्हीं की बानियों के अनुशीलन के आधार पर। उसमें हम देख चुके हैं कि उनका मत चाहे स्वतंत्र रहा हो अथवा अन्य मतों की कुछ बातों को लेकर उन्होंने अपने मन की खिचड़ी तैयार की हो, परंतु यह तो निश्चित है कि उसमें संगति और सामंजस्य का अभाव नहीं है। उसे 'कुछ नहीं' कहना तो भारी साहस का काम है। अब हमें इन प्रश्नों का निर्णय करना आवश्यक है कि उनकी साधना भारतीय श्रेय-मार्गों की ही परंपरा का एक अंग है अथवा उसमें लगाई गई एक विदेशी कलम मात्र; यदि वह भारतीय है तो भारतीय साधना-परंपरा में उसका क्या स्थान है; और वह श्रुतिसम्मत है या लोक-वेद-बहिष्कृत।

यह सर्वसम्मत है कि हिंदी साहित्य की मध्ययुगीन भक्तिधारा के कबीर प्रथम प्रसिद्ध कवि थे। भारत के मध्ययुगीन धार्मिक इतिहास में संपूर्ण देश को आप्लावित करनेवाली इस प्रबल भक्तिधारा का उत्स सहसा कहाँ से फूट पड़ा, इस प्रश्न को लेकर कतिपय देशी और विदेशी विद्वानों ने बहुत आश्चर्य प्रकट किया है, और है भी यह आश्चर्य की बात। परंतु इसका समाधान जिस ढंग और मनोवृत्ति से किया गया है वह कम विचित्र नहीं है। किसी किसी ने तो उसे इतिहास और जनमनोविज्ञान की एक स्वाभाविक घटना के रूप में मान लिया है। विदेशियों द्वारा पददलित निराश हिंदू जाति के लिये अपने उद्धारार्थ हाथ जोड़कर परमात्मा को पुकारना (भक्ति) ही एक सरल और स्वाभाविक उपाय था। कुछ ईसाई विद्वानों ने इसे—केवल निर्गुण-भक्ति को

ही नहीं, सगुण कृष्णभक्ति को भी — ईसाई संतमत से प्रभावित माना है और कुछ ने निर्गुण भक्त कबीर को स्प तः सूफी मुसलमान कहा है। समग्र रूप में मध्ययुगीन भारतीय भक्तिधारा के उद्गम और विकास की विस्तृत समीक्षा विषयांतर होने के कारण यहाँ संभव नहीं, परंतु कबीर की भक्ति के प्रसंग से इतना कह देना आवश्यक है कि भक्ति के इस उत्थान को प्रधान रूप से राजनीतिक घटनाओं का परिगाम मानने की अपेक्षा भारतीय साधना का स्वाभाविक विकास मानना अधिक समीचीन होगा।[१] बर्बर आक्रमणों से विदलित तो विश्व के इतिहास में अनेक सभ्य देश हुए, परंतु और कहीं पराजित और पतित जाति में इस प्रकार भक्ति का विकास नहीं पाया जाता। अतः देश की राजनीतिक पराधीनता का भक्ति पर परोक्ष प्रभाव स्वीकृत करते हुए भी इसे केवल तज्जन्य निराशा का परिणाम नहीं मान सकते। आगे यह और अधिक स्पष्ट हो जायगा।

कबीर की भक्ति ईसाई या इसलामी नहीं

अब रही कबीर के ईसाई या सूफी (मुसलमान) मतों से प्रभावित होने की बात। कतिपय ईसाई लेखकों ने कबीर तथा ईसाई संतों की कुछ उक्तियों में साम्य देखकर यह मत प्रकट किया है कि यद्यपि कबीर का प्रत्यक्ष संबंध ईसाई धर्म से नहीं था (क्योंकि न कबीर की उक्तियों और न तत्कालीन इतिहास से ही उस समय तक उत्तर भारत में कहीं ईसाइयों का पता चलता है), तथापि परोक्ष रूप से अवश्य उनकी उक्तियाँ ईसाई धर्म से प्रभावित थीं। भारत में भक्ति तो पहले से थी, परंतु जिस भक्तिमार्ग के कबीर अनुयायी थे वह निश्चय ही ईसाई विचारों का ऋणी था।[२] इस संबंध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि संसार के मानवों के पारस्परिक संबंधों के फलस्वरूप विचारों

१—द्रष्ट० हिंदी साहित्य की भूमिका, अध्याय १

२—Yet the Bhakti movement to which he (Kabir) belonged was undoubtedly under obligation to Christian ideas.

—Keay: Kabir and his followers, Chap. XI

का परस्पर आदान-प्रदान सर्वथा संभव ही नहीं, अभीष्ट भी है। इस कारण श्रेष्ठ विचार और उक्तियाँ देश और काल की सभी सीमाओं का अतिक्रमण कर अमर रूप में सदा और सर्वत्र समान रूप से विचरण किया करती है। परंतु संपूर्ण सृष्टि के मानव मस्तिष्क और हृदय के प्रकृति-साम्य के कारण विभिन्न देशकाल के विचारों और कवियों में किसी बाह्य भौतिक संपर्क के बिना भी विचार-साम्य और उक्ति-साम्य बराबर पाया जाता है।* अतः इस साम्य के आधार पर यह निष्कर्ष अनिवार्य नहीं कि कोई एक दूसरे का निश्चित रूप से ऋणी ही है। फिर भी जहाँ ऐसा ही अनुमान प्रासंगिक एवं समीचीन प्रतीत हो वहाँ उसके आधार स्वरूप दोनों के बीच बाह्य और संगत संबंध की अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है—संगत संबंध इसलिये कि केवल किसी प्रकार के खींचे-ताने संबंध पर ही विचारों का आदान-प्रदान होना आवश्यक नहीं है। गृहीत विचारों की प्राचीनता, मौलिकता एवं उपादेयता तथा ग्रहीता में तत्संबंधी अभाव, आकांक्षा आदि पर भी वह बहुत कुछ निर्भर है।

यदि जैसा डा० के का कथन है, ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में दक्षिण में नेस्टोरियन चर्चों की स्थापना हो चुकी थी और उधर बल्ख (बैक्ट्रिया) में भी ईसाइयों का अस्तित्व था, तो इससे यह अनुमान करना कि कबीर की भक्ति ईसाई धर्म से प्रभावित थी, दूर की सूझ मानना पड़ेगा। परंतु इसी न्याय से, यह अनुमान कहीं अधिक पुष्ट और साधार होगा कि ईसाई संतों और स्वयं महात्मा ईसा की भावनाएँ भारतीय विचारों की भूमिका पर ही विकसित हुई थीं; क्योंकि ईसा के बहुत पहले से ही भारतीय विचारों का प्रचार एशिया के पश्चिमी छोर तक—ईसा की जन्मभूमि तक—हो चुका था, यह सुविदित ऐतिहासिक तथ्य है। अतः इस कथन की अपेक्षा कि कबीर का भक्तिमार्ग ईसाई धर्म का ऋणी था, यह मानना अधिक संगत और स्वाभाविक होगा कि कबीर तथा ईसाई संतों की समान उक्तियों का मूल एक ही प्राचीन भारतीय विचार-परंपरा में था। एक परम पिता ईश्वर में विश्वास, शब्द-सिद्धांत

---

*—सवादास्तुभवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्। (ध्वन्यालोक, ४।११)

(Doctrine of Logos) तथा ईश्वर को ज्योतिरूप मानना (God is Light) इत्यादि बातें कबीर में ईसाई धर्म से आई हुई बताई गई हैं। भगवद्गीता में अर्जुन ने भगवान को केवल पिता ही नहीं, गुरु, सखा और प्रिय भी कहा है।[1] तंत्रों में मातृका और वैदिक धर्म में अक्षर ब्रह्म, शब्द ब्रह्म या प्रणव (ओ३म्) की उपासना ईसा से बहुत प्राचीन है। भगवद्गीता में भगवान को तेजोराशि, दीप्तिमान्, दीप्तानलार्कद्युति (११।१७) और तेजोमय (११।४७) कहा गया है। उपनिषदों ने भी उसे तेजोरूप,[2] सर्व-प्रकाशक,[3] ज्योतिर्मय[4] इत्यादि कहा है। भगवान सभी सच्चे भक्तों का सर्वस्व है, चाहे वे किसी देश या धर्म के हों। उसका रूप तो एक ही है, जो केवल हिंदू, मुसलमान या ईसाई का न होकर समान रूप से सबका है। अतः हम यह आग्रह व्यर्थ समझते हैं कि उपर्युक्त बातें ईसाई संतों ने भारतीय साधकों से ही ग्रहण कीं। परंतु यह कथन तो सर्वथा निराधार है कि कबीर का भक्ति-मार्ग उन बातों के लिये ईसाई धर्म का ऋणी है।

कबीर के संबंध में यह भी कहा गया है कि मुसलमान इतिहासकारों ने उन्हें 'मुवाहिद' (एक ईश्वर को माननेवाला) लिखा है, इसका अर्थ यही है कि वे मुसलमान थे अर्थात् उनका ईश्वरवाद इसलाम धर्म से लिया हुआ था, क्योंकि बहुदेववादी और मूर्तिपूजक हिंदुओं को कभी किसी मुसलमान ने 'मुवाहिद' नहीं कहा।[5] हिंदुओं के अवतारवाद, मूर्तिपूजा, तीर्थ व्रत-आचारादि पर कबीर ने जो आक्षेप किए हैं वे भी इसी तथ्य के सूचक हैं।

---

१ पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरु र्गरीयान्। ११।४३
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ ११।४४

२—तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि—ईश० १६

३—तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति—कठ० २।५।१५

४—अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयो क्षीणदोषाः—मुण्डक० ३।१।५

५—कबीर ऐंड द कबीर पंथ, अध्याय २

यह तो पिछले अध्याय में स्पष्ट ही हो चुका है कि कबीर की उपासना एक निराकार परमात्मा की उपासना है और यह भी ठीक है कि अवतार, मूर्तिपूजा तथा तीर्थव्रतादि में उनकी निष्ठा नहीं थी। परंतु मुसलमानी धर्म से कुछ बाह्य साम्य के आधार पर उनके एतद्‌विषयक विचारों को इसलाम-प्रेरित वा इसलामी तत्त्व समझना भारतीय साधना-तत्त्वों के ही अज्ञान का सूचक नहीं, कबीर की उपासना-पद्धति के भी अधूरे ज्ञान का परिचायक है। ध्यानपूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि इसलाम के खुदा की 'वहदत' और कबीर के परमात्मा के एकत्व में बहुत बड़ा अंतर है। इसलामी खुदा अपनी रची हुई दुनिया और जीवों पर बाहर से शासन करता और अपने ऊपर ईमान लानेवालों पर रहम कर उन्हें बिहिश्त तथा काफिरों पर कोप कर उन्हें दोजख देता है। वह स्वयं ही रूह (जीव, आत्मा) को पैदा करने वाला और उसका मालिक है, अतः वह और रूह कभी एक नहीं हो सकते। परंतु कबीर का परमात्मा जड़ और चेतन सबके भीतर भी समाया हुआ है और बाहर भी सर्वत्र व्याप्त है। जीव या आत्मा उससे तत्त्वतः भिन्न नहीं, दोनों एक ही हैं। यह इसलामी सिद्धांत के सर्वथा विरुद्ध है, अतः कबीर का एक निराकार परमात्मा इसलाम का खुदा या अल्लाह नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि तब फिर कबीर परमात्मा को अल्लाह या खुदा कहकर क्यों पुकारते हैं, तो उसका उत्तर यह है कि कबीर ने उसे केवल खुदा, अल्लाह, रहीम, करीम इत्यादि ही नहीं अपितु राम, गोविंद इत्यादि नामों से भी संबोधित किया है। परंतु जिस प्रकार उनके लिये राम और गोविंद का अर्थ दशरथ-पुत्र राम और नंद-नंदन कृष्ण नहीं है उसी प्रकार खुदा या अल्लाह से उनका तात्पर्य मुसलमानी खुदा या अल्लाह नहीं है। कबीर के परमात्मा का स्वरूप राम, कृष्ण और खुदा या अल्लाह के प्रसिद्ध स्वरूप से भिन्न होने पर भी वे उसके नाम के विषय में कोई भेद या विवेक नहीं रखते, इसका कारण यह है कि उनकी दृष्टि में जैसे परमात्मा का कोई एक स्वरूप नहीं है उसी प्रकार उसका कोई एक नाम भी नहीं है, प्रत्युत सब नाम उसी के हैं। चाहे जिस

किसी भी नाम से उसे पुकारा जा सकता है, यद्यपि किसी एक नाम से उसके पूर्ण स्वरूप का बोध नहीं होता। रह गई हिंदुओं के आचारों और क्रियाओं की निंदा की बात, सो कबीर ने केवल हिंदुओं के ही नहीं, सच्ची भक्ति तथा दयादि गुणों से हीन सभी लोगों के बाह्य आचारों और क्रियाओं को ढोंग और पाखंड समझकर उनकी निंदा की है। कुकड़ी (मुरगी) और बकरी की हिंसा को हलाल कहकर भी 'हक् हक्' बोलनेवाले काम-क्रोध के शिकार मुल्ला के भी रोजा, नमाज, हज और कलमा-कुरान पर व्यंग करने से वे चूके नहीं हैं।* वस्तुतः वे लोकगत तथा शास्त्रगत भेदों से ऊपर उठे हुए थे, उनके लिये ऊँच नीच, ब्राह्मण-शूद्र अथवा हिंदू-तुरुक का कोई भेद न था। वे उस भूमिका पर थे जहाँ से वे समस्त भेदों की दुर्बलताओं को स्पष्ट देख सकते थे, इसी से वे पूर्ण निर्भीकता के साथ सभी प्रकार के भेदमूलक बाह्य आचारों पर प्रहार कर सके। इस प्रकार यह सिद्ध है उनकी एतद्विषयक उक्तियों को लेकर उनकी साधना-पद्धति या विचारों पर मुसलमानी सिद्धांतों का आरोप नहीं किया जा सकता।

जहाँ तक कबीर के सूफी होने का प्रश्न है, उनकी संपूर्ण रचनाओं में भाव या भाषा किसी में कहीं कोई ऐसा विशेष तत्त्व नहीं है जिससे उन्हें सूफी कहा जा सके। सूफी संतपरंपरा में कबीर की कोई प्रसिद्धि भी नहीं है। इसके विपरित भारतीय हिंदू संतपरंपरा में सदा और सर्वत्र उनका नाम आदर के साथ लिया गया और लिया जाता है। वस्तुतः जैसा आगे चलकर स्पष्ट हो जायगा, उनकी साधना शुद्ध भारतीय थी। कबीर के प्रेम-तत्त्व, विशेषतः उनकी विरह-भावना को सूफी मत की देन समझा जाता है। यह सत्य है कि कबीर के पहले ही भारत में सूफी संतों के संप्रदाय प्रतिष्ठित हो चुके थे और उस समय भी सूफी तथा भारतीय साधक एक दूसरे से अवश्य ही प्रभावित हुए होंगे, परंतु कबीर की भक्ति में जो प्रेम और विरह-तत्त्व है वह सूफियों के प्रेम और विरह से कुछ भिन्न प्रकार का है। पहले तो कबीर

---

* बानी, पद ६२

का परमात्म-प्रेम आशिक-माशूक का प्रेम नहीं; कहीं उन्होंने परमात्मा को पिता[1], कहीं माता[2] और कहीं स्वामी[3] भी कहा है जो सर्वथा भारतीय भक्ति-भावना के अनुरूप है। इसके अतिरिक्त जहाँ दांपत्य-भाव व्यक्त किया है वहाँ भी उन्होंने भारतीय भावना और पद्धति के अनुसार ही संयोग[4] और वियोग[5] दोनों में अपने को पत्नी और परमात्मा को पति के रूप में देखा है, आशिक और माशूक के रूप में नहीं जो कि सूफी प्रेमपद्धति की विशेषता है। अतः कबीर की भगवत्प्रेम-पद्धति सूफी मत से ग्रहण की हुई नहीं कही जा सकती।

अब हम कबीर की भक्ति और उनके विचारों को भारतीय साधना और विचारधारा की भूमिका पर रखकर सहज ही देख सकेंगे कि वे उसके बाह्य और विरोधी तत्त्व नहीं प्रत्युत उसी के अंग हैं।

भारतीय श्रेयमार्ग

यह विश्व एक ऐसी विचित्र पहेली है जिसे सुलझाने का प्रयत्न मनुष्य, जब से उसकी दृष्टि का उन्मेष हुआ तभी से करता आ रहा है, परंतु अभी तक यह नहीं कहा जा सकता कि वह सुलझ गई। यह सत्य है कि संसार के अधिकांश मनुष्यों के लिये यह पहेली पहेली ही नहीं है, वे रोटी-कपड़े से लेकर साम्राज्य-भोग तक छोटे या बड़े सांसारिक सुखों को ही अपना परम और चरम लक्ष्य मानकर उन्हीं के लिये अपने पौरुष का उपयोग करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि जहाँ मनुष्य अपने संकीर्ण स्वार्थों को सिद्ध करने की धुन में दूसरों के जीने का भी अधिकार स्वीकार नहीं करना चाहता, ऐसे संघर्षपूर्ण संसार में केवल पेट भर रोटी की समस्या भी कभी भयंकर रूप

१—बाप राम सुनि बिनती मोरी। बा० प० ३५७
२—हरि जननी मैं बालक तेरा। वही, १११
३—तू मेरो मेरु परबत स्वामी ओट गही मैं तेरी। सं० क०, राम० ३
४—दुलहिनी गावहु मंगलचार। बा० प० १ तथा २,३
५—बिरह कौ अंग, साखी।

रूप से जटिल हो उठती है। फिर पेट भरकर ही मनुष्य क्यों संतोष करे? पौरुष से प्राप्य शरीर, बल, बुद्धि, विद्या, धन, जन तथा ऐश्वर्य के सुखों की उपेक्षा क्यों की जाय? क्यों न सभी उपायों से इन्हें अधिक से अधिक मात्रा में प्राप्त कर, हो सके तो स्थायी बना दिया जाय? प्रायः इसी प्रकार के विचारों के साथ संसार में मनुष्य का जीवन व्यतीत होता है। परंतु फिर भी जहाँ एक ओर इस प्रकार के सांसारिक योगक्षेम को श्रेय देनेवाले लोग हैं, वहाँ दूसरी ओर कुछ अंतर्मुख चिंतनशील अथवा अतींद्रिय-ज्ञान-संपन्न व्यक्तियों को बहुत प्राचीन काल से पारमार्थिक चिंता भी सताती आ रही है जिसके आगे उन्होंने सांसारिक चिंता को गौण स्थान दिया है। उनके विचार से यह शरीर, संसार तथा तज्जन्य सुख अनित्य हैं और साध्य न होकर साधन रूप हैं। उन्हें ही साध्य मानकर उनके पीछे पड़ने से वास्तविक और स्थायी आनंद प्राप्त नहीं हो सकता। अतः सांसारिक योगक्षेम वाला प्रेयमार्ग छोड़कर वे नित्य शुद्ध चेतन आत्मस्वरूप की उपलब्धि, जन्म-मरण से मुक्ति अथवा परलोक-प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। उनके अनुसार, जो इस श्रेय मार्ग के पथिक नहीं हैं—जो आत्मा, परलोक आदि में विश्वास नहीं करते—उनका दुःखों से कभी छुटकारा नहीं हो सकता। कठोपनिषद् में मृत्यु नचिकेता से कहता है कि ऐसे अविद्या में वर्तमान, अभिमानी, वित्तमोह से मूढ़, परलोक को न मानकर केवल इस लोक में विश्वास करनेवाले लोग बार बार मेरे वश में आते हैं (१।२।५,६)।

संसार क्या है? मनुष्य इसमें क्यों जन्म लेता है? इच्छा न रहने पर भी उसे रोग-वियोग दारिद्र्यादि जनित दुःख क्यों भोगने पड़ते हैं? जीवन में लाख यत्न करने पर भी क्यों उसकी इच्छाएँ अपूर्ण रह जाती हैं और सुख के सभी साधन एकत्र कर लेने के बाद भी वह शांति और संतोष क्यों नहीं प्राप्त कर सकता? मृत्यु क्या है और मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का क्या होता है? क्या इस संसार का मूल जड़ ही जड़ है अथवा इसका कोई चेतन कर्ता भी है जिसकी इच्छा से ही साँस के कच्चे धागे से झूलता हुआ यह साढ़े तीन हाथ का पुतला, अहंकारवश अपने को ही कर्ता और

भोक्ता समझता हुआ, जन्म और मृत्यु रूपी चक्की के दो पाटों के बीच निरंतर पिस रहा है ? क्या उसी कर्ता की प्रेरणा से आलोकपुंज अनंत ग्रहपिंड आकाश में तथा प्राणप्रद जल और वायु पृथ्वी एवं अंतरिक्ष में सतत गतिमान् हैं और संपूर्ण वनस्पतियाँ भी उसी के रंग में रँगकर फूल, फल और झड़ रही हैं। कर्ता जो भी हो, सृष्टि-रचना में उसका उद्देश्य क्या है और मनुष्य जन्म-मरण की यातना से छूटकर अमर सुख किस प्रकार प्राप्त कर सकता है ? इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर सभी देशों के मनीषी और महात्मागण विचार करते आए हैं और उन्होंने अपने ढंग से भिन्न भिन्न रूपों में इनका समाधान भी किया है। भारतीय चिंतकों का भी इन विषयों पर सर्वथा ऐकमत्य नहीं है पर अधिकांश की मुख्य मुख्य बातों में परस्पर समानता है।

आस्तिक और नास्तिक मत

भारतीय विचार-सरिता दो मुख्य धाराओं में प्रवाहित हुई है—एक आस्तिक और दूसरी नास्तिक। साधारणतः इस दृश्य संसार के अतिरिक्त या इसके मूल में ईश्वर अथवा तत्सदृश कोई नित्य सत्ता माननेवालों को आस्तिक और ऐसी सत्ता में अविश्वास करनेवालों को नास्तिक समझा जाता है। परंतु हिंदू शास्त्रकारों की दृष्टि से उक्त आस्तिक-नास्तिक भेद आध्यात्मिक विश्वासगत नहीं, प्रत्युत शास्त्रीय प्रमाणगत हैं। आध्यात्मिक सत्ता की सिद्धि के लिये भिन्न भिन्न दार्शनिकों ने जो प्रमाण स्वीकार किए हैं उन्हीं में मौलिक अंतर होने के कारण उक्त भेद माने गए। जो आरंभ से शब्द अर्थात् श्रुति को प्रमाण मानकर चलते हैं वे आस्तिक और श्रुति को प्रमाण न माननेवाले नास्तिक हैं। नास्तिक केवल प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण मानते हैं, शब्द को नहीं। मनुस्मृति के अनुसार नास्तिक वेदनिंदक को कहते हैं—'नास्तिको वेदनिन्दकः'। इस दृष्टि से चार्वाक, बौद्ध और जैन नास्तिक हैं और श्रुति को माननेवाले षड्दर्शन, पुराण, वैष्णव और शैव आगम तथा महा-

भारत आदि ग्रंथ आस्तिक। परंतु यदि ईश्वरवाद की दृष्टि से देखा जाय तो एक ओर तो सांख्य, पूर्वमीमांसा और वैशेषिक दर्शन भी अनीश्वरवादी हैं, और दूसरी ओर उदार विद्वान् केवल पूर्वमीमांसा और वैशेषिक को ही नहीं, बौद्ध और जैन को भी ईश्वरवादी मानते हैं, क्योंकि बुद्ध और अर्हत् भी ईश्वर ही हैं। इस विचार से आचार्य बृहस्पति के अनुयायी चार्वाक ही शुद्ध नास्तिक हैं, और जहाँ कर्म, पुनर्जन्म और मुक्ति आदि मानने में बौद्ध और जैन मतों की आस्तिक मतों से समानता है वहाँ ये चार्वाक सबसे अलग जा पड़ते हैं।*

कर्म, ज्ञान, योग, भक्ति

चार्वाक के अतिरिक्त अन्य सभी नास्तिक और आस्तिक मत समान रूप से मानते हैं कि यह संसार ही चरम सत्य और इंद्रिय-सुख ही परम सुख नहीं हैं; और इसी विश्वास के कारण वे सब समान रूप से वास्तविक सत्य और स्थायी आनंद के अनुसंधान में प्रवृत्त होते तथा उन्हें प्राप्त करने के भिन्न भिन्न उपाय बतलाते हैं। उद्देश्य एक ही है—दुःख से आत्यंतिक निवृत्ति अथवा नित्य आनंद की प्राप्ति, परंतु साधन और मार्ग भिन्न भिन्न हैं। प्रधान रूप से इन साधनों के चार भेद हैं—कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति। ये साधन-भेद सामान्यतः यद्यपि आस्तिक मतों के ही हैं तथापि स्थूल रूप से इनमें सभी मार्गों का समावेश हो जाता है।

श्रुतिमार्गियों में इस साधनभेद का कारण यह है कि श्रुति को प्रमाण मानने पर भी वे श्रुति के तात्पर्य को समझाने में अपना अपना स्वतंत्र मत

* चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण, पृथ्वी-अप्-तेज-वायु चार तत्वों से ही सृष्टि, राजा को ईश्वर, मृत्यु को मुक्ति और इंद्रियसुख को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं। उनके मत से वेदादि ग्रंथ असुरों और दुष्टों की कृति है और स्वर्ग, मुक्ति, पुनर्जन्म, कर्मफल, वर्णाश्रम-व्यवस्था, यज्ञ, श्राद्ध, अग्निहोत्र आदि स्वार्थी ब्राह्मणों के कमाने खाने के ढंग हैं।

—सर्व-दर्शन-संग्रह।

रखते हैं। श्रुति को कोई कर्मप्रधान, कोई ज्ञानप्रधान और कोई भक्तिप्रधान मानते हैं। कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति—इन चार पृथक्-पृथक् मार्गों के होने का यह तात्पर्य नहीं कि ये एक दूसरे से सर्वथा असंबद्ध हैं अथवा प्रत्येक मार्ग अन्य मार्गों का विरोधी है। वस्तुतः प्रत्येक मार्ग में अन्य मार्गों का भी आवश्यक स्थान है और ये भेद केवल एक एक की प्रधानता को ही लक्ष्य करके माने गए हैं। इन सबका सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन न यहाँ अभीष्ट है और न संभव; परंतु कबीर की साधना किस मार्ग की है और उसमें अन्य मार्गों का क्या स्थान है, इसका निर्णय करते समय इनके तात्त्विक स्वरूप, इनकी सामान्य रूप-रेखा तथा इनके परंपरागत पारस्परिक संबंधों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

कर्म

आर्य जाति में यह विश्वास न जाने कितने प्राचीन काल से चला आता है कि मनुष्य को उसके कर्मों का फल भोगना पड़ता है और भले-बुरे कर्मों के अनुसार उसे मृत्यु के पश्चात् पुनः ऊँची-नीची योनियों में जन्म लेना पड़ता है तथा विशेष प्रकार के सत्कर्मों द्वारा उसे दुःख से छुटकारा मिल सकता है। ये सत्कर्म भिन्न भिन्न मतों के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार के हो सकते हैं, परंतु वैदिक मत के अनुसार वेदविहित कर्म ही धर्म हैं। विहित कर्मों को न करना और निषिद्ध कर्मों को करना पाप है। वेद में संहिता और ब्राह्मण को कर्मकांड और उपनिषद् को ज्ञानकांड कहा जाता है। कर्मकांड में अनेक प्रकार के यज्ञों तथा अन्य कर्मों का विधान है। षड्दर्शनों में पूर्वमीमांसा विशेष रूप से कर्मकांड का पक्षपाती है। उसके अनुसार वेद नित्य और अपौरुषेय हैं। संसार सत्य है; परंतु संसार के सुख दुःख के साथ मिले हुए हैं, अतः स्वर्ग-सुख के लिये प्रयत्नशील होना चाहिए। वेदविहित नित्य और नैमित्तिक कर्मों को करने से स्वर्ग प्राप्त होता है, और उन्हें न करने तथा

निषिद्ध कर्मों को करने से नरक। पूर्वमीमांसाकार आचार्य जैमिनि ने मोक्ष का विवेचन करना आवश्यक नहीं समझा है, परंतु पीछे के प्रभाकर आदि आचार्य काम्य कर्मों को त्यागकर निष्काम कर्म करने से मुक्ति मानते हैं।

पूर्वमीमांसा यज्ञ के अर्थ वैदिक देवताओं को मानता है, परंतु किसी सृष्टि-कर्ता और सबके प्रभु एक ईश्वर में विश्वास नहीं करता। उसे हम बहुदेव-वादी कह सकते हैं। ईश्वर को न मानने के कारण उसकी भक्ति अथवा आनंद रूप ब्रह्म के साक्षात्कार का उसके लिये कोई प्रश्न ही नहीं है। उसके अनुसार आत्मज्ञान उपेक्षा की वस्तु नहीं है, परंतु वह स्वतंत्र रूप से अकेले मोक्ष का साधक नहीं हो सकता; कर्म का सहायक भले ही हो सकता है।

वैदिक कर्मकांड में वेदविहित यज्ञकर्म की ही प्रधानता है। परंतु यहाँ हम साधारण रूप से उन सभी कर्मों को कर्ममार्ग के ही अंतर्गत गिन सकते हैं जिन्हें मनुष्य परलोक-प्राप्ति अथवा मुक्ति-साधना के उद्देश्य से करता है। जप, तप, तीर्थ, व्रत, दान, पुण्य तथा योग आदि क्रियाओं को भी हम इसके अंतर्गत मान सकते हैं। हिंदू जीवन आज भी प्रधानतः उक्त धर्मकर्मों की ही समष्टि है, इसके लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं। पर हिंदुओं के अतिरिक्त संसार के अन्य धर्मावलंबियों में भी स्वर्ग और नरक की कल्पना है और उनके लिये अनेक प्रकार के भले-बुरे कर्मों का विधि-निषेध भी किया गया है।

ज्ञान

ज्ञानमार्ग से साधारणतः उपनिषन्मूलक ब्रह्मवाद या अद्वैतवाद समझा जाता है, जो ज्ञान के द्वारा ही जीव की मुक्ति मानता है। हिंदू धर्म के नव-जागरण-काल (आठवीं शती) में इसके प्रधान प्रतिपादक श्री शंकराचार्य हुए। किंतु जो लोग जीव का संसार अज्ञान वा अविद्या से तथा जीव की मुक्ति ज्ञान के द्वारा मानते हैं वे सभी ज्ञानमार्ग के अंतर्गत आ जाते हैं, यद्यपि ज्ञान के विषय, स्वरूप तथा साधन के संबंध में मतभेद है।

उपनिषद्

ज्ञानमार्ग का इतिहास भी वैदिक काल से संबद्ध है। विद्वानों का अनुमान है कि वैदिक युग में जब कर्मकांड की अधिक प्रबलता हो गई तो मननशील लोग उसकी बाह्य शुष्कता तथा यज्ञों में होनेवाली घोर हिंसा से ऊब गए। जो लोग ऋषियों की दिव्य दृष्टि में श्रद्धा नहीं रखते थे वे तो वेद-पथ को छोड़कर बुद्धि और तर्क द्वारा स्वतंत्र रूप से तत्त्वचिंतन में लगे, परंतु जो श्रद्धावान् थे उन्हें वेदांत अर्थात् वेद के वास्तविक तात्पर्य को समझने का विश्वास था और वे श्रवण-मनन निदिध्यासन द्वारा ब्रह्म की जिज्ञासा और साक्षात्कार में लगे रहे, जिसका परिणाम उपनिषद् हैं। उपनिषद् आत्मज्ञान संबंधी उपदेशों की निधि हैं, अतः उन्हें ज्ञानकांड कहा जाता है। इनमें यज्ञों की भी ज्ञानपरक व्याख्या हुई है। बृहदारण्यक उपनिषद् में मेध्य अश्व की व्याख्या इस प्रकार की गई है—उषा उस मेध्य अश्व का शिर है, सूर्य चक्षु है, वात प्राण, अग्नि मुख और संवत्सर उसका आत्मा है,[1] इत्यादि। ज्यों ज्यों ज्ञान की ओर प्रवृत्ति बढ़ती गई, यज्ञकर्म की प्रधानता घटती गई। आगे चलकर भगवद्गीता में द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय-यज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया और यह स्पष्ट रूप से कहा गया कि द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है, सर्व कर्मों की परिसमाप्ति ज्ञान में ही होती है।[2]

उपनिषद् प्रधान रूप से ब्रह्मात्मैक्य का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार सर्वभूतों का अंतरात्मा एक ही है। जिस प्रकार अग्नि एक ही है, किंतु तत्तद्वस्तुओं का आकार ग्रहण कर वह अनेक रूपों में प्रकट होती है, उसी

१—ॐ उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरःसंवत्सर आत्माश्वस्य मेध्यस्य (१।१।१)

२—द्रव्य यज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च...॥४।२८
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥४.३३

प्रकार एक आत्मा अनेक भूतों में अनेक रूप धारण करता है। जो उसका दर्शन कर लेते हैं वे ही शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं, अन्य नहीं।[1] उसका दर्शन चक्षु या वचन से नहीं हो सकता, न कर्म और तप से, प्रत्युत ज्ञान के प्रसाद से जो विशुद्ध सत्त्व है वही उसका ध्यान करता हुआ उसका दर्शन प्राप्त कर न सकता है।[2] परंतु यह ज्ञान साधारण बुद्धि अथवा शुद्ध तर्कज्ञान नहीं वरं कोई दिव्य अलौकिक ज्ञान है, इस विषय में संदेह का अवकाश नहीं रखा गया है। यह आत्मा प्रवचन से, मेधा से या बहुश्रुतत्व के द्वारा लभ्य नहीं है।[3] यह मति (ज्ञान) तर्क से प्राप्य नहीं।[4] फिर भी ज्ञात होता है कि उपनिषत्काल में तर्क और बुद्धिवाद का प्रभाव बढ़ता जा रहा था, जिसकी परिणति एक ओर जैन और बौद्ध मत में और दूसरी ओर सांख्यादि षड्दर्शनों में हुई।

दर्शन

श्रुति में श्रद्धा रखनेवालों को अवैदिक तर्कों से अपने विश्वास की रक्षा करने के लिये तर्क का सहारा लेना पड़ा, फलस्वरूप षड्दर्शनों का विकास हुआ। इनमें यद्यपि पूर्वमीमांसा को छोड़कर अन्य सभी दर्शन ज्ञान के द्वारा मुक्ति मानते हैं, तथापि साधना के क्षेत्र में सांख्य, योग और वेदांत का ही प्रभाव-विशेष है। इनमें सांख्य और वेदांत दो ही प्रधान ज्ञानवादी हैं। योग मत

१—अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ कठ० २।५।९
एको वशी सर्व भूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ वही, २।५।१२

२—न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥ मुं० ३।१।८

३—नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन। मुं० ३।२।३

४—नैषा तर्केण मतिरापनेया। कठ० १।२।९
अनन्य प्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ कठ० १।२।८

सांख्य से प्रायः अभिन्न है, पर क्रियात्मक योग का स्वतंत्र मार्ग के रूप में भी विशेष विकास और प्रचार हुआ, अतः इसका पृथक् उल्लेख किया जायगा।

सांख्य

सांख्य मत अत्यंत प्राचीन है और नैष्कर्म्य, विवेक, वैराग्य तथा संन्यास को माननेवाले सभी भारतीय मतों पर इसका प्रभाव बहुत व्यापक रूप में लक्षित होता है। बुद्ध के पूर्वगुरु अराड् सांख्य तंत्र में विज्ञ थे। सांख्य और बौद्ध मत की कई बातों में परस्पर समानता है। यथा कर्मकांड और काय-क्लेश से अरुचि, दुःखवाद, अहिंसा, निरीश्वरवाद और परिणामवाद दोनों ही में पाए जाते हैं।

उपनिषन्मूलक होने पर भी सांख्य अद्वैत तत्त्व को न मानकर पुरुष और प्रकृति, दो नित्य और स्वतंत्र तत्त्वों को मानता है। प्रकृति अनात्म, अव्यक्त, जड़, विवेक-रहित, त्रिगुणात्मिका (सत्त्व, रज, तम की साम्यावस्था) तथा सब कारणों का आदि कारण है। यह विश्व प्रकृति का ही परिणाम है। संसार में किसी वस्तु का नाश नहीं होता, प्रत्येक वस्तु अपने अपने कारण में लीन हो जाती है और अंत में मूल कारण अव्यक्त में सबका लय हो जाता है।

पुरुष निर्गुण, अमूर्त, अकर्ता, चेतन और नित्य मुक्त है। वह सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान और सभी प्रकार के बंधनों से परे है। उसका बंधन सत्य नहीं औपाधिक है। किसी प्रकार असावधानी में प्रकृति से उसका संयोग हो जाता है, फिर जड़ प्रकृति चेतनवत् क्रियाशील हो जाती है। यह संयोग कब, क्यों और किस प्रकार हो जाता है, यह नहीं बताया जा सकता। इस कारण यह सृष्टिचक्र अनादि है। पुरुष प्रकृति से भिन्न और अकर्ता होने पर भी अविवेक के कारण अपने को प्रकृति से अभिन्न एवं कर्ता समझने लगता है। यह अज्ञान ही उसके दुःख का कारण है। जिस क्षण उसे यह विवेक हो जाता है कि यह सब कुछ मैं नहीं हूँ, न कुछ मेरा है, उसी क्षण वह कैवल्य अर्थात् अपने शुद्ध मुक्त स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और फिर दुःख-सुख

उसके लिये कुछ भी नहीं रह जाते। यह आवश्यक नहीं कि यह कैवल्य अथवा मुक्ति मनुष्य को मृत्यु के पश्चात् ही मिले; इस जीवन में भी यह संभव है।

सांख्य अपने पचीस तत्त्वों के लिये बहुत प्रसिद्ध है। पुरुष से संयोग होने पर प्रकृति में जो प्रथम विकार होता है उसे महत् या बुद्धि कहते हैं। फिर उससे क्रमशः अहंकार, मन, पंच तन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) पंच-ज्ञानेंद्रियाँ, पंच-कर्मेंद्रियाँ तथा पंच-भूत (आकाश, वायु, तेज, अप्, पृथ्वी)—इनका विकास होता है। इस प्रकार सब पचीस तत्त्व हुए। इन्हीं पचीस तत्त्वों की समष्टि यह मनुष्य-शरीर है। अन्य अनेक मतों में भी तत्त्वों की संख्या गिनाई गई है जो पचीस से कम भी है और कहीं अधिक भी। पर इतनी स्पष्ट व्याख्या कहीं नहीं है। कैवल्य के अधिकार में सांख्य उच्च-नीच वर्णों का भेद नहीं मानता। उसके अनुसार गुरु भी केवल ब्राह्मण ही नहीं, कोई भी जीवन्मुक्त हो सकता है। इस प्रकार सांख्य वैदिक होने पर भी अनेक बातों में अन्य वैदिक मतों से भिन्न है।

वेदांत

शंकराचार्य ने बादरायण के वेदांतसूत्रों का भाष्य ज्ञानपरक किया और रामानुजाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों ने भक्तिपरक। शंकर के मत से मुक्ति ज्ञान के द्वारा ही मिलती है।

सांख्य तो प्रकृति और पुरुष दोनों को नित्य तत्त्व तथा पुरुष को अनेक मानता है, किंतु शंकराचार्य अनेक पुरुष न मानकर एक ब्रह्म को ही सत्य मानते हैं और प्रकृति को कोई स्वतंत्र नित्य तत्त्व नहीं मानते। इस प्रकार केवल एक ब्रह्म सत्य है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता ही नहीं है। ब्रह्म निर्गुण, निरवयव, सर्वव्यापी, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, सर्वविक्रियारहित, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सच्चिदानंद स्वरूप है। यह जगत् और उसके समस्त भेद पारमार्थिक नहीं, केवल व्यावहारिक हैं। यह दृश्य विश्व जो हमें सत्य प्रतीत होता है उसका कारण भ्रम, अविद्या अथवा माया है। इस माया के स्वरूप का ठीक ठीक

वर्णन नहीं हो सकता। यदि अँधेरे में किसी व्यक्ति को रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाय तो वहाँ सर्प को सत्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वस्तुतः वहाँ सर्प नहीं, रस्सी है जो प्रकाश में स्पष्ट देखी जा सकती है; परंतु वह सर्वथा असत्य भी नहीं, क्योंकि भ्रांत पुरुष के शरीर में भयजनित कंप आदि ठीक उसी प्रकार होते हैं जैसे वास्तविक सर्प को देखने पर। अतः वह न सत् है न असत्, प्रत्युत सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय है। जब कोई निर्भ्रांत व्यक्ति 'यह सर्प नहीं रस्सी है' इत्यादि वाक्यों द्वारा उस भीत व्यक्ति को सर्प के मिथ्यात्व का ज्ञान करा देता है तो उसका सर्प-भय-जन्य क्लेश स्वतः नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार भ्रम, अज्ञान वा अविद्या के कारण इस शरीर और संसार तथा तज्जन्य सुख-दुःख को सत्य समझनेवाले जीव को जब 'तत्त्वमसि' (तू सच्चिदानंद परब्रह्म है, यह सुख-दुःख देनेवाला जगत्प्रपंच तो मिथ्या है) इत्यादि वाक्यों के उपदेश द्वारा ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप तथा ब्रह्मात्मैक्य का ज्ञान हो जाता है तो यह संसार उसके लिये मिथ्या हो जाता है और वह नित्य-शुद्ध-मुक्त-आनंद स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। यही उसकी मुक्ति है।

शंकराचार्य व्यवहार में उपासना के लिये सगुण ब्रह्म या ईश्वर को मानते हैं, परंतु उनके मत से सगुण ईश्वर अथवा उसके प्रतीकों की उपासना द्वारा मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

जब केवल एक ब्रह्म ही सत्य है और वह आनंद स्वरूप है तो उसे भ्रम या अज्ञान होना किस प्रकार संभव है? यह ठीक ठीक बताया नहीं जा सकता। माया के प्रभाव से ऐसा होता है। माया अनिर्वचनीय है। शांकर मत में यह मायावाद ही एक ऐसा मर्मस्थल है जिसपर पिछले अनेक आचार्यों ने प्रहार किए। मायावाद को अवैदिक और शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध तक कहा गया।

शंकराचार्य ज्ञान और कर्म में विरोध मानते हैं। कर्ममार्ग प्रवृत्ति का मार्ग है, उसका संबंध इष्ट-अनिष्ट से होता है; परंतु ज्ञान निवृत्ति का मार्ग है, उसके द्वारा सभी क्रियाओं से निवृत्ति हो जाती है। विधि-निषेधात्मक वैदिक

कर्मों में भले ही केवल त्रिवर्णों का अधिकार हो, पर ज्ञान के अधिकारी शूद्रादि भी हैं।

बौद्ध

बौद्ध आत्मा को शरीर और चेतना के व्यतिरिक्त कोई स्वतंत्र और नित्य सत्ता नहीं मानते। उनके मत में वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान और मन—इन पंचस्कंधों के समुदाय का ही व्यावहारिक नाम आत्मा है। आत्मा की सत्ता न मानने के कारण उन्हें नैरात्म्यवादी या शून्यवादी, तथा संसार को क्षणिक प्रवाहरूप और परिणामशील मानने के कारण परिणामवादी कहा जाता है।

बौद्ध मत के अनुसार दुःख का कोई एक कारण नहीं अपितु द्वादश कारण परंपरा है—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरामरण। परंतु सब कारणों का मूल और अंतिम कारण अविद्या ही है। इस कारण परंपरा के भंग हो जाने पर ही जीव निर्वाण को प्राप्त होता है। निर्वाण के अधिकारियों में बुद्ध जी ने स्त्री-पुरुष अथवा उच्च-नीच वर्णों का भेद नहीं माना। उनके बताए मार्ग पर चलकर निर्वाण प्राप्त करने का अधिकार मनुष्य मात्र को है।

बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्ध मत कई शाखाओं उपशाखाओं में विकसित हुआ। उसकी दो प्रधान शाखाएँ हीनयान और महायान के नाम से प्रसिद्ध हुईं। हीनयान मत व्यक्तिगत-साधना-प्रधान था और अर्हत्व या व्यक्तिगत निर्वाण को ही अपना लक्ष्य मानता था। महायान मत करुणाप्रधान था और संसार के सभी जीवों के निर्वाण के लिये प्रयत्नशील रहना उसका ध्येय था। यह बुद्ध को लोकोत्तर अवतार के रूप में मानता था, जब कि हीनयान उनकी सत्ता को लौकिक ही मानता था। महायान में ही माध्यमिक और योगाचार मत का विकास हुआ। बुद्ध जी ने निर्वाण का कोई निश्चित स्वरूप नहीं बतलाया था। शून्यवादी माध्यमिकों ने उसे शून्य रूप बताया जिसका रूप अज्ञेय

है और जिसके विषय में यह कुछ नहीं कहा जा सकता कि वह 'है', या 'नहीं है', या 'है भी और नहीं भी है' अथवा 'न है न नहीं है'। अर्थात् वह 'अस्ति-नास्ति-तदुभय-अनुभय चतुष्कोटि विनिर्मुक्त' है। परंतु विज्ञानवादी योगाचार मतवालों ने निर्वाण को भावरूप विज्ञानयुक्त सत्ता माना। इसी मत में भक्ति और तंत्र के समावेश से आगे चलकर वज्रयान और सहजयान का विकास हुआ। शून्य में विज्ञान के साथ महासुख का भी योग हुआ। सत्-चित्-आनंद की भाँति उसका स्वरूप हुआ शून्य विज्ञान-महासुख। इस वज्ररूप शून्य (अर्थात् शून्य + विज्ञान + महासुख) की निरात्मा देवी के रूप में उपासना भी प्रचलित हुई।

जैन

जैन मत के अनुसार जीव निसर्गतः मुक्त है, पर वासना-जन्य कर्म के कारण उसका शरीर और संसार से संबंध होता है। संवर (कर्म के प्रवाह को निरुद्ध करना) और निर्जरा के द्वारा जब जीव का कर्म से संबंध छूटता है तभी वह मुक्त हो सकता है। इसके लिये आवश्यक साधन हैं सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चारित्र्य। इन्हें त्रिरत्न भी कहते हैं। ज्ञान पाँच प्रकार का होता है। इनमें शुद्ध और यथार्थ ज्ञान 'केवल' ज्ञान कहलाता है। यह 'केवल' ज्ञान जीव या आत्मा के शुद्ध मुक्त स्वरूप का ज्ञान है।

जैनों को आर्हत भी कहते हैं। अर्हत, जिन अथवा तीर्थंकर जैन गुरुओं की उपाधि है। जैन मत में दो संप्रदाय हैं— एक दिगंबर (जैन ऋषि) जो नग्न रहते हैं, हाथ से जल पीते और दाता के घर भोजन करते हैं। ये स्त्रियों की मुक्ति नहीं मानते। दूसरे श्वेतांबर (जैन साधु) जो भिक्षाभोगी तथा एकांत-प्रिय होते हैं। दोनों ही लुंचित होते हैं।

योग

योग का अर्थ है आत्मतत्त्व का साक्षात्कार अथवा आत्मा और परमात्मा का संयोग। परंतु साधारण अर्थ में योग उक्त साक्षात्कार वा संयोग का क्रियात्मक

उपाय है। किसी विषय को बुद्धि और तर्क द्वारा जानना एक बात है और उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना दूसरी बात। आत्मसत्ता की प्रत्यक्ष अनुभूति बुद्धि के द्वारा नहीं, प्रत्युत बुद्धि की संपूर्ण क्रिया बंद होने पर होती है। योग उसी की विधि बतलाता है। इस दृष्टि से आत्मसाक्षात्कार तथा आत्मसाक्षात्कार का उपाय, दोनों ही अर्थ योग द्वारा अभिहित हैं। परंतु अधिकतर उपाय या साधन के रूप में ही इसका व्यवहार होता है। योग का प्रचार इस देश में अत्यंत प्राचीन काल से—कम से कम उपनिषत्काल से तो अवश्य ही—चला आ रहा है; और इसके संबंध में यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि क्रियात्मक उपाय के रूप में ज्ञान, भक्ति आदि किसी मार्ग से इसका कोई विरोध नहीं है। इसी कारण इसका प्रचार इतना व्यापक हुआ कि वैदिक मतों ने तो इसे अपनाया ही, अवैदिक बौद्ध और जैन मत में भी इसका पूरा आदर हुआ।

उपनिषदों में योग

कठोपनिषद् में मृत्यु नचिकेता से कहता है—'इंद्रियों के ऊपर मन है, मन के ऊपर सत्त्व, सत्त्व के महत्, महत् के अव्यक्त और अव्यक्त के भी ऊपर पुरुष है, जो व्यापक और अलिंग है और जिसे जानकर जीव मुक्त होकर अमृतत्व प्राप्त करता है। उस पुरुष को कोई नेत्र द्वारा नहीं देख सकता। उसे वही मनीषी जान सकता है जो मन के साथ पाँचों ज्ञानेंद्रियों को हृदय में स्थित कर लेता है और जिसकी बुद्धि चेष्टारहित हो जाती है। यह परमा गति है। इस स्थिर इंद्रिय-धारणा को योग कहते हैं।...हृदय में १०१ नाड़ियाँ होती हैं, उनमें से एक मूर्धा में जा निकलती है...। मृत्यु-प्रोक्त इस विद्या और संपूर्ण योगविधि को पाकर नचिकेता को ब्रह्म प्राप्त हो गया।'*

प्रश्नोपनिषद् में पंचप्राणों और बहत्तर सहस्र नाड़ियों का वर्णन इस प्रकार आया है—पायु और उपस्थ में अपान, चक्षु श्रोत्र मुख और नासिका

* कठ०, २।६।७—११, १६, १८

में प्राण तथा मध्य में समान वायु है। हृदयदेश में एक सौ नाड़ियाँ हैं, इनकी एक एक की एक-एक सौ शाखाएँ और इन शाखाओं में भी एक एक की बहत्तर प्रतिशाखाएँ हैं। इन बहत्तर सहस्र नाड़ियों में व्यान वायु संचरित होता है। एक नाड़ी ऊपर (मूर्धा) को जाती है जिसमें उदान वायु रहता है।"*

इसी प्रकार तैत्तिरीय, बृहदारण्यक तथा श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में भी योग का वर्णन किया गया है।

पातंजल योग

पतंजलि मुनि ने योग को एक सुव्यवस्थित शास्त्र का रूप दिया, जो योग दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। योग का तत्त्वज्ञान प्रायः सांख्य से अभिन्न है, पर यह ईश्वर को मानता है। इसीलिये इसे सेश्वर सांख्य भी कहते हैं, यद्यपि इसके अनुसार ईश्वर जगत् का कर्ता ईश्वर नहीं, प्रत्युत वह केवल योगसिद्धि में सहायक उपदेष्टा गुरुरूप है। सांख्य की भाँति योग का भी चरम लक्ष्य कैवल्य-प्राप्ति अथवा शुद्ध आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित होना है। परंतु योग इसके लिये क्रियात्मक उपाय बतलाता है। मनुष्य की चित्तवृत्तियों का प्रवाह स्वभावतः इंद्रियों के विषयों की ओर रहता है। जब तक यह प्रवाह पूर्ण रूप से निरुद्ध न हो जाय तब तक आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। विषयों से वैराग्य होना योग का परम आवश्यक अंग है। योग-साधना से चित्त को क्रमशः विषयों का त्याग कर निर्विषय रहने का अभ्यास होता है। योग की अंतिम अवस्था में जब वह पूर्ण रूप से निर्विषय हो जाता है तो उसे असंप्रज्ञात या निरालंब समाधि प्राप्त हो जाती है और उसी अवस्था में उसे कैवल्य पद की अनुभूति होती है।

पातंजल योग को राजयोग वा समाधियोग भी कहते हैं। इसके आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

* प्रश्न०, ३।६—७

इनमें वस्तुतः अंतिम तीन समाधियोग के अंतर्गत हैं और प्रथम पाँच उसी की सिद्धि के उपाय हैं तथा क्रियायोग के अंतर्गत हैं। यम के अंतर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अप्रतिग्रह तथा नियम के अंतर्गत शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान हैं। इस प्रकार योगी को प्रारंभ से ही शरीर-संयम, आचरण शुद्धि तथा ईश्वर-भक्ति के द्वारा चित्त की शुद्धि करना आवश्यक है।

इन अंगों के अतिरिक्त योग के अन्य अंगों में समाधि अवस्था की प्राप्ति के लिये स्थिर होकर एक आसन से बैठने (आसन), प्राणों की गति को नियंत्रित करने (प्राणायाम), इंद्रियों को विषयों की ओर से खींचने (प्रत्याहार), मन को एकाग्र कर किसी एक ध्येय विषय पर स्थिर करने (धारणा) तथा क्रमशः उस ध्येय में इस प्रकार तल्लीन होने का अभ्यास किया जाता है कि उसे छोड़कर किसी अन्य बाह्य विषय का ज्ञान न रह जाय। अंतिम अंग समाधि है जिसमें ध्यान की अवस्था अपनी पूर्णता को पहुँच जाती है। जब तक समाधि में ध्येय और ध्याता का भेद बना रहता है तब तक वह संप्रज्ञात समाधि कहलाती है और जब यह भेद मिटकर दोनों एकाकार हो जाते हैं तो असंप्रज्ञात समाधि लग जाती है।

योगसाधना का मार्ग अत्यंत दुर्गम है, परंतु इसमें अद्‌भुत शक्ति बतलाई गई है। योगी की समाधि की अवस्था में कई भूमिकाएँ मानी गई हैं जिनमें उसे कई प्रकार की अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। यदि योगी इन सिद्धियों के प्रलोभन में फँस गया तो उसके घोर पतन और अनिष्ट की संभावना रहती है; परंतु यदि वह उनके ऊपर उठ जाय तो उसे परम तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है।

हठयोग

हठयोग के आदि उपदेष्टा आदिनाथ* शिव माने गए हैं। इसके विशेषज्ञ

---

* आदिनाथ संभवतः गोरखनाथ के गुरु मत्स्येंद्रनाथ के गुरु का भी नाम था, जैसा

मत्स्येंद्र, गोरखनाथ आदि प्रसिद्ध योगी थे। हठयोग के उपदेश का लक्ष्य है राजयोग की प्राप्ति, अतः राजयोग की सिद्धि तक ही इसकी साधना की जाती है। हठयोगी के लिये यम-नियम का पालन भी आवश्यक है। यमों में मुख्य मिताहार और नियमों में मुख्य अहिंसा है।

हठयोग के चार अंग हैं—(१) आसन, (२) प्राणायाम (३) मुद्रा और (४) नादानुसंधान। वस्तुतः प्रथम तीन ही हठयोग के अंतर्गत हैं, नादानुसंधान लययोग है।

(१) आसन—प्राणायाम के अभ्यास के लिये स्थिर होकर बैठने का नाम आसन है। शिव ने चौरासी आसन बताए हैं जिनमें मुख्य चार हैं—सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन, भद्रासन। इनमें भी सबसे मुख्य सिंहासन है। इसे बहत्तर हज़ार नाड़ियों का शोधन करनेवाला और मोक्ष-कपाट का भेदन करनेवाला कहा गया है। शांत भाव से समतल स्थान में बैठकर बाईं एँड़ी को योनिस्थान (गुदा और मेढ़ू के बीच का स्थान) में और दाहिनी एँड़ी को मेढ़ू के ऊपर सटाकर ठोड़ी को छाती से सटा ले और दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच गड़ा रखे—यही सिंहासन है। इसके अन्य भेद और नाम भी हैं।

(२) प्राणायाम—आसन सध जाने से ही प्राणायाम का अभ्यास ठीक होता है। मन प्राण के साथ ही लगा रहता है, प्राणवायु के निकल जाने पर मन भी नहीं रहता। वायु के साथ मन भी उसी की भाँति चंचल रहता है, उसे स्थिर कर ले तो मन भी स्थिर हो सकता है। अतः मन को स्थिर करने के लिये वायु-निरोध अर्थात् प्राणायाम आवश्यक है। प्राण-निरोध सिंहादि को वश में करने के समान है। युक्तिपूर्वक धीरे-धीरे साधने से सधता है, अन्यथा रोगकर और मारक हो जाता है। शरीर में मेद और श्लेष्मा के आधिक्य से प्राणायाम में कष्ट होता है, अतः प्राणायाम के पूर्व कोई कोई षट्-

---

गोरखनाथ ने कहा है—'आदिनाथ नाती मछींद्रनाथ पूता। साखी बोलै गोरख अवधूता॥' संभव है यही हठयोग के उपदेष्टा रहे हों। यों तो प्रायः सभी विद्याओं के आदि गुरु शिव ही माने जाते हैं।

कर्म (धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलिक, कपालभाति) का विधान करते हैं।

प्राणायाम के तीन अंग हैं—पूरक, कुंभक, रेचक। आसन लगाकर प्राण-वायु (साँस) को धीरे धीरे भीतर खींचना पूरक है, उसे कुछ समय भीतर ही रोक रखना कुंभक और फिर धीरे धीरे बाहर निकाल देना रेचक। कुंभक अनेक प्रकार के होते हैं जिनमें 'केवल' कुंभक मुख्य है। प्राणायाम 'बंधों' और 'मुद्राओं' के साथ करने से विशेष लाभ होता है। बंध तीन प्रकार के हैं—मूल-बंध, उड्डीयान बंध, जालंधर बंध। मुद्राओं का उल्लेख आगे किया जायगा।

शरीर में यों बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, परंतु तीन सबसे प्रधान हैं—इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना। प्राणसंचार इड़ा और पिंगला से होता है, सुषुम्ना का द्वार बंद रहता है। इड़ा बाईं ओर की और पिंगला दाहिनी ओर की नाड़ी है। दोनों के मध्य में सुषुम्ना मूलस्थान से रीढ़ के भीतर होती हुई ऊपर जाती है। प्राणायाम का लक्ष्य प्राणवायु को सुषुम्ना के भीतर प्रवेश कराना है। तभी प्राण स्थिर होता और उन्मनी कला प्राप्त होती है अर्थात् मन भी एकाग्र और स्थिर होकर सूक्ष्म तत्त्व की ओर उन्मुख होता है। प्राणायाम सिद्ध होने पर यथेष्ट वायुधारण करने की शक्ति प्राप्त होती और सहज में ही राजयोग (समाधि) की सिद्धि हो जाती है। शरीर में कृशता, प्रसन्न मुख, स्फुट वाणी, निर्मल नयन, अरोगता, विंदु (वीर्य)-जय, दीप्त अग्नि इत्यादि प्राणायाम-सिद्धि के प्रकट लक्षण हैं।

(३) मुद्रा—प्राणवायु को सुषुम्ना में प्रविष्ट करानेके लिये कुंडलिनी को उद्बुद्ध करना पड़ता है। यह कुंडलिनी सुषुम्ना का मुख बंद किए सर्पाकार कुंडली बाँधकर सोती रहती है। जब यह उद्बुद्ध होती है तो सीधी हो जाती है और सुषुम्ना का द्वार जो मोक्षद्वार कहलाता है, खुल जाता है। जैसे कुंजी से कपाट खोला जाता है उसी प्रकार कुंडलिनी के द्वारा योगी मोक्षद्वार को खोलता है।*

---

* उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुंजिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ह० प्र०, २।१०५

कुंडलिनी को जगाने के लिये मुद्रा का अभ्यास करना पड़ता है। मुद्राएँ दस हैं जिनमें खेचरी प्रधान है। दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर रख जीभ को तालु-विवर में प्रविष्ट कराना (इसे गोमांस-भक्षण भी कहते हैं) खेचरी मुद्रा है। इस मुद्रा में योगी ब्रह्मरंध्र में स्थित चंद्रमा से झरनेवाले रस (अमृत, सोम वा वारुणी) का पान करता है। इसकी युक्ति न जानने से नाभि में स्थित सूर्य उस अमृत को ग्रस लेता है, जो जरा आदि का कारण है।

(४) नादानुसंधान—जब कुंडलिनी उद्बुद्ध होती है और प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवेश करता है तब वह छहों चक्रों और तीनों ग्रंथियों का भेदन करने के बाद स्थिर हो जाता है। सुषुम्ना के मार्ग में छः चक्र इस प्रकार हैं—गुदा के पास मूलाधार, मेढ़ू के पास स्वाधिष्ठान, नाभिदेश में मणिपूर, हृदय में अनाहत, कंठ में विशुद्ध और भ्रूमध्य में आज्ञा। ये चक्र कमलपुष्प के आकार के कहे गए हैं जिनमें क्रमशः चार, छः, दस, बारह, सोलह और दो दल होते हैं। अनाहत चक्र में ब्रह्म ग्रंथि, विशुद्ध में विष्णु ग्रंथि और आज्ञा में रुद्र ग्रंथि होती है।

जब चक्रों और ग्रंथियों का भेदन करता हुआ प्राणवायु सुषुम्ना-पथ से ऊपर चढ़ता है तो शरीर के भीतर अनेक विचित्र ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। यही अनाहत नाद का श्रवण है। आरंभ में समुद्र या मेघ के गर्जन अथवा भेरी या झर्झर की सी और मध्य में मर्दल, शँख, घंटा और काहल की सी ध्वनि सुनाई देती है। अंत में किंकिणी, वीणा, भ्रमर-गुंजन का सा मधुर शब्द सुनाई पड़ता है। आज्ञा चक्र में रुद्र ग्रंथि को भेदने के बाद मन, प्राण, नाद—तीनों का लय हो जाता है। मन निर्विषय हो जता है, ज्ञाता-ज्ञेय का भेद मिट जाता है। निर्विकल्प समाधि लग जाती है और योगी सहज आत्मसुख का अनुभव करता है।

मंत्रयोग

चित्तवृत्तियों के निरोध के लिये हठयोग की क्लिष्ट क्रियाएँ निम्न कोटि

की मानी गई हैं। विशेष युक्तिपूर्वक प्राणायाम के साथ मंत्र या नाम-जप के द्वारा (शब्द के सहारे) मन को धीरे धीरे स्थिर करने की क्रिया मंत्रयोग या शब्दयोग है। जप के साथ प्राण और मन दोनों का निरोध सहज में हो जाता है और चित्त विषयों को छोड़ समाधि का सहज सुख प्राप्त करता है, अतः यह सहज योग भी है। पर सभी प्रकार के योगों के लिये गुरु की आवश्यकता तो है ही।

भक्ति

मुक्ति के हेतु गौण साधन रूप भक्ति का विधान ज्ञान-मार्ग में भी है। योग में ईश्वर-प्रणिधान तथा कर्मसार्ग में बहुदेव-प्रीति भी भक्ति ही है। परंतु भक्ति-सिद्धांत के अनुसार आत्यंतिक दुःख-निवृत्ति अथवा परमानंद की प्राप्ति केवल या प्रधान रूप से भक्ति द्वारा ही संभव है। ज्ञानादि का स्थान यदि उसमें है तो केवल गौण रूप में। भक्त के सर्वस्व भगवान हैं, वह अनन्य भाव से उन्हीं की शरण में जाता है। उन्हीं के अनुग्रह से उसका अज्ञान अथवा कर्मबंधन नष्ट होता है।

भारतीय भक्तिमार्ग के सामान्यतः दो भेद बतलाए जाते हैं—(१) श्रुति-सम्मत और शास्त्रीय (२) श्रुतिविरुद्ध और अशास्त्रीय।* परंतु भारतीय विचारधारा में कई विभिन्न स्रोतों का ऐसा विचित्र सम्मिलन हुआ है और श्रुति के तात्पर्य के विषय में विचारशास्त्रियों में इतना स्पष्ट मतभेद है कि क्या श्रुतिसम्मत है और क्या तद्विरुद्ध इसका निर्णय करना सहज नहीं है। मध्ययुग के भक्ति-आंदोलन के प्रथम प्रसिद्ध, आचार्य श्री रामानुज पांचरात्र आगम को श्रुत्यनुकूल होने के कारण तद्वत् प्रमाण मानते हैं। परंतु शंकराचार्य

---

* श्री क्षितिमोहन सेनकृत 'मेडीवल मिस्टिसिज़्म ऑव इंडिया' में भारतीय संतों की दो श्रेणियाँ इस प्रकार मानी गई हैं—(१) लोक-वेद-पंथी (२) अनभौ-साँच-पंथी। एक श्रुति और शास्त्र की मर्यादा को माननेवाले और दूसरे स्वयं अपने अनुभव को प्रमाण माननेवाले। तुलसीदास लोकवेदपंथी हैं और कबीर अनभौसाँच पंथी।

ने बादरायण सूत्रों के अपने भाष्य[1] में उक्त आगम के चतुर्व्यूह[2] सिद्धांत का खंडन किया है और उसे अवैदिक बताया है। इधर भीमाचार्य न्यायकोश के अनुसार स्वयं शंकराचार्य का मायावाद अवैदिक अतएव नास्तिक है। आचार्य कुमारिल सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत मतों को बौद्ध मत की भाँति अवैदिक मानते हैं।[3] ऐसी अवस्था में इस प्रश्न को यहीं छोड़ पहले भक्ति के भिन्न-भिन्न स्वरूपों का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है।

वैदिक उपासना

ऋग्वेद में अग्नि, इंद्र, वायु, रुद्र, विष्णु, वरुण आदि अनेक देवों की स्तुतियाँ हैं। याज्ञिक लोग इन सब देवों को पृथक्-पृथक् मानते हैं, और सो भी निर्जीव पदार्थ सदृश। उनको मानने का प्रयोजन केवल इतना ही है कि यज्ञ में उनका नाम लेकर बलि दी जाय। निरुक्तकार यास्क मुनि ने समस्त देवताओं के तीन वर्ग किए हैं। पृथ्वी, अतरिक्ष और द्युलोक में क्रमशः (१) अग्नि (२) इंद्र और (३) आदित्य मुख्य हैं। भारतीय अध्यात्मविदों के मत से ये सब देव एक के ही अनेक रूप है। "देवता महाभाग हैं, अतः उनका एक आत्मा अनेक रूपों में स्तुत होता है।"[4] स्वयं ऋग्वेद के अनुसार "बुद्धिमान् लोग एक को ही अनेक प्रकार से कहते हैं।[5] पाश्चात्य विद्वान् उक्त देवों को भौतिक शक्तियों के अधिष्ठाता वा प्रतीक के रूप में मानते हैं और एकेश्वरवाद को स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं करते।[6] परंतु भारतीय वैदिक पंडित

१—शांकर भाष्य २।२।४२-४५

२—ब्रह्म (वासुदेव) से जीव (संकर्षण), उससे मन (प्रद्युम्न), और उससे अहंकार (अनिरुद्ध) की उत्पत्ति।

३—डा० राधाकृष्णन् : इंडियन फ़िलॉसफी, भाग २, भूमिका।

४—महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा श्रूयते। एकस्यात्मनोऽन्येदेवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति॥ यास्क ७।४।८-९

५—एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति……। ऋ० १।१६४।४६

६—एच० डी० ग्रिजवल्ड : रिलिजन ऑव द ऋग्वेद, अध्याय ४

अध्यात्मविदों को प्रमाण मानकर वैदिक उपासना को एक परमात्मा की ही उपासना मानते हैं। उनके कथनानुसार सूर्यपूजा, अग्निपूजा, तारकपूजा और वीरपूजा—यह सब सूर्य आदि तत्तत् प्रतीकों द्वारा एक परमात्मा की ही पूजा है, केवल प्रतीकों की पूजा नहीं।*

यथार्थ मत यही जान पड़ता है कि वैदिक ऋषियों को परमात्मा की ज्योति के दर्शन जिन जिन रूपों में हुए उन उन अनेक रूपों में उन्होंने एक ही परमात्मा की स्तुति की है, भले ही सब देवों में एकात्म-बुद्धि का विकास ऐतिहासिक दृष्टि से बाद में चलकर हुआ हो। अतः निश्चित रूप से वह एक परमात्मा की ही पूजा है। परंतु यह एक की पूजा केवल उसी की दृष्टि से है जो अनेक देवों के भीतर के एकत्व को जानने या अनुभव करनेवाला है (एकत्वमनुपश्यतः—ईशोपनिषद्)। इस 'एक' की पूजा अनेक प्रतीकों द्वारा एक साथ ही संभव नहीं है; क्योंकि प्रतीकोपासक के लिये तो जिस प्रतीक के रूप में उसे सत्य का दर्शन होता है वही एक रूप सत्य है, उसी में उसकी एक-बुद्धि होगी। एक ही देव में सर्वभाव से एक बुद्धि रखना एक बात है और अनेक देवों की एकात्मता का अनुभव कर उस अनेक-में-एक रूप परमात्मा की उपासना करना बिलकुल दूसरी बात। प्रथम प्रकार की उपासना ही उस सगुण और साकार एकेश्वरवाद का मूल है जो वैष्णव सगुण भक्ति की विशेषता है। द्वितीय प्रकार की उपासना उस आत्मोपासना का आधार है जो उपनिषदों का सर्वस्व है। भेद के भीतर से झाँकनेवाली एकता अस्पष्ट होने के कारण एक ऐसा महान् रहस्य (ब्रह्मोपनिषद्) है जो सबके लिये सरलता से गम्य नहीं है। वह एकता एक चेतन परमात्मा के रूप में भक्ति का भी विषय हो सकती है, अथवा वह केवल एक जड़ सिद्धांतवाद है, यह प्रश्न दूसरा है; परंतु वह भक्ति का विषय हुई है, इसमें सैकड़ों भक्तों के अनुभव प्रमाण हैं।

वेद के अनेक देव चाहे सब एक दूसरे से पृथक् हों, अथवा सब एक के ही भिन्न-भिन्न अनेक रूप हों, परंतु यह तो निश्चित है कि उन सबके रूप, गुण

* "गंगा" पत्रिका (वेदांक), आचार्य ध्रुव, 'वेद वेदार्थ और वैदिक देवता'।

विप्रा बहुधा वदन्ति'; तथा उपनिषद् की भी घोषणा सुनते हैं—'एको वशी सर्व भूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।' भिन्न-भिन्न रूपों की उपासना इस एकत्व-भावना की विरोधिनी नहीं है, क्योंकि उपास्य के रूपभेद तात्त्विक नहीं है। यदि कोई व्यक्ति सैनिक अधिकारी हो, उद्यान-कर्म में भी उसकी प्रीति हो और वह सफल गृहस्थ भी हो तो यह संभव है कि उसके तीन बालकों में से एक को उसका सैनिक रूप, दूसरे को माली रूप और तीसरे को पिता रूप अन्य रूपों से अधिक प्रिय हो, यद्यपि अन्य रूपों में अवज्ञा-भाव आवश्यक नहीं है। उसी प्रकार यह भी सर्वथा स्वाभाविक है कि किसी एक देव में अनन्य भाव रखते हुए भी अन्य देवों में अवज्ञा-भाव न हो, क्योंकि सब देव एक ही के अनेक रूप है।

श्वेताश्वरतर उपनिषद् और गीता

उपनिषदों में अनेक देवों के ही नहीं, सर्वभूत के आत्मैक्य का प्रतिपादन है। उनमें अद्वैत तत्त्व को जानने पर ही अधिक जोर दिया गया है। उपास्य परमात्मा के अनुग्रह आदि मानव-हृदय को आकर्षित करनेवाले गुणों का उनमें प्रायः अभाव है। पर नितांत अभाव नहीं कह सकते। मुंडक उपनिषद् कहती है—'यह आत्मा उसी को लभ्य होता है जिसपर वह कृपा करता है।'[1] प्राचीन उपनिषदों में केवल श्वेताश्वतर में दूध में घी के समान सर्वव्यापी[2], विश्व के भर्ता[3] तथा क्षर प्रकृति एवं अक्षर आत्मा के स्वामी एक परमात्मा[4] का स्पष्ट रूप से वर्णन है। वह भगवान विश्वरूप, त्रिगुण,[5] विश्व को परिवेष्टित करनेवाला तथा अनेकरूप विश्व का स्रष्टा भी है[6] और निष्कल, निष्क्रिय,

---

१—यमैवेष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्। मुं०, ३।२।३

२—सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्। श्वेत०, १।१६

३—संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः। श्वेत०, १।८

४—क्षरंप्रधानं अमृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। वही, १ १०

५—स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः। वही, ५।७

६—अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्यस्रष्टारमनेक रूपम्। वही, ५।१३

निरंजन[1] निर्गुण[2] एवं अकर्ता भी।[3] वह सर्वतः पाणि-पाद-अक्षि-शिर-मुख वाला है और संपूर्ण विश्व को आवृत किए रहता है[4] तथा सर्वेंद्रिय-विवर्जित[5] रहकर विश्व में अपने आपको आवृत कर लेता है।[6] वह सबका जनयिता है और स्वयं गर्भ में प्रवेश कर वही जन्म भी लेता है।[7] वह सब देवों का जनक और विश्व का अधिपति है;[8] सबका प्रभु, सबको शरण देनेवाला[9] तथा शुभ बुद्धि का दाता है।[10] मोक्ष की कामना करनेवाले सब उसी की शरण में जाते हैं।[11] वह सूर्य, चंद्र, तारक, विद्युत अथवा अग्नि द्वारा प्रकाशित नहीं है, प्रत्युत ये सब उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं।[12] उसकी कोई प्रतिमा नहीं है,[13] अतः उसका रूप कोई आँखों से नहीं देख सकता। उस हृदयस्थ देव को जो मन से, हृदय से जान लेता है वह अमृत हो जाता है।[14] उस परमात्मा का

१—निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्। वही, ६।१९

२—कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च वही, ६।११

३—अनन्तश्चात्मा विश्वरूपोह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्। वही, १।९

४—सर्वतः पाणिपाद तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ वही, ३।१६

५—सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। ३।१७

६—देव एकः स्वमावृणोति स नो दधातु ब्रह्माव्ययम्। ६।१०

७—एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥ २।१६

८—यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः। ४।१२

९—सर्वस्य प्रभुमीशान सर्वस्य शरण बृहत्। ३।१७

१०—विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु। ४।१

११—तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये। ६।१८

१२—न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ ६।१४

१३—न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः। ४।१९

१४—न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति। ४।२०

दर्शन उसी की कृपा से (धातुःप्रसादात्, ३।२०; देवप्रसादात्, ६।२१) प्राप्त हो सकता है। वह सर्वभूत में छिपा हुआ सबका अंतरात्मा[१] सब जनों के हृदय में सन्निविष्ट[२] तथा भावग्राह्य है।[३] उस परमात्मा में जिसकी परा भक्ति है और जैसी भक्ति उस परमात्मा में वैसी ही गुरु में भी है, उसी महात्मा को ये रहस्य प्रकाशित होते हैं।[४]

उस परमात्मा के विषय में यह भी कहा गया है कि एक रुद्र ही देव है, दूसरा कोई नहीं।[५] वही अग्नि, आदित्य, वायु, चंद्रमा, शुक्र, ब्रह्म, जल (आपः) तथा प्रजापति है।[६] परंतु अन्य (पिछले) उपनिषदों में अन्य देवों के लिये भी कुछ इसी प्रकार के वर्णन पाए जाते हैं। यथा सूर्योपनिषद् में कहा गया है कि सूर्य से ही सर्वभूत उत्पन्न होते हैं, उसी से यज्ञ, पर्जन्य, अन्न और आत्मा की भी उत्पत्ति होती है। वही कर्म और कर्ता तथा प्रत्यक्ष ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा ऋक्, यजु, साम, अथर्वण आदि है।[७] नारायणोपनिषद् में नारायण को परम ज्योति, परमात्मा, विश्वात्मा आदि कहा गया है।[८]

१—एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। ६।११

२—एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। ४।१७

३—भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्। ५।१४

४—यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ ६।२३

५—एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्यइमॉल्लोकानीशतईशनीभिः। ३।२

६—तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चंद्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः॥ ४।२

७—सूर्याद्वै खलु इमानि भूतानि जायन्ते। सूर्याद्यज्ञः पर्जन्योऽन्नमात्मा। नमस्त आदित्या त्वमेव प्रत्यक्षं कर्मकर्ताऽसि। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वमेव प्रत्यक्षं विष्णुरसि त्वमेव प्रत्यक्षं रुद्रासि। त्वमेव प्रत्यक्षं ऋगसि ''। —सूर्योपनिषद्।

८—नारायणं महाज्ञेयं विश्वात्मानं परायणम्।
नारायणो परो ज्योतिरात्मा नारायणः परः॥
यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥ नारा० उप०

श्वेताश्वर में भोक्ता, भोग्य एवं प्रेरिता रूप त्रिविध ब्रह्म का उल्लेख है।[१] अक्षर आत्मा क्षर प्रकृति का भोक्ता होने के कारण बंधन में पड़ता है और प्रेरिता ब्रह्म को जानकर बंधन से मुक्त होता है।[२] प्रेरिता ब्रह्म क्षर और अक्षर (प्रकृति और आत्मा) दोनों का स्वामी[३] तथा महान् पुरुष[४] है। इस परम पुरुष या उत्तम पुरुष का उल्लेख भगवद्गीता में भी हुआ है। क्षर प्रकृति और अक्षर आत्मा इन दोनों से अन्य उत्तम पुरुष परमात्मा है। क्षरातीत एवं अक्षर आत्मा से भी उत्तम होने के कारण वह परमात्मा पुरुषोत्तम है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जो मोहरहित होकर इस प्रकार मुझ पुरुषोत्तम को जानता है वह सर्वविद् सर्वभाव से मुझे भजता है।[५] परंतु श्वेताश्वतर में वह ब्रह्म परम पुरुष हर, रुद्र या शिव हैं और गीता में वासुदेव कृष्ण। श्वेताश्वतर में शिव के किसी रूप विशेष का वर्णन नहीं है, किंतु गीता में अर्जुन के विराट् एवं चतुर्भुज रूपों का वर्णन है। यों तत्त्वतः इस चतुर्भुज रूप के अतिरिक्त दोनों में कोई विशेष अंतर नहीं है। जैसे शिव भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता रूप त्रिविध ब्रह्म हैं उसी प्रकार कृष्ण भी क्षर-अक्षर-परमपुरुष रूप त्रिविध ब्रह्म हैं। उस ब्रह्म पद का वर्णन कृष्ण ने गीता में स्वयं किया है, जो श्वेताश्वतर

१—भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्। श्वेत०, १।१२
२—अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। वही, १।८
३—क्षरात्मानावीशते देव एकः। वही, १।१०
४—तमाहुरग्र्यम् पुरुषं महान्तम्। ३।१९
५—द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ गीता, १५।१६-१९

के वर्णन से मिलता-जुलता है। यथा 'उसे सूर्य, चंद्रमा वा अग्नि प्रकाशित नहीं करता। जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं होता वही मेरा परमधाम है।[१] जो आदित्यगत तेज जगत् को भासित करता है, जो तेज चंद्रमा और अग्नि में है, उसे मेरा ही तेज जानो।[२] मैं सबके हृदय में सन्निविष्ट हूँ[३] इत्यादि।

श्वेताश्वतर की भाँति गीता में भी भक्ति की कोई व्याख्या नहीं की गई है। परंतु गीता में भगवान के रूप और गुणों का जैसा आकर्षक वर्णन है वह निश्चय ही भक्तों के हृदय का सर्वस्व है। कृष्ण जगत् के पिता, माता, धाता, पितामह, भर्ता, प्रभु, शरण तथा सुहृद् हैं।[४] उनकी शरण में जाने से पापी भी तर जाते हैं; स्त्री, वैश्य तथा शूद्र भी परा गति को प्राप्त होते हैं।[५] कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि भक्ति के द्वारा मनुष्य मेरे तात्विक स्वरूप को जानकर परम तत्त्व में प्रवेश करता है।[६] ईश्वर सर्वभूत के हृद्देश में स्थित है। तुम सर्वभाव से उसी की शरण में जाओ, उसकी कृपा से परम शांति तथा शाश्वत

१—न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ वही, १५।६

२—यदादित्यगतः तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ वही, १५।१२

३—सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो। गीता १५।१५

४—पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च॥ ९।१७
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ ९।१८

५—मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ९।३२

६—भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ १८।५५

पद को पाओगे ।[1] तुम सब धर्मों को त्याग कर एक मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा, शोच मत करो ।[2]

श्वेताश्वतर में वर्णित परमात्म-तत्त्व के ज्ञान का आधार सांख्य और योग को माना गया है—तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः (६।१३) । भगवद्गीता में भी कृष्ण ने बताया है कि इस लोक में दो प्रकार की निष्ठाएँ हैं—एक सांख्यवादियों की (ज्ञानयोग द्वारा) और दूसरी योगियों की (कर्मयोग द्वारा) ।[3] परंतु सांख्य और योग में भेद न करके उन्होंने दोनों को अभिन्न बताया है—"सांख्य और योग को अबोध जन ही पृथक् कहते हैं, पंडित नहीं। एक में भी सम्यक् आस्था रखनेवाला दोनों के फल प्राप्त करता है ।[4]

इस प्रकार श्वेताश्वतर और गीता दोनों में तत्त्वज्ञान के आधार सांख्य और योग हैं (योग को सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है) परंतु इनमें परमात्मा और उसकी भक्ति को प्रधानता दी गई है। संभवतः ये ही दोनों—श्वेताश्वतर और गीता—आगे चलकर शैव और भागवत भक्ति के मुख्य आधार बने।

श्री रामानुजाचार्य

श्री शंकराचार्य ने वेदांत-सूत्रों के अपने शारीरक भाष्य में सांख्य, योग,

---

१—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ १८।६१-६२

२—सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ १८।६६

३—लोकेस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३।३

४—सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ गीता, ५।४

न्याय, वैशेषिक पाशुपत और पांचरात्र मतों की ईश्वर-कल्पना को वेदबाह्य मानकर उनका खंडन किया है। उनके मत से वेद के अनुसार ब्रह्म ही जगत्-का उपादान और निमित्त दोनों कारण है, परंतु पाशुपत में प्रकृति और पुरुष के अधिष्ठाता एक ईश्वर (पति) की कल्पना है। ऐसा ईश्वर प्राणियों में हीन-मध्यम-उत्तम भाव रखने से राग-द्वेष-युक्त होने के कारण ईश्वर नहीं हो सकता। यदि उसका भेद-भाव जीवन के भले-बुरे कर्मों के कारण हो तो कर्म और ईश्वर एक दूसरे के आश्रित हुए।

पाशुपत मतों की तत्त्व-उपासना और अनुष्ठान-कल्पना को श्री रामानुजाचार्य भी वेदविरुद्ध मानते हैं। इन मतों ने निमित्त और उपादान कारणों में भेद किया है। परंतु पांचरात्र तंत्र को वे स्वयं नारायणप्रणीत होने के कारण वेदवत् प्रमाण मानते हैं। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि पांचरात्र में ब्रह्म के निमित्तोपादानकारणत्व का विरोध नहीं है, न उसमें वेदनिंदा ही है।

सांख्य, योग और पाशुपत मतों के कर्ता क्रमशः कपिल, हिरण्यगर्भ और पशुपति होने के कारण वे मत अपौरुषेय हैं। परंतु पांचरात्र को नारायण ने स्वयं बनाया, अतः इतर तंत्रों से उसकी कोई समानता नहीं। परंतु सांख्य, योग और पाशुपत मतों में भी श्री रामानुज क्रमशः तत्त्व, योग और पशुपति के स्वरूप को अंगीकार करते हैं, जिन-सुगत-अभिहित तत्त्वों की भाँति वे सबको बहिष्कार्य नहीं मानते।

श्री रामानुजाचार्य के मत से वासुदेवाख्य परब्रह्म ही आश्रित-वत्सल होने के कारण स्वेच्छा से चार रूप धारण करता है, अतः चातुरात्म्योपासना परब्रह्म की ही उपासना है। वासुदेवाख्य परब्रह्म संपूर्ण षाड्गुण्यवपु (छः गुण-रूप) और सूक्ष्म-व्यूह-विभव-भेदभिन्न (सूक्ष्म = केवल षाड्गुण्यवपु; व्यूह=चतुर्व्यूह; विभव=रामकृष्णादि रूप; इन तीन भेदोंवाला) है तथा यथाधिकार भक्तों द्वारा ज्ञानपूर्वक कर्म से अभ्यर्चित होकर सम्यक् रूप से प्राप्त होता है। विभवार्चन से व्यूह की और व्यूहार्चन से सूक्ष्म परब्रह्म वासुदेव की प्राप्ति होती है।

स्पष्ट है कि रामानुज सगुण ब्रह्म को मानते हैं। निर्गुण को भी मानते

हैं, परंतु केवल 'प्राकृत-गुण-हीन' वा 'दिव्य-गुण-युक्त' के अर्थ में। वस्तुतः इनका सूक्ष्म षाड्गुण्यवपु ब्रह्म सगुण ही है। शंकर की भाँति अद्वैतवादी ये भी हैं और ब्रह्म को निमित्तोपादान कारण मानते हैं। परंतु अद्वैत का अर्थ इनके लिये यह है कि जीव और प्रकृति ब्रह्म के गुण या अंश या शरीर रूप में उससे अभिन्न हैं। इसीलिये इनका मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। इनके मत से ईश्वर वस्तुतः जगत् का आधार है, कारण नहीं। जीव और ब्रह्म में अंतर है। दोनों का भेद सत्य है।

श्रीमद्भागवत

भागवत में भगवान की विभूतियों का, उनके सगुण अवतारों और चरित्रों का वर्णन है। ब्रह्मादि सब देव उनका गुणगान करते हुए भी उनके तात्त्विक स्वरूप को नहीं जानते (न यं विदन्ति तत्त्वेन—भाग०, ३।६।३६)। भगवान विशुद्ध केवल ज्ञानस्वरूप, सत्य, पूर्ण, आद्यन्तहीन, नित्य, निर्गुण और अद्वय हैं।[1] मुनिगण जिसे ब्रह्म कहते हैं वही उन परम पुरुष भगवान का स्वरूप है। वे नित्य सुखस्वरूप, सदा शोकहीन हैं; सदा शांत, अभय, ज्ञान-स्वरूप, शुद्ध, सम, सत्-असत् से परे, आत्मतत्त्व रूप हैं। शब्दों द्वारा वे प्रकाशित नहीं किए जा सकते।[2] यद्यपि उनका वर्णन जगत् के स्रष्टा, पालक और संहारक आदि के रूप में किया जाता है, परंतु विवेकी पुरुषों को उन्हें

१—विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितं।
सत्यं पूर्णं अनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम्॥

२—शश्वत्प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं
शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम्।
शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो
माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना॥
तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो
ब्रह्मेति यद्विदुरजस्रसुखं विशोकम्। भाग० २।७।४७-४८

कर्ता आदि के रूप में न देखना चाहिए, क्योंकि वे तो अकर्ता हैं, कर्तृत्व उनमें माया द्वारा आरोपित है।[1]

भागवत के अनुसार दुःख और बंधन का कारण मायाजन्य अज्ञान (आत्मविपर्यय) ही है। नारद ने मैत्रेय से शंका की कि ब्रह्मन्, भगवान तो चिन्मात्र स्वरूप, निर्विकार और निर्गुण हैं फिर लीला से भी उनके साथ गुण और क्रिया का संबंध कैसे हुआ?[2] एक ही भगवान सब प्राणियों में अवस्थित हैं (अतः सब कर्ता और भोक्ता जीव भगवान ही हैं) फिर उनको कर्मों के द्वारा दुःख होना कैसे संभव है?[3] मैत्रेय ने उत्तर दिया कि भगवान की माया के कारण विमुक्त ईश्वर में दुःख और बंधन की प्रतीति होती है। जैसे हिलते हुए जल में कंपादि चंद्रमा में ही प्रतीत होते हैं उसी प्रकार द्रष्टा आत्मा में अनात्म देहादि के गुण न रहने पर भी उनकी प्रतीति होती है। यही आत्म-विपर्यय है जो समस्त दुःखों का कारण है। यह भगवान की कृपा तथा भगवद्-भक्ति के द्वारा धीरे धीरे नष्ट होता है। जब सब इंद्रियाँ द्रष्टा आत्मा रूप

१—स एवेदं जगद्धाता भगवान् धर्मरूपधृक्।
पुष्णाति स्थापयन् विश्वं तिर्यङ् नरसुरात्मभिः॥
ततः कालाग्निरुद्रात्मा यत्सृष्टमिदमात्मनः।
संनियच्छति कालेन घनानीकमिवानलः॥
इत्थंभावेन कथितो भगवान्भगवत्तमः।
नेत्थंभावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरयः॥
नास्य कर्मणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते।
कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं माययारोपितं हि तत्॥ वही, २।१०।४२-४५

२—ब्रह्मन्कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः।
लीलया चापि युज्येरन्निर्गुणस्य गुणक्रियाः॥ भाग०, ३।७।२

३—भगवानेक एवैकः सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः।
अमुष्य दुर्भगत्वं वा क्लेशो वा कर्मभिः कुतः॥ वही, ३।७।६

भगवान में निश्चल हो जाती हैं तो सभी क्लेश पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं।[१]

इस प्रकार भागवत में परब्रह्म भगवान् नारायण वासुदेव निर्गुण, निष्क्रिय, अद्वय, आत्मतत्त्व रूप ही है। गुण और क्रिया उनमें माया द्वारा आरोपित हैं। शुद्ध अद्वैत आत्मस्वरूप का ज्ञान न होना ही दुःख का कारण है। भगवान की भक्ति और कृपा से ही अज्ञान दूर होकर मुक्ति होती है। अतः यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि सगुण और साकार लीला अर्थात् भगवान के अनेक अवतार और चरित्रों का गान करते हुए भी भागवत में निर्गुण निराकार को ही भगवान का शुद्ध स्वरूप बतलाया गया है। उसकी भक्ति का उसमें विरोध नहीं, प्रत्युत वहाँ अमृतत्त्व का कारण बतलाई गई है।

भागवत के अनुसार भक्ति में कोई भेदभाव नहीं है और भगवान की भक्ति का आश्रय लेकर स्त्री, शूद्र, हूण, शबर और सभी पापी जीव भगवान के स्वरूप को जानकर तर जाते हैं।[२]

भक्तिशास्त्र

गीता, भागवत आदि ग्रंथों मे यद्यपि भक्ति का प्रधानता से प्रतिपादन

१—सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुद्ध्यते।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम्॥
यदर्थेन विनाऽमुष्य पुंस आत्मविपर्ययः।
प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरच्छेदनादिकः॥
यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुणः॥
स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया।
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह॥
यदेन्द्रियोपरामोथ द्रष्टात्मनि परे हरौ।
विलीयन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः॥ वही, ३।७।९-१३

२—ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां
स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः। वही, २।७।४६

किया गया है तथापि वे भक्तिशास्त्र नहीं कहे जा सकते। शास्त्रीय रूप में भक्ति का विवेचन करनेवाले ग्रंथ मध्यकालीन भक्ति को लेकर कई लिखे गए, पर, दो प्राचीन माने जानेवाले ग्रंथ भी प्रसिद्ध हैं—नारद भक्तिसूत्र और शांडिल्य भक्तिसूत्र। ये दोनों ही भागवत पर आश्रित माने जाते हैं। राधा का उल्लेख भागवत की भाँति इन दोनों में भी नहीं है। शांडिल्य सूत्रों का विशेष प्रचार उत्तर भारत में तथा नारद का दक्षिण भारत में कहा जाता है। भाषा और शैली की सरलता के साथ भक्ति-पद्धति की भी सरलता नारद भक्तिसूत्रों की विशेषता है। दोनों सूत्रग्रंथों में ईश्वरविषयक प्रेम को ही भक्ति कहा गया है, परंतु शांडिल्य सूत्रों में उसकी व्याख्या कुछ विशेष रूप से की गई है।

नारद भक्तिसूत्र—इसमें कुल केवल ८४ सूत्र हैं। इसमें भक्ति की जो व्याख्या की गई है उसकी कुछ बातें साररूप में यहाँ दी जाती हैं।

(१) भक्ति ईश्वर में परम-प्रेम-रूपा है—सात्वस्मिन्परमप्रेमरूपा (सूत्र २)। उसे प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध, अमृत और तृप्त हो जाता है। उसे किसी वस्तु की कामना नहीं रह जाती, वह आनंद से मत्त, निष्क्रिय और आत्माराम हो जाता है (४–६)।

भक्ति निरोधरूपा है, अर्थात् भगवान की भक्त करने में लौकिक वैदिक कर्मों, भगवद्विरोधी सभी बातों तथा अन्य आश्रय का त्याग करना पड़ता है (७–१०)।

(२) व्यास के मत से भक्ति का लक्षण है पूजादि में अनुराग; और गर्ग के मत से भगवान की कथा आदि (में अनुराग)। शांडिल्य के मत से भक्ति का आत्मरति से अविरोध है—आत्मरत्यविरोधेन तु शांडिल्यः (१५-१८) नारद के मत से समस्त कर्मों और आचारों को ईश्वरार्पण करना और उसके विस्मरण में परम व्याकुलता का अनुभव करना ही भक्ति है (१९)। गोपियों की भक्ति इसी प्रकार की थी (२१)।

(३) कर्म, ज्ञान और योग इन सबसे भक्ति श्रेष्ठ है (२५), क्योंकि एक तो भक्ति किसी फल के लिये नहीं की जाती, वह स्वयं अपना फल है;

दूसरे भक्ति में कर्म और ज्ञान का सा अहंकार नहीं होता और भगवान अभि-मानियों से द्वेष तथा दैन्य भाव रखनेवालों से प्रीति करते हैं (२६–२७)।

कुछ लोग ज्ञान को भक्ति का साधन मानते हैं, कुछ भक्ति और ज्ञान को अन्योन्याश्रित कहते हैं, परंतु नारद के मत से भक्ति स्वयं फलरूप है। ज्ञान, कर्म आदि से न ईश्वर प्रसन्न होता है, न शांति मिलती है, अतएव मोक्ष चाहनेवालों को भक्ति का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिए (३३)।

विषय-वासना का त्याग, अखंड भजन आदि भक्ति के अनेक साधन हैं, परंतु सबसे मुख्य साधन है बड़ों की (गुरु,की) कृपा अथवा भगवान की कृपा (३८)। संतों या श्रेष्ठ जनों का संग अत्यंत दुर्लभ है, वह भी भगवान ही की कृपा से प्राप्त होता है, (बिनु हरि कृपा मिलैं नहिं संता—तुलसी) क्योंकि भगवान अपने भक्त से अभिन्न है (४१); अतः उसकी कृपा ही प्राप्त करो। जो दुःसंग को त्यागकर सत्संग करता है, जो ममत्व को छोड़कर सांसारिक बंधनों को छिन्न-भिन्न करके निस्त्रैगुण्य हो जाता है, जो अपने योगक्षेम तथा कर्मफल को त्यागकर निर्द्वन्द्व हो जाता है, जो वेदों को भी छोड़कर केवल अवि-च्छिन्न ईश्वरानुराग लाभ करता है वही भवसागर को स्वयं पार करता है और दूसरों को भी पार उतारता है (४६-५०)।

(४) प्रेम का स्वरूप मूकास्वाद ('गूँगे का गुड़'—कबीर) की भाँति अनि-र्वचनीय है। वह गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण-वर्धमान तथा अखड एवं अत्यंत सूक्ष्म अनुभवरूप है (५१-५४)। ज्ञानभक्ति सबसे श्रेष्ठ होती है (५७)।

(५) स्वानुभूति रूप, शांतिरूप तथा परमानंद रूप होने के कारण भक्ति ज्ञानयोगादि की अपेक्षा सुलभ है (५८-६०)। भक्ति के सिद्ध हो जाने पर लोकव्यवहार त्याज्य नहीं है, केवल कर्मफल का त्याग करना चाहिए। अपने समस्त आचारों और कर्मों को भगवान को अर्पित करना चाहिए। (६५) निष्काम होकर नित्य दास्य तथा नित्य कांताभाव से भगवान से प्रेम करना चाहिए (६६)। ऐसा करनेवाला भक्त संसार को भगवानमय देखता है (७७)।

(६) भक्तों में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि का कोई भेद

नहीं होता, क्योंकि सभी भक्त भगवान के हैं, अथवा भगवान के ही रूप हैं (७२-७३)।

भक्तों को अहिंसा, सत्य आदि धर्मों का पालन करना चाहिए और निश्चिंत होकर सर्वभाव से भगवान का भजन करना चाहिए; इससे वह अविलंब भक्तों के हृदय में प्रकट होता है।

भक्ति ग्यारह प्रकार की होती है—भगवान के गुणों और माहात्म्य में आसक्ति; उसके रूप, पूजा और स्मरण में आसक्ति; दास्य, सख्य, वात्सल्य और कांता-भाव से आसक्ति; आत्मनिवेदन, तन्मयता तथा परम विरहासक्ति। सनत्कुमार, व्यास, शुकदेव, शांडिल्य, गर्ग, विष्णु, कौंडिन्य, शेष, उद्धव, वारुणि, बलि, हनुमान, विभीषण आदि भक्ति के आचार्य जनजल्प से निर्भय होकर एक मत से ऐसा कहते हैं (८२-८३)।

शांडिल्य भक्तिसूत्र—इसमें एक सौ सूत्र हैं। इसके अनुसार भक्ति 'ईश्वर में परानुरक्ति' है—सा परानुरक्तिरीश्वरे (सूत्र २)। जीव ब्रह्म से अभिन्न है, अतः जीव का संसार साहजिक अर्थात् स्वाभाविक नहीं, प्रत्युत त्रिगुणात्मक प्रकृति की उपाधि कृत है, जैसे स्फटिक पर पड़ी हुई जपादि पुष्पों की लाली स्फटिक की नहीं बल्कि पुष्पों की है। उपाधि की हानि से जीव मुक्त अर्थात् ब्रह्मभावापन्न हो सकता है। परंतु ज्ञान से यह उपाधि नष्ट नहीं हो सकती, क्योंकि संसार मिथ्या अथवा अज्ञानकल्पित नहीं है जो ज्ञान से उसका नाश हो। केवल भक्ति से ही उसका नाश संभव है (शांडिल्य०, स्वप्नेश्वर कृत भाष्य)। संक्षेप में शांडिल्य भक्तिसूत्र की मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

(१) ज्ञान, योग और कर्म—इन सबमें भक्ति श्रेष्ठ है (२२)। ज्ञान की भाँति भक्ति में भी कृति या क्रिया की अपेक्षा नहीं होती (७)। गीता में जो यह कहा गया है कि 'भक्ति से मुझे जानता है' (भक्त्या मामभिजानाति—गी० १८।५५), उससे ज्ञान की प्रधानता सिद्ध नहीं होती। वहाँ 'जानाति' नहीं 'अभिजानाति' कहा गया है, और 'अभिज्ञान' पूर्व-प्राप्त ज्ञान का हुआ

करता है। अतः भक्ति के पूर्व ज्ञान भक्ति का सहायक है, इसमें कोई विरोध नहीं (१५)। योग ज्ञान और भक्ति दोनों के लिये अपेक्षित है। योग में जिस ईश्वर-प्रणिधान का विधान है वह गौण पूजादि है, परा भक्ति नहीं (१९-२०)। योग की भाँति भक्ति का राग से विरोध नहीं, भक्ति स्वयं रागात्मिका है; परंतु उत्तम राग होने के कारण वह हेय नहीं है (२१)।

(२) काश्यप के अनुसार भक्ति ऐश्वर्यपरा (ईश्वर के ईश्वरत्व में) होती है, क्योंकि जीव और ईश्वर में बहुत भेद है; बादरायण के अनुसार वह आत्मैकपरा अथवा आत्मरति रूप है, क्योंकि जीव और ईश्वर अभिन्न हैं; परंतु शांडिल्य उसे उभयपरा मानते हैं। उसके उभयपरक होने में कोई वैषम्य नहीं है। जैसे अवस्थाभेद से एक ही देवदत्त 'बालक देवदत्त', 'वृद्ध देवदत्त' इस प्रकार भिन्नवत् व्यवहृत होता है उसी प्रकार उपाधिभेद से जीव और ईश्वर का भी भिन्न व्यवहार होता है (२९-३२)।

(३) मूलतत्त्व दो ही हैं—ब्रह्म और प्रकृति। एक ज्ञाता है दूसरा ज्ञेय। इनके अतिरिक्त तीसरा कोई नहीं है। जीव और ब्रह्म तो अभिन्न ही हैं। ब्रह्म और प्रकृति दोनों अनादि और युक्त हैं, अतः उनका संबंध कोई तीसरी वस्तु नहीं। प्रकृति ब्रह्म की शक्ति या माया है, अतः वह अनृत नहीं है। उसी के द्वारा ईश्वर सृष्टि रचता है। अतः ईश्वर में विकार नहीं आता (३७-४२)।

(४) जीव के कल्याण के लिये ईश्वर दिव्य शरीर धारण करता है। इसका मुख्य कारण उसकी करुणा ही है (४७-४९)

(५) जीव की संसृति का कारण अज्ञान नहीं, अभक्ति है। अनन्य भक्ति के द्वारा बुद्धि का अत्यंत लय हो जाने पर ब्रह्मानंदलक्षणा मुक्ति प्राप्त होती है। तब जीव का कर्म और भोक्तृत्व नष्ट हो जाता है, केवल आयु का ही बंधन शेष रहता है, अर्थात् शेष आयु में वह जीवन्मुक्त अवस्था में रहता है (९६-९८)।

वैदिक और तांत्रिक भक्ति का समन्वय

ऊपर भक्तिमार्ग का परिचय मुख्यतः वेद, उपनिषद्, पांचरात्र, गीता,

भागवत तथा शांडिल्य और नारद के भक्तिसूत्रों के अनुसार दिया गया है। उसमें स्पष्टतः भक्ति की दो शाखाएँ लक्षित होती हैं—एक को हम वैदिक, औपनिषद, श्रौत आदि नाम दे सकते हैं और दूसरी को आगमिक, तांत्रिक, स्मार्त आदि। एक के आधार वेद अथवा उपनिषद् हैं और दूसरी के आगम, तंत्र अथवा स्मृति-ग्रंथ।

भूत-प्रेत से लेकर निर्गुण ब्रह्म तक उपास्य-भेद से भक्तों के अनेक वर्ग और संप्रदाय हैं जिनमें शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य, अग्नि तथा अन्य अनेक देवी-देवताओं के भक्त हैं। बौद्धों की महायान शाखा में भी भक्ति का सन्निवेश हुआ था। परंतु आगम अथवा तंत्र मुख्यतः बौद्ध, शैव, शाक्त और वैष्णव अथवा भागवत हैं। इनमें भी सबसे अधिक विकास भागवत भक्ति का हुआ, यहाँ तक कि 'भक्ति' कहने से साधरणतः भागवत भक्ति का ही बोध होता है। भागवत भक्ति का मूल आधार गीता, पांचरात्र, भागवत तथा शांडिल्य और नारद के भक्तिसूत्र हैं। भागवत वा वैष्णव भक्ति में भी उपास्य-भेद (राम, कृष्ण, विष्णु, नारायण) तथा सिद्धांत-भेद से कई संप्रदाय हैं जिनका स्फुट रूप हमें कबीर के समय में तथा उनके बाद दृष्टिगत होता है; यथा रामानंद, वल्लभ, मध्व तथा चैतन्य आदि के संप्रदाय। यद्यपि भक्ति मात्र का मूल वेदों और उपनिषदों में ढूँढ़ा गया है तथापि वैदिक उपासना एवं तांत्रिक भक्ति में कुछ ऐसा मौलिक भेद अवश्य दिखाई पड़ता है जिससे इस धारणा को बल मिलता है कि भागवत भक्ति मूलतः वैदिक नहीं है। उसमें वस्तुतः वैदिक और तदितर भारतीय उपासना-सिद्धांतों का समन्वय है। सांख्य, योग, वैशेषिक, पाशुपत, बौद्ध आदि मतों के साथ श्री शंकराचार्य ने पांचरात्रमूलक भागवत सिद्धांत को भी जो भ्रांतिमूलक[1] तथा वेदविरोधी[2] बताया है वह अकारण नहीं जान पड़ता।

१—भ्रान्तिमूलो भागवतसिद्धान्तः वासुदेवात् जीवस्योत्पत्तेरसम्भवात्।
—शारीरक भाष्य, २।२।४२

२—वेदविप्रतिषेधश्च भवति, चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शांडिल्य इदं शास्त्रं अधिगतवानित्यादि वेदनिन्दादर्शनात्।—वही, २।२।४५

शंकराचार्य का विरोध सभी तंत्रों या स्मृतियों से नहीं, केवल उनसे है जो वेदविरुद्ध हैं। श्रुत्यनुसारिणी स्मृतियों को वे प्रमाण मानते हैं।[१] श्री भंडारकर के मत से पांचरात्र का ही ऐकांतिक धर्म भगवद्गीता में आया।[२] परंतु शंकराचार्य भगवद्गीता का प्रमाण अग्राह्य नहीं मानते। इससे यह निश्चित जान पड़ता है कि यदि वैदिक और तांत्रिक मतों में कभी कोई समन्वय हुआ था तो वह गीता में अवश्य हो चुका था। गीता में उपनिषदों की अनेक उक्तियाँ ज्यों-की-त्यों अथवा कुछ साधारण हेरफेर से उद्धृत हुई हैं। यह कहा गया है कि उसमें सभी उपनिषदों का सार संगृहीत है। यही क्यों, गीता स्वयं भी उपनिषद् और ब्रह्मविद्या मानी जाती है। परंतु किसी भी प्राचीन उपनिषद् में वासुदेव कृष्ण को उस ब्रह्म वा सर्वोच्च उपास्य का स्थान नहीं दिया गया है जो उपनिषदों का अपना विशिष्ट तत्त्व है। गीता में वासुदेव कृष्ण को क्षरातीत तथा अक्षर से भी उत्तम—दोनों से श्रेष्ठ परब्रह्म, परम पुरुष, पुरुषोत्तम, परमात्मा—कहा गया है। वैदिक वा औपनिषदिक ब्रह्म तथा तंत्रोक्त वासुदेव का यही समन्वय गीता की विशेषता है।[३] उसमें एक ओर तो अव्यक्त अक्षर ब्रह्म और ओम्[४] तथा निर्गुण परमात्मा[५] का वर्णन है और दूसरी ओर कृष्ण के दिव्य जन्म-कर्म और सैकड़ों-हजारों दिव्य रूपों के उल्लेख[६] के साथ उनके

१—श्रुत्यनुसारिण्यः स्मृतयः प्रमाणम्, अनपेक्षया तदितराः। तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसतिह्यनुमानम्।... कापिलस्य तन्त्रस्य वेदविरुद्धत्वं वेदानुसारि-मनुवचन विरुद्धत्वं च...।—वही, २।१।१

२—इं० एं०, जनवरी १९१२, मे सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर का लेख—"ओरिजिन ऑव द भक्ति स्कूल"।

३—इस समन्वय का यह अर्थ नहीं कि पांचरात्र का वेदविप्रतिषेध गीता मे बिलकुल नहीं है। वस्तुतस्तु गीता में भी वेदों की गौणता वा अनावश्यकता का उल्लेख है। (२।४२-४६)।

४—गीता, ८।११,१३,२१

५—वही, १३।३२

६—वही, ११।५

विराट् ऐश्वर रूप[1] चतुर्भुज रूप[2] तथा नाना विभूतियों[3] का वर्णन है। इस प्रकार वृष्णियों में श्रेष्ठ वासुदेव कृष्ण का वास्तविक स्वरूप अव्यक्त और निर्गुण परमात्मा का है, परंतु भक्तों पर अनुग्रह करके वे दिव्य शरीर भी धारण करते हैं—अवतार लेते हैं। इसमें पांचरात्रोक्त वासुदेव (ब्रह्म) से संकर्षण (जीव) की उत्पत्ति आदि का सिद्धांत नहीं आया, पर अव्यक्त और चतुर्भुज रूपों, दिव्य जन्मकर्मों तथा विभूतियों में उनके सूक्ष्म-व्यूह-विभव भेदभिन्न रूप का ही वर्णन है। श्रीमद्भागवत में भी निर्गुण रूप के साथ भगवान के अनंत अवतार माने गए जिनमें वेदविरोधी माने जानेवाले कपिल तथा बुद्ध आदि भी हैं। यह अवतार का सिद्धांत इतना व्यापक और उदार है कि इसमें विश्व के समस्त परस्पर-विरोधी धर्मों को समेटकर एक कर लेने की क्षमता है। इसी समन्वय के कारण वैदिक तथा अन्य भिन्न-भिन्न विरोधी मतों की सम्मिलित शक्ति वैष्णव धर्म को प्राप्त हुई और उसका व्यापक प्रचार हुआ। जब भी, जैसे भी, जिसके द्वारा भी, भागवत धर्म को यह समन्वित रूप मिला हो, इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि वह भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास की एक अपूर्व और असाधारण महत्त्वपूर्ण घटना थी।[4]

कबीर की भक्ति

यहाँ तक जो कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति इन चार प्रधान और प्राचीन श्रेयमार्गों का संक्षिप्त विवरण दिया गया उससे भारत में प्रचलित पचासों मत-संप्रदायों की कल्पना नहीं हो सकती, न उसका ऐसा आशय ही है। परंतु उन सबके बाह्य आचार-विस्तार को छोड़कर तात्त्विक दृष्टि से उन सबका

१—वही, ११।८ २—वही, ११।४६ ३—वही, १०।२०-४१

४—डा० लारिंजर (Lorinser) ने भगवद्गीता के विचारों को न्यूटेस्टामेंट से गृहीत या उससे प्रभावित बताया परंतु डा० म्योर तथा अन्य अनेक विद्वान् उनके मत का खंडन कर चुके हैं। —Introduction to the "Metrical translations from Sanskrit works" by Dr. J Muir.

समावेश उक्त चारों मार्गों में हो जाता है, और हमारा प्रयोजन भी उसी से है।

उक्त विवरण पर विचार करने से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि श्रुतिसम्मत और श्रुतिविरुद्ध, शास्त्रीय और अशास्त्रीय तथा भारतीय और अभारतीय के विषय में हमने साधारणतः जो धारणा बना रखी है वह एकांगी है और उसका कोई पुष्ट आधार नहीं है, न सहज में उसके संबंध में कोई निर्णय ही दिया जा सकता है। 'अपढ़ जुलाहे' की बात को हम चाहे जितना भी अशास्त्रीय और अभारतीय कह लें, पर पिछले अध्याय में हम कबीर की साधना का जो रूप देख चुके हैं वही यदि शास्त्रीय आडंबर के साथ किसी आचार्य के द्वारा प्रतिपादित किया गया होता तो कदाचित् उसपर नाक-भौं सिकोड़ने का हमारे पास कोई कारण न रहता।

यह पहले दिखाया जा चुका है कि कबीर की साधना-पद्धति कहीं बाहर से आई हुई — ईसाई या मुसलमानी—नहीं थी; न उनकी निराकारोपासना और मूर्तिपूजा की निंदा को ही हम इसलामी प्रभाव का द्योतक मान सकते। भारतीय श्रेय-मार्गों के परिचय से हम यह भी निश्चित रूप से कह सकते हैं कि उनकी साधना में कोई भी ऐसी बात नहीं है जिससे हम उसे भारतीय साधना-परंपरा से भिन्न वा अविच्छिन्न कह सकें। हम उसे सहसा श्रुति-विरुद्ध और अशास्त्रीय भी नहीं कह सकते, यद्यपि कबीर को श्रुतिसम्मत और शास्त्रीय कहलाने की कोई परवाह न थी।

अब हमें भारतीय साधना-परंपरा की दृष्टि से कबीर की साधना-पद्धति में पाई गई विषमताओं पर विचार करना चाहिए। कबीर के संबंध में कहा गया है कि

(१) उन्होंने सगुण अवतारों तथा मूर्तिपूजा को न मानकर सूफियों के ढंग पर निर्गुण और निराकार से प्रेम किया। भारतीय परंपरा में निर्गुण से प्रेम का कोई अर्थ नहीं। प्रेम या भक्ति का विषय सगुण है। निर्गुण केवल ज्ञान का विषय है, अतः उससे प्रेम करना अस्वाभाविक है। यह

अस्वाभाविक प्रेम-साधना केवल सूफियों और ईसाइयों में चली जिनके यहाँ सगुण उपासना या बुतपरस्ती निषिद्ध है।

(२) उन्होंने आत्मा-परमात्मा में अभेद मानकर निर्गुण के साथ एक हो जाने की साधना की, यह भारतीय अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद का सिद्धांत है जो भक्ति के लिये अनुपयुक्त है। भक्ति के लिये आत्मा और परमात्मा में भेद मानना आवश्यक है।

(३) उनका योग हठयोगियों से तथा उनकी अहिंसा और प्रपत्ति (अनन्य भाव से भगवान की शरण जाना और अपने को पूर्णतः उन्हीं की इच्छा पर छोड़ देना) वैष्णवों से ली हुई है।

"इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया।" (शुक्ल जी, हिं० सा० का इतिहास)

यह भी कहा गया है कि कबीर बारी-बारी से कभी सूफी, कभी वेदांती, कभी वैष्णव और कभी हठयोगी आदि मालूम होते हैं ; वस्तुतः यह निर्णय करना कठिन है कि वे क्या थे। परंतु तात्पर्यतः इसमें तथा उपर्युक्त कथन में कोई विशेष अंतर नहीं है। यह बात दोनों में कही गई है कि कबीर में भिन्न-भिन्न मतों के तत्त्व पाए जाते हैं और इसमें कुछ संदेह नहीं कि किसी भी पाठक को वे सभी तत्त्व उनकी बानियों में मिलेंगे। अब देखना यह है कि क्या कबीर ने भिन्न भिन्न मतों से इन तत्त्वों का संग्रह कर एक नया पंथ खड़ा किया ?

इस प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर देने के लिये पहले ही यह मान लेना आवश्यक है कि कबीर अपने समय में प्रचलित कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति इन प्राचीन भारतीय मार्गों में से किसी एक को अपना नहीं सके थे। किसी एक में उनके मनोनुकूल उपर्युक्त तत्त्वों का मेल नहीं था, इसी कारण उन्हें नया पंथ खड़ा करने की आवश्यकता पड़ी।

प्राचीन मार्गों में कर्म तो प्रवृत्ति का अर्थात् कर्मानुसार फलभोग और स्वर्ग-नरक का मार्ग है और ज्ञान, योग तथा भक्ति निवृत्तिमार्ग (मुक्तिमार्ग) हैं। कर्म में स्वर्ग-प्राप्ति के लिये अनेक देवों के निमित्त यज्ञादि तो विहित हैं और सहायक रूप में आत्मज्ञान को भी उसमें स्थान दिया गया था (द्रष्टव्य पृ० १९६), परंतु सूफियों के रहस्यवाद अथवा वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद का उसमें कोई स्थान नहीं है। इसलिये वह स्वभावतः कबीर को स्वीकार्य नहीं हो सकता था। भारतीय ब्रह्मवाद शुद्ध ज्ञान-मार्ग है। वह आत्मज्ञान या ब्रह्मसाक्षात्कार के द्वारा मुक्ति मानता है। कर्म के प्रवृत्तिमार्ग होने के कारण उससे ज्ञान का विरोध है, किंतु योग और भक्ति से न उपनिषदों के और न पिछले ही ब्रह्मवाद का कोई विरोध है। शंकराचार्य ने व्यवहार में सगुण ब्रह्म की उपासना स्वीकार की है। पहले कहा जा चुका है कि कबीर का निर्गुण-प्रेम सूफी तत्त्व नहीं है। परंतु सूफी रहस्यवाद से अभिप्राय यदि निर्गुण से प्रेम या निर्गुणोपासना के सिद्धांत से है तो वह भी ज्ञानमार्ग में अपरिचित नहीं है। योग भी तत्त्वतः ज्ञानमार्ग ही है, अतः उसमें भी उक्त सभी तत्त्वों के लिये स्थान है। इसी प्रकार भारतीय भक्तिमार्ग में भी उपर्युक्त सभी तत्त्व विद्यमान हैं। यदि प्रधान और गौण का विचार न कर भिन्न भिन्न तत्त्वों का संग्रह ही कबीर का उद्देश्य रहा हो, तब तो ज्ञान, योग और भक्ति तीनों में उक्त सभी तत्त्वों के लिये स्थान होने के कारण उन्हें अलग पंथ खड़ा करने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। हम इन्हीं तीन मार्गों में से किसी मार्ग का उन्हें मान सकते हैं। परंतु हम यह समझ चुके हैं कि ज्ञानमार्ग में ज्ञान की, भक्ति में भक्ति की और योग में योग की प्रधानता है और पाँचवें अध्याय में यह भी देख चुके हैं कि कबीर की बानियों से उनकी भक्ति ही प्रधानतया पुष्ट होती है। अतः उनकी साधना को भारतीय भक्तिमार्ग के अंतर्गत मानने में कोई संकोच न होना चाहिए।

उपनिषदों का प्रभाव

कबीर की बानियों से विदित होता है कि उनपर उपनिषदों का बहुत

अधिक प्रभाव था। उनके निर्गुण ब्रह्म, आत्मा और ब्रह्म के एकत्व तथा इस एकत्व के ज्ञान से मुक्ति आदि के सिद्धांत मूलतः उपनिषदों में ही प्रतिपादित हैं। इसके अतिरिक्त उपनिषदों के साधारण दृष्टांत आदि भी यत्र-तत्र कबीर में इस प्रकार पाए जाते हैं जिससे अनुमान होता है कि उनकी भक्ति-साधना के तत्त्व उन्हें सीधे उपनिषदों से मिले अथवा कम से कम किसी उपनिषद् संप्रदाय से उनका निकट संबंध था। कुछ समान उक्तियाँ उदाहरणार्थ यहाँ दी जाती है—

कबीर

(१) नेड़ै थैं दूरि दूरि थैं नियरा जिनि जैसा करि जाना।

—बा० प० ८

(२) जाका गुर भी अंधला चेला खरा निरंध।
अंधे अंधा ठेलिया दून्यूं कूप पड़ंत॥

—बा० सा० १।१५

(३) डूंगर बूठा मेह ज्यूं गया निबांणां चालि।—वही, १३।२२

(४) लूंण विलग्गा पाणिया पाणीं लूंण विलग्ग।—वही, ५।१६

(५) अंध सो दरपन वेद पुराना।
दरबी कहा महारस जाना॥ —बी० र० ३२

उपनिषद्

(१) तदेजति तन्नैजति तद्दूरेतद्वन्तिके। —ईश० ५

(२) अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वयं धीरा पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढाः अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः॥

—कठ० १।२।५

(३) यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।—कठ० २।४।१४

(४) स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत...।—बृ० २।४।१२

(५) अधीत्य चतुरो वेदान् सर्वं शास्त्राण्यनेकशः ।
ब्रह्मतत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा ॥
—मुक्ति० २।६५

नारदी वैष्णव भक्त

परंतु वैष्णव भक्ति उपनिषद् के उपर्युक्त तत्त्वों से अपरिचित नहीं। वैष्णव भक्ति में ब्रह्म तत्त्व उपनिषदों से ही आया, अतः भक्त आचार्यों का उपनिषदों से परिचित होना असंभव नहीं और इस कारण उनकी सामान्य उक्तियों का भक्तों में प्रचार भी अस्वाभाविक नहीं। इसके अतिरिक्त कबीर में कुछ अन्य ऐसी बातें पाई जाती हैं जिनसे उनकी भक्ति-साधना को वैष्णव भक्ति के ही अंतर्गत मानना उचित जान पड़ता है। यथा

(१) कबीर की उक्तियों से स्पष्टतः वैष्णव की श्रेष्ठता प्रकट होती है—

चंदन की कुटकी भली ना बबूर की अंबराउं ।
बैसनौं की छपरी भली ना साषत का बड़ गाउं ॥
—बा० सा० ३०।१

कबीर धनि ते सुंदरी जिनि जाया बैसनौं पूत ।
राम सुमिरि निरभै हुआ सब जग गया अऊत ॥३०।७
साषत बाभण मति मिलै बैसनौं मिलै चंडाल ।
अंकमाल दे भेंटिए मानो मिले गोपाल ॥ ३०।९
राम जपत दालिद भला टूटी घर की छांनि ।
ऊंचे मंदिर जालि दे जहां भगति न सारंगपानि ॥३०।१०

(२) कबीर ने भगवान को निर्गुण, पारब्रह्म, निरंजन, तत, जोति, स्वयं-प्रकाश आदि कहते हुए भी उसके इन नामों का उल्लेख किया है—राम, रघु-

नाथ, रघुराई, मोहन, बीठला (बिट्ठल, विष्णु) श्रीरंग, बनवारी, गोकुलनायक, हरि, गोविंद, माधव, केशव, मुरारी, सारंगपानी, परसोतम, दामोदर, गोवर्धन-धारी, विष्णु, नारायण, भगवान इत्यादि। उसे अंतरयामी, अपरंपार, विश्वनाथ, करुणामय, भक्तवत्सल, जगदेव, जगजीवन, त्रिभुवननाथ, सिरजनहार, सर्व-व्यापक आदि भी कहा है। भगवान के ये नाम-गुण वैष्णव मत का ही संकेत करते हैं जिसके अनुसार भगवान का शुद्ध स्वरूप निर्गुण है, पर उसके अनंत नाम-गुण भी हैं। अवश्य कबीर इन नामों को सगुण अवतारों के न मानकर निर्गुण के ही मानते थे, पर इससे कोई विरोध नहीं पड़ता। और आगे बढ़कर कबीर भगवान को अल्ला, खुदा, रहीम, करीम, खालिक आदि भी कहते हैं। यह अनंत नाम के वैष्णव सिद्धांत के सर्वथा अनुकूल है; संकीर्णता के कारण इसका विरोध करना दूसरी बात है।

(३) कबीर की गणना वैष्णव भक्त-परंपरा में ही होती है और उसी में यह संभव भी था, क्योंकि उसके अनुसार भक्तों में जाति-पाँति, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष आदि का अधिकारी-भेद नहीं माना जाता।

(४) कबीर ने स्वयं अपनी भक्ति को नारदी भक्ति और प्रेम भक्ति कहा है—

मन रे सरिओ न एकै काजा, भजिओ न रघुपति राजा॥

× × ×

भगति नारदी रिदै न आई काछि कूछि तन दीना।

× × ×

कहै कबीर जन भए खालासे प्रेमभगति जिन जानी॥ सं०कं०,सो०३

झूठे फोकट कलू मझारा, राम कहैं ते दास नियारा।
भगति नारदी मगन सरीरा, इहि विधि भव तिरि कहैं कबीरा॥

—बा० प० २७८

नारदी भक्ति और प्रेमभक्ति वैष्णव वा भागवत भक्ति ही है।

आपत्तियों का निराकरण

कबीर को वैष्णव भक्त मानने में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि वे अवतार, मूर्तिपूजा, लोक-वेद-मर्यादा, यज्ञ, जप-तप, तीर्थ-व्रत तथा बाह्य वेष और आचार मात्र की निंदा वा उपेक्षा करनेवाले माने जाते हैं। जहाँ तक लोकवेद तथा बाह्य पूजा, आचार आदि का प्रश्न है, पिछले अध्याय में दिखाया जा चुका है कि भक्ति में बाधक वा अनावश्यक होने के कारण ही कबीर इन्हें नहीं मानते थे। केवल कबीर इसके दोषी नहीं, निवृत्तिमार्ग की परंपरा ही यही रही है। पांचरात्र के संबंध में तो कहा ही गया है कि 'चारों वेदों में परम श्रेय प्राप्त न कर सकने पर शांडिल्य ने इस शास्त्र को अधिगत किया'[१] और उपनिषदों तथा गीता में भी इस प्रकार के उल्लेख हैं। श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है कि भगवान किसी से उसके द्विज, देव वा ऋषि होने के कारण अथवा उसके वित्त वा बहुज्ञता के द्वारा प्रसन्न नहीं होते।[२] भगवान दान, तप, यज्ञ, शौच और व्रत से प्रसन्न नहीं होते। वे केवल विमल भक्ति से प्रसन्न होते हैं, अन्य सब विडंबना मात्र है।[३]

अब नारद भक्तिसूत्र को लें तो उसमें भी स्पष्ट कहा गया है—

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥७॥ निरोधस्तु लोकवेद-व्यापारन्यासः ॥८॥ कस्तरति कस्तरति मायां? यः सङ्गांस्त्यजति यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति। यो विविक्तस्थानं सेवते यो लोकबन्ध-मुन्मूलयति निस्त्रैगुण्यो भवति, यो योगक्षेमं त्यजति। यः कर्मफलं त्यजति कर्माणि संन्यसति ततो निर्द्वन्द्वो भवति। यो वेदानपि संन्यसति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते। स तरति स तरति लोकांस्तारयति॥४६-५०॥

१—द्रष्ट०—पा० टि० २, पृष्ठ २२८

२—नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वित्तं न बहुज्ञता॥ भ०,१०, ५७

३—न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बना॥ वही, ५८

अर्थात् भक्ति किसी प्रकार की कामना से नहीं की जाती, क्योंकि वह निरोधरूपा है। निरोध का अर्थ है लौकिक वैदिक कर्मों का त्याग। माया को वही तरता है जो अनासक्त होता है, संतों की सेवा करता है, किसी वस्तु में ममत्व नहीं रखता; जो लोक के बंधनों का उन्मूलन कर निस्त्रैगुण्य हो जाता है, जो कर्मफल और काम्य कर्मों का त्याग कर निर्द्वंद्व हो जाता है और जो वेदों का भी त्याग करता तथा केवल अविच्छिन्न भगवत्प्रेम का लाभ करता है। वही स्वयं भी तरता और लोक को भी तारता है।

अब रह गई सबसे मुख्य आपत्ति की बात अवतार और मूर्ति-पूजा की निंदा। यद्यपि पांचरात्र, गीता, भागवत और शांडिल्य सूत्रों में अवतार मान्य है तथापि भक्ति के संबंध में भिन्न-भिन्न आचार्यों के अपने स्वतंत्र मत भी हैं। यह समझना भ्रम है कि निर्गुण निराकार की भक्ति के लिये वैष्णव धर्म में जगह नहीं है।

भक्ति पाराशर के मत से भगवत्पूजादि में अनुरागलक्षणा है, गर्ग के मत से कथादि में अनुरागलक्षणा। काश्यप के मत से वह ऐश्वर्यपरा है।[1] रामानुज का मत है कि विभवार्चन से व्यूह की और विभवार्चन से सूक्ष्म निर्गुण परब्रह्म की प्राप्ति होती है।[2] इस प्रकार इन आचार्यों के मत से सगुण अवतार-पूजा और मूर्तिपूजा विधेय ठहरती है। किंतु बादरायण के अनुसार भक्ति आत्मैकपरा है।[3] यह आत्मभक्ति या आत्मरति अद्वैत भक्ति है, अतः इसमें अवतार वा मूर्ति की बाह्य पूजा (आकार-पूजा) अनावश्यक है। शांडिल्य दोनों मानते हैं—आत्मपरा भी और ऐश्वर्यादिपरा भी।[4] नारदसूत्र में द्वैत-अद्वैत, साकार-निराकार का झगड़ा नहीं है। उसके अनुसार भक्ति

१—पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः, कथादिष्विति गर्गः (ना० भ० १५—१६)। तामैश्वर्यपरां काश्यपः परत्वात् (शां० भ० २९)।

२—द्रष्टव्य, पीछे पृ० २२०

३—आत्मैकपरां बादरायणः। (शां० भ० ३०)

४—उभयपरां तु शाण्डिल्यः (शां० भ० ३१)

का लक्षण है—समस्त आचारों को भगवान को अर्पण कर देना और उसके विस्मरण में परम व्याकुलता का अनुभव करना।* कबीर की भक्ति भी, जैसा हम पहले देख चुके हैं, आत्मैकपरा है और उसमें अवतार और मूर्तिपूजा की आवश्यकता नहीं है। वह तो शुद्ध भावभक्ति है। अतः कबीर की भक्ति तत्त्वतः वैष्णव भक्ति के विरुद्ध नहीं है। व्यवहार में उसके इतने कटु विरोध का कारण है निर्गुण निराकार तत्त्व की गूढता, सगुण भक्ति और लोकवेद पंथ का सुलभता के कारण प्रचारबाहुल्य, सच्चे भक्तितत्त्व के ज्ञान का अभाव और स्वार्थपर अनुदारता; और अंशतः सभी प्रकार के पाखंड पर कबीर का निर्मम प्रहार भी।

अस्तु। कबीर की भक्ति की अन्य बातें भी नारदसूत्रों के अनुकूल हैं। यथा कबीर जात्यादि का भेद नहीं मानते; अहिंसा, सत्य, दया, आंतरिक शौच, आस्तिक्य आदि पर जोर देते हैं; उनकी भक्ति मुख्यतः दास्य और कांता भाव की है। नारद भक्तिसूत्र में भी कहा गया है—

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादि भेदः ॥ ७२ ॥ अहिंसा सत्यशौचदयाआस्तिक्यादि चारित्र्याणि पारिपालनीयानि ॥ ७८ ॥ त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्य कांताभजनात्मकं प्रेम कार्यं प्रेमैव कार्यम् ॥ ६६ ॥

कबीर में भगवद्विरहानुभूति का मुख्यता से वर्णन है और नारद सूत्रों में भक्ति के एकादश प्रकारों में उसे परमविरहासक्तिरूपा भी कहा है (८२)।

कबीर को भक्ति कहाँ से प्राप्त हुई?

तत्त्वतः कबीर की भक्ति को समझ लेने पर यह कुतूहल होना स्वाभाविक है, क्योंकि कबीर ने तो कोई भक्तिशास्त्र पढ़ा न होगा। परंपरा के अनुसार कबीर के गुरु रामानंद प्रसिद्ध हैं और इसे अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं जान पड़ता। रामानंद जी को कबीर का गुरु मान लेने पर यह मानना

* नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति। (ना० भ० १९)

पड़ता है कि वे नारदी भक्ति-तत्व के विशिष्ट ज्ञाता थे इसी से उनके शिष्यों में जाति या लिंग-भेद से अधिकारी-भेद नहीं रखा गया और उन्हें इस विषय में पूरी स्वतंत्रता मिली कि वे निर्गुण निराकार से प्रेम करें अथवा सगुण अवतारों और उनकी मूर्तियों की पूजा करें। प्रसिद्धि के अनुसार केवल नाथ-पंथी योगी ही नहीं, लोकवेदपंथी पंडित भी, संभवतः इसी कारण रामानंद जी से द्वेष रखते और उनके विरुद्ध कुचक्र रचा करते थे। परंतु सच्चे भक्त होने के साथ-साथ वे वेद, शास्त्र अथवा योगाभ्यास में भी किसी से कम न थे, इस कारण उनके सामने विरोधियों की दाल नहीं गलने पाई और वे निर्भयतापूर्वक मुक्त हस्त से भक्ति का दान करते गए।

नारदीय भक्तों को संभवतः सदा ही निंदा और विरोध का सामना करना पड़ता था, इसी से नारद भक्तिसूत्र में भक्ति के आचार्यों के संबंध में ऐसा उल्लेख है कि वे 'जन-जल्प-निर्भय होकर' एकमत से इस प्रकार भक्ति का उपदेश करते हैं—'इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः······भक्ताचार्याः।' रामानंद से पार न पाने पर उनकी मृत्यु के बाद कबीर को कितने संघटित विरोध का सामना करना पड़ा होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है और मिथ्याचारों पर कबीर के निर्मम प्रहारों की तीव्रता का अंशतः यह विरोध भी कारण रहा होगा।

सातवाँ अध्याय

कठिन पद्यों का अर्थ

प्रस्तुत विषय का सामान्य ज्ञान

किसी कवि की भाषा के स्वरूप और उसके सिद्धांतों अथवा वर्ण्य विषय का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेने के अनंतर उसके किसी स्फुट पद्यविशेष का अर्थ ग्रहण करने के लिये साधारणतः सर्वप्रथम आवश्यक वस्तु उस पद्यविशेष के प्रकरण वा प्रस्तुत विषय का सामान्य ज्ञान है। विषय के विशेष ज्ञान के लिये यद्यपि पहले शब्दार्थ-बोध अपेक्षित है, परंतु जहाँ शब्दार्थ स्वयं संदिग्ध हो वहाँ विषय के सामान्य ज्ञान के बिना काम नहीं चल सकता।

प्रबंध काव्य में, जहाँ सभी पद्य एक श्रृंखला में बद्ध रहते हैं, पूर्वापर संबंध को देखकर पद्यविशेष में प्रकरण का ज्ञान सरलता से किया जा सकता है, परंतु स्वतंत्र स्फुट पद्यों में यह सुविधा प्राप्त नहीं होती। उनमें प्रस्तुत विषय का निश्चय दो ही प्रकार से किया जा सकता है—या तो पद्य के भीतर ही स्वयं कवि के शब्दों या वाक्यों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से उसका संकेत मिले, अथवा उसके अभाव में वाक्यों की परस्पर संगति बैठाकर उसका ऊपर से आक्षेप वा अनुमान कर लिया जाय। जहाँ विषय का ऊपर से आक्षेप करना पड़े वहाँ स्पष्ट है कि उससे अर्थ बैठाने में प्रत्यक्ष सहायता नहीं मिल सकती; क्योंकि जहाँ कवि के शब्दों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्रकरण का निश्चय हो जाता है वहाँ तो केवल अन्य वाक्यों से उसकी संगति मिलानी रह जाती है, परंतु जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ वाक्यों ही की संगति के लिये प्रकरण का अनुमान करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में अनेक अनुमित वा आरोपित प्रकरणों में संगति बैठ

जाने की संभावना होने के कारण अर्थ भी अनेक और परस्पर भिन्न हो सकते हैं। हिंदी साहित्य में बिहारी के दोहे इस बात के सबसे बड़े प्रमाण हैं।

कबीर में यदि पहले ही से उनकी अटपटी शैली से ऊब न जाकर थोड़ा ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रस्तुत विषय की उद्भावना उतनी कठिन नहीं जान पड़ेगी। रमैनियों की वर्णन-शैली प्रबंध रूप में होने के कारण (यहाँ अलग अलग तोड़ी हुई रमैनियों से तात्पर्य नहीं, जैसा बीजक में है, प्रत्युत उन रमैनियों से है जो अपने पूर्ण रूप में जान पड़ती है, जैसे बानी में) उनमें तो यह कठिनाई है ही नहीं। पदों में, विषय का निश्चय प्रायः आदि या अंत या दोनों में प्रधानता से कथित शब्दों द्वारा ही हो जाता है। उदाहरणार्थ 'बानी' के चौथे पद में 'षटदल कँवल निवासिया' इत्यादि अनेक वाक्यों में योग की क्रियाओं की ओर संकेत जान पड़ता है। परंतु उसकी प्रथम पंक्तियाँ

मन के मोहन बीठुला यहु मन लागा तोहि रे।
चरन कवल मन मानिया और न भावै मोहि रे॥

प्रधान रूप से भगवान के चरणों में अनन्य प्रीति का ही वर्णन कर रही हैं। अतः अन्य वाक्यों में योग का वर्णन इससे असंबद्ध और स्वतंत्र न होकर इसके अनुकूल ही होना चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि इसका मुख्य विषय योग की क्रियाएँ नहीं, प्रत्युत योग द्वारा भक्ति की ही साधना है। इसी भाँति अन्य पदों में भी प्रधानता से उक्त शब्दों द्वारा प्रधान विषय का पता लगाया जा सकता है।

साखियों में अवश्य ऐसी अनेक हैं जिनके भीतर विषय का प्रत्यक्ष संकेत नहीं है, किंतु यदि उन्हें उनके अंगों से संबद्ध करके देखा जाय तो उनमें यह कठिनाई बहुत कुछ दूर हो जाती है। जैसे—

झळ ऊठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूति॥

बहुरिया—बुद्धि २२८
बाँझ—ज्ञानहीन ८०; ०का पूत=आत्मज्ञान १५८
बिलाई—दुर्मति, विलीन ११
बिलूँटा—विकार ८१
बीज—वासना ७, १५६, १५८; शब्द, नाम २१४, २१६; ब्रह्म १७४
बेलड़ी, बेली—आत्मा, आत्मबेलि १६३, २१२
बैल—शरीर, गुण १२, ८०
ब्यंब (बिंब)—ब्रह्म १६२
भवर—मन १५८, १६६, २०२ ३८८
भवरी—काया ३८८
मजार—काल १६०
मदला—अनाहत शब्द ७२
मकड़ी—माया ८०
मछ—मन १७६
मछा—१०, ७७, १७७; दे० 'मछ'
मानसरोवर—हृदय ३१८
माइ, माई—मनसा २१, ३५४; माया ११, १५१, २२७
मिनकी (मिलकी)—दुर्मति १६१
मींडक (मेंढक)—मन ८०
मुरगा—ज्ञानी मन ११
मृग—मनंग० २१०; मन-९, २१२
रावल—मन १५५
लरिका (लड़का)—इंद्रियाँ २०, ३७१
लेज—लौ १४०, २४०
सखी—सुरति १५१; इंद्रियाँ ८१, २२६, ३७८
सतगुर—परमेश्वर १३, १९५

नाममाला से संकलित

अग्नि—विकार, काम-क्रोध-लोभ-मोह।
अवधूत—मन
अश्व—इंद्रियाँ
आँगन—अंतःकरण, आत्मकमल
उजास—ओंकार (शब्द)
कमल—आत्मकमल
करहा—मन
कलस—आत्मकमल
कलाल—मन
कलाली—मलिन मनसा
कायथ—मन
कुआँ—आत्मकमल
कुंभ— ,,
कोढ़िनी—माया
कौआ—मन
खूँटा— ,,
गंगा—वाणी
गगन—आत्मकमल
गज—मन
गणिका—माया
गयंद – ज्ञान
गरज—सुमिरन
गाय—ज्ञान
गादर—ज्ञान
गोरी—मनसा

चंद्र—ज्ञान
चकवा—चित्त
चरखा—चित्त
चातक—चित्त
चील—मलिन मनसा
चूल्हा—चित्त
चोर—चित्त
जोगनी—मनसा
जोगी—मन
डोआ—मन
डोरी—सुमिरन
तरंग—मनसा
दीप—ज्ञान
देव—मन
धूरि—सुमिरन
धौला—मन
नारी—मनसा
पतंग—मन
पांडव—इंद्रियाँ
बगला—मन
बछवा—इंद्रियाँ
बच्छी—मनसा
बहू—सुबुद्धि
बिलाई—कुबुद्धि
बेटा—सुबुद्धि

भुजग—संशय
भौंरा—मन
मजार—मन
मजारी—माया
मर्कट—मन
मास—माया
माखी—मनसा
मीन—मन
मुरगा—मनसा
मूसा—मन
मृग—मन
मेढक—मन
मोती—मन
रावल—मन
लड़का—इंद्रियाँ
सर्प—संसार
सर्पिणी—माया
ससा (शश)—शब्द, ओंकार
सासू—सुरति
सिंह—संसार, ओंकार
सींगी—सुरति
सीप—सुरति
सुंदरी—सुरति
सुई—सुरति
सुनहा (श्वान)—मन, संसार
सुषमना—सुरति
सुरही—मनसा
सूआ—मन
सूत्र—सुमिरन
स्यार—संसार

संख्यावाचक शब्द

(इनके जो विशेष अर्थ टीका में मिले उनके आगे कोष्ठक में टी० संकेत दिया है ।)

एक—ब्रह्म; परमात्मा; प्राण (टी०) ।
दो—गुण (शीत, उष्ण), राग-द्वेष; दो कुल लोक-परलोक; द्विदल आज्ञाचक्र ।
अढ़ाई (सेर)—दस पाव आहार अथवा दस इंद्रियाँ (टी०) ।
तीन—तीन गुण सत्व-रज-तम; मन-पवन-सुरति; इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना(टी०) ।
चार—अंतःकरण चतुष्टय; चतुर्दल कमल, मूलाधार ।
पाँच (पांडव, भैंस, लरके, सखियाँ, जन आदि)—पंच इंद्रियाँ; पंचतत्त्व ।

छः—पाँच इंद्रियाँ + एक मन; छः दर्शन (जोगी-जंगम-सेवड़ा-बौद्ध-सन्यासी-संत, टी०); षट्चक्र; षट्दल कमल, स्वाधिष्ठान चक्र।

आठ—पाँच तत्त्व, तीन गुण; अष्टदल कमल, पाँच तत्त्व और तीन गुणों वाली काया (टी०)।

नौ—देह के नव द्वार।

दस—दश दिशाएँ; दशदल कमल, मणिपूर चक्र (नाभि)।

दसवाँ द्वार—ब्रह्मरंध्र।

बारह—बारह अंगुल परिमाण चलनेवाली साँस; द्वादसदल कमल, अनाहत चक्र (हृदय)।

चौदह—१० इंद्रियाँ + ४ मन-चित्त-बुद्धि-अहंकार (टी०); १४ विद्याएँ।

सोलह—षोडशदल कमल, विशुद्ध चक्र (कंठ); मन की सोलह कलाएँ (टी०)।

तैंतीस—५ तत्त्व + ३ गुण + २५ प्रकृतियाँ (टी०)।

चौंसठ—चौंसठ कलाएँ।

बहत्तर—७२ कोठे (शरीर में)।

चौरासी—चौरासी लक्ष योनियाँ।

अठासी—दे० 'अठासी सहस्र'।

इक्कीस सहस्र छः सौ—जीवन में साँसों की पूरी संख्या।

बहत्तर सहस्र—शरीर के भीतर नाड़ियों की संख्या।

अठासी सहस्र (मुनि)—'नौ नाड़ी + बहत्तर कोठा + सप्त धातु' (टी०)।

हठयोगप्रदीपिका से संकलित

(हठयोगप्रदीपिका में प्रयुक्त कुछ उपमान एवं संकेत, जो कबीर में भी आए हैं। इनके उपमेय वा सांकेतिक अर्थ कबीर से तुलनीय हैं। कोष्टक की संख्याएँ ह० प्र० के उपदेश एवं श्लोक की हैं।)

अग्नि—सुषुम्ना नाड़ी। (३।२८)

अमृत—तालुमूल में स्थित चंद्र से झरनेवाला सोम (रस) जिसका

पान योगी अपनी जिह्वा को उलटकर तालुमूल-विवर में प्रवेश कराके करता है। (३।७७)

अमर वारुणी—अमृत रस या सोम (३।४७)। दे० 'अमृत'।

कपाट—सुषुम्ना; मोक्षद्वार; ब्रह्मद्वार। (३।१०५)

कल्पलतिका (बेली—कबीर)—उन्मनी; मन के तत्त्व में स्थिर होने की अवस्था। (४।१०४)

कुंचिका—कुंडलिनी जिसके द्वारा योगी सुषुम्ना का द्वार वैसे ही खोलता है जैसे कोई कुंजी से बंद कपाट। (३।१०५)

खग (छिन्नपक्ष)—मन जो उन्मनावस्था में परकटे पक्षी की भाँति हो जाता है। (४।९२)

गंगा—इड़ा नाड़ी। (३।११०)

चंद्र—यह तालुमूल में स्थित होता है और अमृत स्रवण करता है।(३।७७)

त्रिवेणी—भ्रूमध्य में इड़ादि तीनों नाड़ियों का संगम-स्थल। (३।२४)

निम्नगा (नदी)—नाड़ी। (३।५२)

पद्म—षट्चक्र। (३।२)

पश्चिम पथ—सुषुम्ना नाड़ी। (३।७४)

महाखग—प्राण। (३।५६)

मेरु—सुषुम्ना। (३।५२)

यमुना—पिंगला नाड़ी। (३।११०)

सरस्वती—सुषुम्ना नाड़ी। (३।२४)

सलिल-सैंधव—नमक जैसे पानी के साथ एक हो जाता है वैसे ही मन आत्मा के साथ एक हो जाता है तो उसे समाधि कहते हैं। (४।५)

सूर्य—नाभिदेश में स्थित सूर्य तालुमूल के चंद्र से झरनेवाले अमृत को ग्रस लेता है। योगी युक्ति से उसका पान करता है। (३।७७)

सोम—दे० 'अमृत' तथा 'अमर वारुणी'। (३।४४)

आठवाँ अध्याय

कबीर की कविता

जिस शब्द-रचना में रसज्ञ वा सहृदय भावकों को रस की अनुभूति हो उसी को काव्य कहा जाता है। परंतु भावक को रसानुभूति काव्य के अर्थानुसंधान द्वारा ही होती है, अतः यह स्पष्ट है कि कवि में जिस प्रकार कारयित्री प्रतिभा के साथ श्रुत और अभ्यास का योग अपेक्षित है उसी प्रकार भावक में भी भावयित्री प्रतिभा के साथ अर्थानुसंधान की योग्यता का भी होना आवश्यक है। यही प्रतिभा और योग्यता भावक को काव्य के रसास्वाद का अधिकारी बनाती है। काव्य का आलोचक भी भावक ही है, परंतु उसमें इतनी और विशेषता होती है कि वह हृदय से किसी रचना का रसास्वादन करने के पश्चात् बुद्धि द्वारा उस रचना-विशेष के संबंध में अथवा सामान्य रूप से काव्य किंवा काव्यानंद के संबंध में उठे हुए भिन्न भिन्न प्रश्नों पर भी विचार कर उनका समाधान करता है। उसकी इस विशेषता के कारण उसमें उपर्युक्त प्रतिभा तथा योग्यता भी विशेष मात्रा में होनी ही चाहिए, अन्यथा काव्य का ठीक ठीक मानांकन करने में वह समर्थ नहीं हो सकता। प्रतिभा को काव्य के कर्ता तथा भावक दोनों में (कवि में कारयित्री और भावक में भावयित्री)* स्वाभाविक शक्ति के रूप में मान लेना पड़ता है, अतः काव्यालोचन के प्रसंग में उसकी विवेचना की अपेक्षा काव्यालोचक से नहीं की जाती; परंतु अर्थानुसंधान की योग्यता श्रुत और अभ्यास के रूप में अर्जित करनी पड़ती है, इसमें आलोचक भावक की सहायता कर सकता है।

अर्थानुसंधान की योग्यता में केवल कुछ पूर्वाधीत शास्त्रों और काव्यों का ही सामान्य ज्ञान अपेक्षित नहीं है, अपितु उसके साथ साथ भाव्य वा आलोच्य

---

* द्रष्ट०—"आदर्श और यथार्थ", भूमिका।

रचना की स्वगत विशेषताओं और विलक्षणताओं का भी परिचय होना आवश्यक है। कबीर की रचनाओं की शब्दगत तथा अर्थगत विलक्षणताओं की विवेचना पिछले अध्यायों की जा चुकी है, अतः अब हम काव्य की दृष्टि से उन रचनाओं पर विचार कर सकते हैं।

किसी रचना की काव्य कहलाने की योग्यता के संबंध में प्रथम और मुख्य प्रमाण सहृदय ही हैं। अतः कबीर की रचना पर विचार करने बैठकर यह निर्णय देने की तो आवश्यकता ही नहीं कि कबीर एक उच्च कोटि के कवि हैं, क्योंकि हम यह जानते हैं कि हिंदी ही नहीं, देश-विदेश की अन्य भाषाओं के भी काव्यरसिकों और आलोचकों ने उन्हें ऐसा माना है, भले ही किसी किसी विद्वान् को उन्हें साधारण कवि भी अनिच्छापूर्वक ही स्वीकार करना पड़ा हो। पूर्ण ऐकमत्य तो किसी भी काव्य के संबंध में आज तक नहीं हुआ।

यह सत्य है कि कबीर की रचना में हमें वह सँवार-सिंगार, वह व्याकरण और संस्कार नहीं मिलता जो एक कलानिपुण कवि की रचनाओं में सामान्यतः पाया जाता है; यह भी सत्य है कि छंदों की वैसी विविधता और अलंकारों की वह प्रचुरता उसमें नहीं पाई जाती; और यह भी सत्य है कि एक चतुर कवि की भाँति किसी अप्रिय सत्य को भी प्रिय बनाकर ढँके-मुँदे रूप में कहने का ढंग कबीर ने नहीं सीखा था। इन सबके साथ हम यह भी नहीं भूल सकते कि उनकी रचनाओं का विषय-क्षेत्र लौकिक दृष्टि से इतना संकुचित है कि उसमें बाह्य जगत् के नाना विषयों के संसर्ग से मानव हृदय में उठनेवाले अनेक प्रकार के भावों को फैलकर टिकने के लिये अवकाश नहीं है। परंतु यदि हम केवल इन 'दोषों' का ही पहाड़ बनाकर आँखों के सामने खड़ा कर लें तो उसकी ओट में कबीर की कविता का लोप तो होने का नहीं, हाँ उससे हमारे संकुचित हृदय का परिचय अवश्य मिलेगा। साथ ही उससे हमारे काव्य-सिद्धांतों की अव्यापकता भी सिद्ध होगी।

कबीर स्वयं न कवियशःप्रार्थी थे, न उन्होंने कहीं काव्य-रचना की प्रतिज्ञा ही की है। इस कारण सच पूछा जाय तो अपनी कविता की दाद के लिये

नहीं कह सकता, और दूसरी ओर संभव है लाल वर्ण के किसी अन्य पुष्प को देखकर वह उसे भी कमल कह बैठे। अतः कमल के परिचय के लिये यह आवश्यक है कि वह जल में उत्पत्ति, सूर्योदय से विकास आदि कमल के अन्य सामान्य और व्यापक लक्षणों को लक्ष्य करे। इससे जहाँ गुलाब आदि अन्य पुष्पों से उसका भेद स्पष्ट हो जायगा वहाँ नीलादि वर्ण के कमलों का त्याग नहीं होगा। कमल, गुलाब आदि में विकासादि सामान्य पुष्पत्व को लक्ष्य करके वह इसी प्रकार पत्र-कंटक-कलिकादि से उसका भेद कर सकेगा और विकासादि-लक्षण संयुक्त सभी पुष्पों को एक सामान्य जाति में भी गिन सकेगा।

बुद्धि की इस साधारण प्रक्रिया से यह भी समझ लेना सहज है कि वस्तुओं के गुणदोष के संबंध में हम जो धारणा स्थिर करते हैं वह भी सर्वथा निरपेक्ष, अचल और अपरिवर्त्य नहीं हो सकती, देश-काल-व्यक्ति की अपेक्षा से उसमें परिवर्तन होता ही है। हंस और चंद्रिका की धवलता मुग्धकरी होती है, पर इससे धवलता मात्र के प्रिय होने की स्थिर धारणा भ्रामक होगी; कामिनी के केशों में उस धवलता की कल्पना भी असह्य है। विहार-सरसी के सुबद्ध घाटों की ऋजुता निस्संदेह मनोरम होती है, परंतु वेगपूर्ण गिरि-नदी के प्रवाह की कुटिलता को दोष कौन कहेगा? इससे स्पष्ट है कि न श्वेतता और ऋजुता निरपेक्ष गुण हैं, न कृष्णता और कुटिलता निरपेक्ष दोष।

काव्य की आलोचना में भी हमें इसका ध्यान रखना आवश्यक है। किसी बहुत सुंदर काव्य से हम कितने भी अधिक प्रभावित क्यों न हों, यदि हम उसी की विशेषताएँ सब काव्यों में ढूँढेंगे तो वह संकुचित व्यक्तिगत रुचि ही होगी, आलोचक की व्यापक दृष्टि नहीं। मनुष्य का अनुभव-क्षेत्र, कवि का कल्पना-वैभव और भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति विश्व के समान ही अनंत और व्यापक हैं। अतीत में एक से एक बढ़कर सहस्रों काव्य रचे गए, फिर भी उनकी रचना बंद न हुई। सहृदयों की व्यापक दृष्टि ने उन सबके लिये स्वागत का द्वार सर्वदा खुला रखा; तत्काल नहीं तो कुछ दिन बाद ही सही, उन्हें उदारता के साथ अपनाया। फलतः काव्य की परिभाषा और परिधि

भी अधिक व्यापक और विस्तृत बनती गई, स्थिर और अचल न रह सकी। भविष्य में कौन कह सकता है कि सहस्रों उत्तम काव्य नहीं रचे जायँगे? उन सबकी कुछ अपनी विशेषताएँ भी अवश्य होंगी। सहृदय जन उनका स्वागत भी करेंगे ही, आलोचक के पुराने तराजू के पलड़े में न समा सकने के कारण वे उनका तिरस्कार नहीं करेंगे।

कबीर की कविता ताजमहल की इमारत के समान नहीं है जिसे कला और ऐश्वर्य की सर्वोत्तम कृति बनाने में कोई बात उठा नहीं रखी गई। वह उस विहारोद्यान की भाँति भी नहीं है जिसमें एक एक क्षुप अत्यंत सुकुमारता और सावधानी से चुनकर यथास्थान बैठाया गया है और घास और झाड़ियों तक की कटाई-छँटाई में हाथ का अद्भुत कौशल दिखाया गया है। न वह उस सुंदर सरोवर के सदृश है जिसके चारों ओर मनोहर घाट बने हैं, तट पर रम्य वाटिका शोभित है और जल में विकसित कमलश्रेणी। वह तो उस पर्वतीय दुर्ग के समान है जिसमें चिकने, नुकीले, छोटे, बड़े सभी तरह के पत्थर बिना बहुत नापजोख या खराद के बैठाए हुए दिखाई देते हैं। वह उस वन के सदृश है जिसमें यदि सघन सफल वृक्षावलियाँ और पुष्पित लताकुंज हैं तो पुराने ठूँठ और कँटीली झाड़ियों का भी अभाव नहीं है। अथवा वह उस गिरि-निर्झर की भाँति है जिसके अवनि-स्पर्श में भी शिखर-सेचन की तथा जिसकी तरलता में भी शिलाभंजन की अप्रतिहत शक्ति विद्यमान है। परंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उसमें सौंदर्य और सरसता का अभाव है। यदि ताजमहल सुंदर है तो अनगढ़ पत्थरों वाले दिगंतदर्शी पर्वत-दुर्ग की भी अपनी विशिष्ट भव्यता है; यदि पुष्पोद्यान मनोहर है तो ठूँठ और कँटीली झाड़ियों वाले बीहड़ वन की भी अपनी विचित्र शोभा है, और यदि भ्रमर-गुंजरित विकच कमलों से कलित निर्मल सरोवर रमणीय है तो शिलाओं का गर्व चूर्ण करनेवाले निर्झर की भी अपनी अद्भुत मोहकता और शक्ति है।

कबीर की कविता में काट-छाँट, सँवार-सिंगार और प्रदर्शन का प्रयत्न एकदम नहीं है, परंतु उसमें उच्च कोटि के काव्य का प्रभाव और आकर्षण

विद्यमान है। उससे साहित्य-शिक्षा और काव्यकला की चतुराई प्रकट नहीं होती, परंतु उसकी स्वाभाविक सरलता ही उसमें शिशुता की स्निग्ध मधुरता और तारुण्य का पवित्र तेज भरकर श्रेष्ठ काव्यों की श्रेणी में उसे अचल आसन प्रदान करती है। सधी और मँजी हुई प्रियवादिनी शिष्ट रुचि को उसमें भले ही यत्र-तत्र कुछ खटकनेवाली बातें भी मिलें, परंतु उसमें अप्रयत्नप्रसूत स्वयंसिद्ध कला की पवित्रता प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं कि कबीर कविता न करके भी कवि हो गए। बात यह है कि कबीर भक्त थे और भक्ति की उस भूमिका पर पहुँचे हुए थे जहाँ अनायास ही उसका मेल दर्शन और कविता से हो जाता है। उस भूमिका पर दर्शन तर्कशास्त्र का और काव्य कविशिक्षा का आश्रित नहीं रहा करता। वहाँ रहती है शुद्ध अनुभूति की धारा, जो अपनी अभिव्यक्ति के लिये शिक्षा और अभ्यास की अपेक्षा या प्रतीक्षा किए बिना ही, तत्क्षण उपलब्ध माध्यम द्वारा कला के रूप में फूट चलती है।

कविता का क्षेत्र

काव्य के अंतर्गत भाषा, छंद, अलंकार तथा दृश्य-श्रव्य, प्रबंध-मुक्तक आदि रूपों की विविधता एवं तद्गत गुण-दोषों के ऊपर कविता का स्वरूप निर्भर नहीं है। शब्द-रचना के विविध रूपों और आकारों में अभिव्यक्त होनेवाली भावधारा ही कविता का प्राण है। कवि में यदि भावतन्मयता है और भावों को शब्दरूप में इस प्रकार अभिव्यक्त करने की शक्ति है जिससे भावक भी उनके अर्थों की भावना द्वारा उन्हीं भावों में तन्मय हो सके, तो यही कवि की सफलता है, फिर चाहे कविता का विषय, बाह्य रूप, भाषा आदि जो कुछ भी हो। कबीर को अपने क्षेत्र में यह सफलता पूरी पूरी मिली है। परंतु यह कहना पड़ेगा कि उनका क्षेत्र बहुत विस्तृत नहीं है। इसका कारण है उनकी साधना-पद्धति की विशेषता।

यह व्यक्त जगत् अनंतरूपात्मक है और उसके रूपों की अनंतता ही हमारे

भावों की अनंतता का आलंबन हो सकती है। लौकिक (प्राकृत) कवि इस जगत् में मनुष्य, पशु, पक्षी, तथा प्रकृति के अन्य व्यापक क्षेत्रों से ऐसे विषयों को चुनकर उन्हें अपने काव्य का विषय बना सकता है जिनमें उसके हृदय की वृत्तियाँ रमती हों। भक्त कवियों का प्रधान इष्ट विषय जगत् या प्रकृति नहीं, भगवान है। फिर उनमें भी जिनका यह विश्वास है कि सच्चिदानंद परब्रह्म भगवान अव्यक्त होकर भी भक्तों के लिये लीलातनु धारण कर व्यक्त हो जाते और अधर्म का विनाश कर संतों की रक्षा तथा धर्म की संस्थापना करते हैं उन्हें भगवान के गुणगान तथा उनके नाना अवतारों और चरित्रों के कथन-श्रवण के लिये उनके संबंध से इस विस्तृत व्यक्त जगत् में अपने भावों को फैलाने का पर्याप्त अवकाश मिलता है। परंतु कबीर के भगवान सर्वव्यापक होकर भी अज, अद्वैत, अव्यक्त और निराकार हैं। जो कुछ व्यक्त और साकार, फलतः सादि और सांत है वह सब माया है—'संतो आवै जाय सो माया'—और माया मनुष्य को भगवान से दूर करनेवाली है। इसलिये माया का विस्तार यह व्यक्त जगत् ऐसा नहीं हैं जिसकी अनेकरूपता में उनका हृदय उलझ सकता। उनकी अंतर्गत साधना का लक्ष्य अव्यक्त ब्रह्म या भगवान को व्यक्त संसार के संबंधों के बीच उतार कर देखना नहीं, प्रत्युत स्वयं भी व्यक्त संसार के संबंधों से व्यावृत्त होकर अव्यक्त अद्वैत परब्रह्म से एक हो जाना है। ऐसी अवस्था में न व्यक्त भगवान के लीलाचरित्रों पर ही उनका हृदय टिक सकता था और न उसके लीलाक्षेत्र इस व्यक्त विश्व की विचित्रताओं पर। यही कारण है कि उनकी कविता में विषयों की विविधता और भावों की अनेकरूपता नहीं पाई जाती।

कहा जाता है कि कबीर के काव्यक्षेत्र की संकीर्णता का प्रधान कारण उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति थी। अर्थात् समाज के जिस स्तर पर रहकर उन्हें जीवन बिताना पड़ा था वह आर्थिक दृष्टि से निम्नतम और सामाजिक दृष्टि से अस्पृश्य था। आर्थिक सुस्थिति और आभिजात्य तथा तत्सुलभ शिक्षा-दीक्षा के कारण मनुष्य को समाज में राजा से रंक तक सभी कोटि के गृहस्थों

का जीवन निकट से देखने—उनके जन्म-विवाहादि उत्सवों तथा संयोग-वियोग, युद्ध-प्रेम, सभा-दरबार, पूजा-त्योहार आदि में सम्मिलित होने—के अवसर जितने सुलभ होते हैं उतने कबीर को नहीं हो सकते थे। इस कारण न इन बातों का उन्हें अनुभव था, न इनमें उनकी ऐसी रुचि ही थी कि वे इनको अपने काव्य का विषय बनाते। परंतु यह कथन उतना ही सत्य है जितना यह कि महात्मा गांधी ने पाणिनि पर कोई भाष्य इस कारण नहीं लिखा कि वे किसी वैयाकरण के कुल में उत्पन्न नहीं हुए। वैयाकरण के पुत्र को व्याकरण ज्ञान प्राप्त करने की सुविधा अवश्य अधिक रहती है, परंतु यह तो आवश्यक नहीं कि वह व्याकरण पढ़े और व्याकरण पर ग्रंथ लिखे। दूसरी ओर वैयाकरण के कुल से बाहर जन्म लेकर भी कोई धुरंधर वैयाकरण हो सकता है। कबीर जैसे व्यक्ति के लिये वेद-शास्त्र के अध्ययन का मार्ग भले ही अवरुद्ध था, परंतु मानव-जीवन के सामान्य सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि के अनुभव का द्वार तो बंद नहीं था। उनकी रुचि और सिद्धांतों के अनुकूल होने पर जायसी की भाँति उनके भी कोई नाना-भाव-समन्वित प्रबंध काव्य रचने में उनकी जाति या आर्थिक स्थिति बाधक नहीं हो सकती थी। यदि वे उत्तम वर्ण और कुल में होते तो भी, उनकी रुचि और सिद्धांतों के विपरीत होने पर लौकिक विषयों को गौणता के कारण उनका काव्य-क्षेत्र विस्तृत नहीं हो सकता था। अतः उनके काव्य-क्षेत्र की संकीर्णता का प्रधान कारण उनकी निर्गुण भक्ति-पद्धति और उनकी अंतर्मुखी साधना ही थी, जिससे उनकी रचना में आध्यात्मिक विषयों की प्रधानता हुई और लौकिक विषय गौण हो गए।

शरीर और संसार की असारता और अनित्यता से विरक्ति, भगवान के विरह की व्याकुलता, उनके साक्षात्कार का उल्लास और तन्मयता की आनंदानुभूति—ये ही स्वभावतः कबीर के सबसे प्रिय और प्रधान विषय हैं जिनके वर्णन में उनकी वाणी पूर्ण रूप से रमी है। भक्ति-साधना के प्रसंग से साधक की विभिन्न अनुभूतियों और कठिनाइयों का, इंद्रियों और कामक्रोधादि शत्रुओं की प्रबलता का तथा गुरुमहिमा, साधु महिमा, जीव-दया आदि सदा-

चार के अंगों का भी वर्णन हुआ है। संत, अवधूत, मुल्ला, पांडे तथा संसार के पाखंडियों और भक्तिहीन जप, तप, तीर्थ, पूजा, आचारों आदि के विषय में उनकी उक्तियाँ वैसी ही हैं जैसे जंगल में पड़ाव डाले हुए किसी यात्री-दल का मुखिया अपने बेखबर सोनेवाले साथियों को चोर-डाकुओं और वन्य जंतुओं का भय दिखाते हुए बार-बार जगाता और न जागने पर झिड़कियाँ सुनाकर उन्हें होश में लाने का प्रयत्न करता है।

उपदेश, योग, वैराग्य

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, एक तो कबीर की कविता का क्षेत्र यों ही संकीर्ण है; दूसरे उसमें भी कहा जा सकता है कि उपदेश और योग वैराग्य का कथन अधिक है जिसमें या तो कोई कवित्व नहीं है अथवा बहुत रूखा-पन आ गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन विषयों का कथन कबीर की कविता में अनल्प मात्रा में हुआ है, परंतु उसके काव्यत्व के संबंध में दो बातें ध्यान में रखना आवश्यक है। एक तो यह कि कवि भी मनुष्य है, विशिष्ट क्षणों में उसकी वाणी सरस्वती का जैसा शृंगार करने में समर्थ होती है, यह आवश्यक नहीं कि वह प्रतिक्षण वैसा कर सके। इस कारण यह भी आवश्यक नहीं कि उसके जीवन में जो कुछ उसके मुँह से निकले वह सब केवल पद्यबद्ध होने के कारण उच्च कोटि की कविता का पद प्राप्त करे। कितनी ही साधारण बातें भी वह पद्यबद्ध करके कह सकता है। सूर तुलसी से लेकर भारतेंदु, हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त आदि आधुनिक श्रेष्ठ कवियों में भी सरलता से इस प्रकार की उक्तियाँ पर्याप्त मात्रा में ढूँढ़ी जा सकती हैं। कबीर की वाणियों के विवेच्य संग्रह काव्यबुद्धि से संकलित वा संपादित नहीं किए गए हैं, अतः उनमें भी इस प्रकार की साधारण उक्तियों का होना अस्वाभाविक नहीं जिनमें हमें काव्यत्व न दिखाई पड़े।

दूसरी बात यह है कि काव्यत्व केवल विषय के ऊपर निर्भर नहीं है। यह बात अवश्य है कि हमारे सामान्य जीवन में कितने ही परिचित संबंध,

वस्तुएँ या घटनाएँ ऐसी मार्मिक होती हैं जिनकी उपस्थिति मात्र से उनमें भावक हृदय अनायास तल्लीन हो जाता है। परंतु इस संसार में—बाह्य जगत् और अंतर्जगत् में भी—ऐसे अनंत विषय हैं जिनकी ओर साधारणतः हमारा ध्यान भी आकर्षित नहीं होता। पर इतने से ही यह नहीं कहा जा सकता वे काव्य के विषय नहीं बन सकते। साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने भी काव्य के विषय पर इस प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं लगाया है। उन्होंने काव्यत्व रसात्मकता में ही माना है। इसका आशय ही यह हुआ कि कोई भी विषय काव्यप्रयुक्त हो सकता है, यदि वह रसात्मक हो सके। भिन्न भिन्न भावों के परिचित आलंबनों और उद्दीपनों तथा अन्य अनेक विषयों का जो उन्होंने निर्देश किया है वह केवल बालकवियों की शिक्षा के निमित्त। उसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि उनके अतिरिक्त और विषय हो ही नहीं सकते। काव्य की रसात्मकता हमारे हृदय के किसी भाव की अभिव्यक्ति में होती है—चाहे वह भाव प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, शोक, भय घृणा आदि में से कोई हो या लज्जा, शंका, चिंता, विषाद आदि में से अथवा केवल कुतूहल, व्यंग, विनोद मात्र। और संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती जिससे हमारा संपर्क हो और वह हमारे इन रति-विरत्यात्मक भावों में से किसी एक का विषय न बन सके—चाहे वह वस्तु रूप हो या अरूप, मनोग्राह्य हो या बुद्धिग्राह्य, चिरपरिचित प्राकृतिक दृश्य हो अथवा नवाविष्कृत वैज्ञानिक तथ्य। पाश्चात्य साहित्यालोचक अबरक्रांबी का भी कहना है कि काव्य का तत्त्व शुद्ध अनुभूति है जो हमारे रागप्रधान जीवन में ही नहीं प्रत्युत विचारप्रधान जीवन में भी संभव है। विज्ञान और दर्शन के सत्य भी हमारे आनंद के विषय बन सकते हैं।* फिर केवल कुछ विशेष विषयों के कारण कबीर की ही कविता

*The matter of literature is pure experience which is possible not only in emotional life but also in intellectual life. Truth of Science and Philosophy may also be enjoyed.

—L. Abercrombie: Principles of Literary Criticism.

कवित्वहीन क्यों मानी जाय ? हाँ, यह अवश्य है कि यदि उन विषयों का वर्णन रसात्मक नहीं है, उनसे मानव हृदय के किसी भाव की अभिव्यक्ति नहीं होती तो निश्चय ही उन्हें काव्य की सीमा के भीतर घसीटने का आग्रह कोई बुद्धिमान् नहीं करेगा। किसी विषय के वर्णन की रसात्मकता इसी बात पर निर्भर है कि कवि के हृदय में उस विषय की अनुभूति सच्ची हो और उसे अभिव्यक्त करने में उसकी वाणी सशक्त हो। कबीर में हम इन दोनों बातों का अभाव कहीं नहीं पाते।

यद्यपि सिद्धांततः काव्य के विषय के संबंध में कवि को पूर्ण स्वतंत्रता है, तथापि ऐसा नहीं है कि विषय के चुनाव का प्रभाव कविता पर पड़ता ही न हो। संसार की सभी वस्तुएँ, गुण या क्रियाएँ हमारे लिये एक सी प्रभावोत्पादक नहीं होतीं। भ्रमरगुंजित मंजरियों के भार से झुकी हुई आम की डाल, अबोध शिशु की निसर्ग-सरल मुसकान, वियोगिनी के करुण विरह-विलाप, काले काले बादलों की भयावनी गड़गड़ाहट, क्रुद्ध विषैले सर्प की कंपकारी फूत्कार का साधारणतः हमारे हृदय पर जैसा प्रभाव पड़ता है वैसा देहली के पत्थर, सत्यानासी के झाड़ या मार्ग की धूल का नहीं। इसलिये काव्य में स्वतंत्र रूप से इनके वर्णन में भी रसात्मकता की मात्रा एक सी नहीं हो सकती। यही कारण है कि चतुर कवि अपने काव्य के लिये प्रायः परिचित और निसर्गतः आकर्षक विषयों को ही चुना करते हैं। तुच्छ और नीरस विषयों को लेकर कविकर्म का निर्वाह उतना सहज नहीं है।

जो विषय साधारणतः अप्रिय और नीरस हैं अथवा इतने तुच्छ हैं कि स्वतंत्र रूप से किसी भाव की उद्भावना में समर्थ नहीं हैं, वे भी किसी अन्य भाव से भावित होकर सरस हो जाते हैं। जिस देहली के पत्थर पर पैर रखकर प्रियतमा गृह में प्रवेश करती है उसपर माथा टेकनेवाले वियुक्त प्रेमी की आह से उसमें कुछ आर्द्रता अवश्य आ जाती है। जो गाली कानों को साधारणतः अप्रिय और कटु लगा करती है, विवाहादि अवसरों पर ललनाओं के मुख से उसमें कुछ सरसता अवश्य आ जाती है। इसी प्रकार रूखी

और कठोर बात भी प्रेमपूर्वक प्रिय व्यक्ति द्वारा कही जाने पर मधुर और मान्य हो जाती है। 'सदा सत्य बोलो, असत्य-भाषण पाप है' इस प्रकार के विधि-निषेधात्मक वाक्य काव्य में रसात्मक नहीं माने गए हैं। पर यही उपदेश 'सत्य-हरिश्चंद्र' नाटक द्वारा मिलने पर उस नाटक की रसात्मकता और काव्यत्व में संदेह नहीं किया जा सकता। इसी से आचार्य मम्मट ने काव्य के फलों या प्रयोजनों के अंतर्गत कांतासम्मित उपदेश को भी गिना है।* कबीर की बहुत सी साखियों और कुछ पदों को भी, जिनमें प्रत्यक्ष रूप से उपदेश दिया गया है, यथा—

कबीर संसा दूरि करि, जांमण मरण भरंम।
पंचतत्त तत्तहि मिले, सुरति समाना मंन॥

काव्य मानने का आग्रह नहीं किया जा सकता। यह दूसरी बात है कि जिस प्रकार प्रबंध काव्यों में बीच बीच में इतिवृत्तात्मक वाक्यों को भी रसात्मक मान लिया गया है उसी प्रकार कबीर के संपूर्ण काव्य की दृष्टि से उनके उपदेशात्मक वाक्यों को भी काव्य मानने में नियमतः कोई बाधा न मानें; क्योंकि उनके उपदेश स्वतंत्र रूप में केवल उपदेश के लिये नहीं हैं। उनके मूल में लोक के प्रति करुणा या जीवदया का भाव है, जो स्वयं भी भक्तिरस का पोषक है जिसकी कबीर में प्रधानता है। हरि जी की इच्छा की पूर्ति या आज्ञा का पालन ही उपदेशों का प्रधान लक्ष्य है—

हरि जी इहै बिचारिया, साखी कहौ कबीर।
भवसागर में जीव है, कोई एक पकड़ै तीर॥

(बा० सा० ३४।१)

हरि की इस आज्ञा की पूर्ति वे सच्चे भाव और पूरी शक्ति से करते हैं, यद्यपि लोग मानते नहीं और उन्हें हारकर कहना पड़ता है कि अब मेरा दोष नहीं—

---

* काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

—काव्यप्रकाश।

कहूँ रे जे कहिबे की होइ।
ना को जानै ना को मानै ताथैं अचिरज मोहि ॥
अपने अपने रँग के राजा मानत नाहीं कोइ।
अति अभिमान लोभ के घाले चले अपनपौ खोइ ॥
मैं मेरी करि यहु तन खोयो समुझत नहीं गँवार।
भौजलि अधफर थाकि रहे हैं बूड़े बहुत अपार ॥
मोहिं आज्ञा दई दयाल दया करि काहू कूं समझाइ।
कहै कबीर मैं कहि कहि हार्‌यौ,अब मोहिं दोस न लाइ ॥

(बा० प० ३१८)

इसके अतिरिक्त उपदेशों के संबंध में यह भी कह देना आवश्यक है कि जहाँ शुद्ध उपदेश ही कबीर का लक्ष्य प्रतीत होता है वहाँ भी वे अप्रस्तुतों और लोकोक्तियों के प्रयोग तथा कहने के अपने अनोखे ढंग द्वारा उसे ऐसा रोचक और सचित्र बना देते हैं कि वह सीधे हृदय में जाकर बैठ जाता है। अतः अधिकांश उपदेशप्रद उक्तियाँ बिलकुल रूखी न होकर सुडौली सूक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं।

जो बात उपदेशों के संबंध में कही गई है वही योग की क्रियाओं के संबंध में भी कही जा सकती है। योग की क्रियाओं अथवा दार्शनिक सिद्धांतों के स्वतंत्र रूप में प्रत्यक्ष वर्णन के लिये तद्‌विषयक शास्त्र ही उपयुक्त हैं, काव्य नहीं—भले ही भक्ति और शम भाव के अंगरूप से नियम-निर्वाह के लिये उनकी रसात्मकता मान ली जाय। परंतु वैराग्य के संबंध में यह बात नहीं है। वैराग्य अर्थात् शरीर, संसार आदि से विरक्ति किसी भाव का विषय नहीं, प्रत्युत स्वयं एक भाव है जिसका विषय संसार अथवा सांसारिक विषय मात्र हैं और जिसे साहित्य में निर्वेद कहते हैं।[१] अतः काव्य में इसकी अभिव्यक्ति में रसा-

१—साहित्यशास्त्र में निर्वेद एक संचारी भाव है जिसका लक्षण इस प्रकार है—
तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्।
दैन्यचिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वसितादि कृत् ॥ (सा० द० ३। १४२)

त्मकता न मानने का कोई सैद्धांतिक कारण नहीं हो सकता।[२] यह ठीक है कि लोक में निर्वेद की गणना शोक, क्रोध आदि दुःखमूलक भावों की ही श्रेणी में की जायगी या कम से कम प्रेम, हास आदि आनंदमूलक भावों की श्रेणी में तो नहीं की जायगी; परंतु काव्य में तो दुःखमूलक भावों के भी रसरूप में परिणत होने में कोई बाधा नहीं पाई जाती।[३] करुण, भयानक आदि रसों के

अर्थात् तत्त्वज्ञान हो जाने पर, कोई भारी विपत्ति आ पड़ने पर या ईर्ष्या आदि के कारण आत्मतिरस्कार को निर्वेद कहते हैं। यह दीनता, चिंता, अश्रु, निःश्वास, विवर्णता, उच्छ्वास आदि को उत्पन्न करनेवाला है। यथा कबीर में—

भगति बिनु बिरथे जनमु गइओ।
साध संगति भगवान भजन बिनु कही न सचु लहिओ॥ (सं० क० ग० ५९)
काहे रे मन दह दिसि धावै। विषया संग संतोष न पावै॥
जहाँ जहाँ कलपै तहँ तहँ बंधना। रतन के थाल कियो तैं रंधना॥ (बा० प० ८७)

२—रसन धर्म के कारण, आस्वादित होनेके कारण, भाव भी रस संज्ञा प्राप्त करते हैं—

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिः शवलता चेति सर्वेऽपिरसनाद्रसाः॥ (सा० द० ३।२५९)

और भाव से तात्पर्य है प्रधानता से प्रतीयमान संचारी, देवादि विषयक रति तथा केवल उद्बुद्ध मात्र (रसरूप में अपरिणत) स्थायी—

संचारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
उद्बुद्धमात्र स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥ (सा० द० ३।२६०)

निर्वेद भी एक संचारी भाव है, अतः प्रधानता से प्रतीयमान होने पर उसके रस होने में कोई बाधा नहीं।

३—लोक में जो शोकादि के कारण हैं उनसे लौकिक शोकादि दुःख भले ही हों परंतु काव्य में वे अलौकिक विभाव कहलाते हैं और उनसे सुख ही होता है—

हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात्॥
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः।
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात्॥
सुखं संजायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः। (सा० द० ३।६, ७, ८)

शोक, भय आदि स्थायी भाव दुःखमूलक ही हैं, तथापि विभावादि के संयोग से वे रसरूप में परिणत होते हैं।

अब रहा यह कि यदि किसी को किसी रस या भावविशेष की कविता कम या अधिक पसंद आती है तो उसका कारण अवस्था, रुचि आदि का भेद भी हो सकता है। साधारणतः बालहृदयों को हास्य वा अद्भुत रस के काव्य में ही विशेष आनंद आता है और तरुणों को शृंगार में तथा वृद्धों और दुःखी जनों को भक्ति और शांत रस के काव्य में। कुछ लोग शृंगार को रसों का राजा कहते हैं तो रुचिभेद से कुछ लोग करुण को और कुछ शांत को ही सब रसों में श्रेष्ठ मानते हैं। इसी प्रकार विषयों के ग्रहण में अवस्था और रुचि का भेद हुआ करता है। बालकों को ध्रुव, प्रह्लाद, अभिमन्यु आदि की कथा में विशेष रस मिलता है। कृष्णभक्त को कृष्ण-काव्य से तृप्ति नहीं होती, राम-भक्त राम का चरित सुनते नहीं अघाता। यही बात वाद-विशेष की कविता के संबंध में भी समझनी चाहिए।

वह कवि अवश्य ही विशालहृदय तथा महान् यश का भागी है जिसके काव्य में मानव-हृदय में उठनेवाले सभी भावों को आश्रय और विश्राम मिलता है, जो सभी प्रकार की रुचि के सहृदयों को तृप्त कर सकता है। परंतु पूर्ण रूप से तो यह किसी भी कवि के लिये संभव नहीं है, अंशतः भी इसकी आशा प्रत्येक कवि से नहीं की जा सकती। कवि को अपना विशेष क्षेत्र चुनने की स्वाधीनता है और उसकी शक्ति की परीक्षा उसके सीमित क्षेत्र में ही की जा सकती है। कबीर प्रधानतः भक्ति, शम और निर्वेद के कवि हैं और इन्हीं की अभिव्यक्ति में उनकी कवित्वशक्ति देखी जानी चाहिए।

कवित्व शक्ति

कबीर के प्रत्यक्ष रूप से कथित उपदेशों में सहृदयों को शुष्कता का अनुभव हो सकता है और उनकी योगसाधना की अनुभूतियों तथा अटपटी उलटवाँसियों से किसी हद तक विरक्ति हो सकती है, परंतु जब वे अपने

शून्य शिखर की उच्च भूमिका से उतरकर सामान्य भावलोक में पहुँच जाते हैं तो उस समय उनकी सरल और निष्प्रपंच वाणी उनके निर्मल भावों को अभिव्यक्त करने के प्रयत्न में इस तीव्रता के साथ मर्मियों के हृदय को बेधकर उन्हें घायल कर देती है कि उन्हें सचमुच 'सतगुर' के बाण की याद आ जाती है—

सतगुर मार्‍या बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि
अंगि उघारै लागिया, गई दवा सूँ फूटि ॥

उसी समय हमें उनकी अनुभूति की गहराई और सचाई, उनके हृदय की विशालता और निर्द्वंद्वता, उनकी प्रतिभा की प्रखरता तथा उनकी वाणी की अद्‌भुत शक्ति का परिचय मिलता है। न हो उनका भावक्षेत्र उतना व्यापक, क्योंकि सब भावों को बाह्य विषयों से मोड़कर सबकी आधारभूत सत्ता की ओर लगाना उनकी साधना थी; न हो उनकी कल्पना उतनी क्रीड़ा-शील, क्योंकि ऐसा होना उनकी दृष्टि से सस्ता मनोरंजन होता; परंतु जितना कुछ उन्होंने कहा उसका एक एक शब्द उनके हृदय के सबसे गहरे तल के रस से सराबोर है और उसकी अभिव्यक्ति में उनकी वाणी जैसे बिना किसी प्रयास के सफल हुई है। उसे साकार करने में उनकी कल्पना शक्ति भी अनुरूप चित्रविधान करने में पीछे नहीं रही है। सत्य की ज्योति पर से पाखंड का आवरण छिन्न-भिन्न करने में गहन तर्क का आश्रय लिए बिना ही उनकी सरल और स्वतःप्रमाण युक्तियाँ जिस प्रकार निर्ममता किंतु निष्पक्षता के साथ प्रवृत्त हुई हैं वह भले ही व्यवस्था और मर्यादा के अभिमान को ठेस पहुँचानेवाला और उसे पार्श्व या पश्च भाग से प्रत्याक्रमण के लिये अवसर देनेवाला हो, किंतु उसपर सीधे सीधे वार किया जाना संभव ही नहीं है। अब हम कबीर की कविता से उपयुक्त उदाहरण लेकर अनुभूति और अभि-व्यक्ति दोनों दृष्टियों से उनकी काव्यशक्ति का परिचय प्राप्त करेंगे।

विरति

विरति भक्ति का अनिवार्य अंग है। मनुष्य का मन स्वभावतः संसार की

ही माया में फँसा रहता है। दुःख के निवारण और सुख की प्राप्ति के प्रयत्न में वह एक से दूसरे विषयों पर इतने वेग से दौड़ता है कि उसे यह सोचने के लिये एक क्षण का भी अवकाश नहीं मिलता कि जिन सुखों की ओर वह बेतहाशा भाग रहा है उनसे केवल क्षणिक तृप्ति ही मिल सकती है। वास्तविक और नित्य आनंद का उद्गम तो केवल इस संसार की सारभूत परमात्मसत्ता ही है जिसकी प्राप्ति या साक्षात्कार से परम शांति प्राप्त हो सकती है। परंतु विषय-तृष्णा छूटे बिना परमात्मा के चरणों में मन प्रवृत्त ही नहीं होता—

विषया अजहूँ सुरति सुख आसा,
हूँण न देइ हरि के चरण निवासा। (बा० प० ८२)

जब तक इस शरीर और संसार की क्षणभंगुरता और विषय-सुखों की अनित्यता का ज्ञान नहीं होता तब तक उनकी ओर से मन हट नहीं सकता। परंतु मनुष्य जैसे जानकर भी नहीं जानना चाहता कि बड़े बड़े राजाओं की भी अपार संपत्ति अंत में पड़ी ही रह जाती है, वे उसका उपभोग किए बिना ही संसार छोड़कर चले जाते हैं। एक पसर आटा और पाँच गज वस्त्र से शरीर का निर्वाह हो जाता है, फिर भी वह अनेक कष्ट सहकर संपत्ति जोड़ने के लिये व्यर्थ निरंतर हाय हाय किया करता है। इसके लिये वह कितने संघर्ष करता है, कितनी शत्रुता मोल लेता है, कितने प्रकार के पाप सोचता और कितनी हिंसा करता है, उस पशुता का कोई ठिकाना है! इसीलिये कबीर कहते हैं—

काहे कूँ माया दुख करि जोरी,
हाथि चून गज पाँच पिछौरी॥
ना को बंधु न भाई साथी, बाँधे रहे तुरंगम हाथी।
मैंड़ी महल बावड़ी छाजा, छाड़ि गए सब भूपति राजा।
कहै कबीर राम ल्यौ लाई, परी रही माया काहू न खाई॥
(बा० प० १००)

मनुष्य खुली आँखों से देख रहा है कि संसार में कुछ भी स्थिर रहनेवाला नहीं है। जिस घर को वह मेरा मेरा करके उससे चिपका हुआ है उसे थोड़े दिनों बाद छोड़ ही जाना पड़ता है। फिर भी वह उसकी ममता नहीं छोड़ता—

रे यामैं क्या मेरा क्या तेरा,
लाज न मरहि कहत घर मेरा।
चारि पहर निस भोरा, जैसैं तरवर पंखि बसेरा।
जैसैं बनियैं हाट पसारा, सब जग का सो सिरजनहारा।
ये ले जारे वै ले गाड़े, इनि दुखियनि दोऊ घर छाड़े।
कहत कबीर सुनहु रे लोई, हम तुम बिनसि रहैगा सोई।
(बा० प० १०३)

कागज के पुतले की तरह यह शरीर क्षण भर में नष्ट हो जानेवाला है, फिर भी मनुष्य उसपर कितना गर्व करता है। अनेक प्रकार के छल कपट करके इस प्रकार संपत्ति-संग्रह करता है जैसे अमर हो, पर यमराज का 'समन' आते ही सब कुछ यहीं छोड़कर चले जाना पड़ता है और क्षण भर में सारा खेल समाप्त हो जाता है—

मन रे तन कागद का पुतला।
लागै बूँद बिनसि जाइ छिन मैं गरब करै क्या इतना॥
माटी खोदै भीत उसारै अंध कहै घर मेरा।
आवै तलब बाँधि लै चालै बहुरि न करिहै फेरा॥
खोट कपट करि यहु धन जोर्‌यो लै धरती मैं गाड्यो।
रोक्यो घटि साँस नहिं निकसै ठौर ठौर सब छांड्यो॥
(बा० प० ९२)

जिस शरीर को नाना यत्न करके मनुष्य सुख से पुष्ट करता है वह मरने पर पल भर भी घर में रहने नहीं पाता और काठ के साथ भस्म हो जाता है, फिर इसका क्या अभिमान किया जाय—

झूठे तन कौं कहा गरबइए,
मरिए तौ पल भरि रहन न पइए।
खीर खांड़ घृत प्यंड सँवारा,
प्रान गए ले बाहरि जारा।
चोवा चंदन चरचत अंगा
सो तन जरै काठ के संगा।
दास कबीर यहु कीन्ह विचारा,
इक दिन ह्वैहै हाल हमारा।

(वही, पृ० ९३)

जिन प्रिय कुटुंबियों को मनुष्य अपना समझकर उनका पालन करता है वे ही उसे अंत में सिर ठोक-ठोककर (कपाल-क्रिया करके) जला डालते हैं। सब कैसे दगाबाज हैं कि जब तक प्राण हैं तब तक साथ रहकर इसी शरीर से लाभ भी उठाते हैं और अंत में इसका नाम-निशान मिटाकर रोते भी हैं। केवल भगवान ही रक्षक हैं, उन्हीं की शरण में जाना चाहिए—

तन राखनहारा को नाहीं,
तुम सोचि विचारि देखौ मन माँहीं।
जौरे कुटुंब अपनौ करि पारयो
मूंड़ ठोंकि ले बाहरि जारयो।
दगाबाज लूटैं अरु रोवैं
जारि गाड़ि खुर खोजहिं खोवैं।
कहत कबीर सुनहु रे लोई
हरि बिन राखनहार न कोई।

(वही, पृ० ९५)

किस प्रकार कबीर अत्यंत सरल भाषा में अकृत्रिम बोलचाल के ढंग से मनुष्य-जीवन के अंतिम दृश्य का स्वाभाविक चित्रण कर शरीर की निस्सारता

हृदयंगम कराते और मन को रामनाम की ओर खींचते हैं इसका केवल एक उदाहरण यहाँ और दिया जाता है—

मन रे रामनामहिं जानि।
थरहरी थूनी पर्‌यो मंदिर सूतौ खूँटी तानि॥
सैन तेरी कोइ न समझै जीभ पकरी आनि।
पांच गज दोवटी माँगी चून लीयौ सानि॥
बैसंदर खोखरी हाँड़ी चल्यो लादि पलानि।
भाई बंध बोलाइ बहु-रे काज कीनो आनि॥
कहै कबीर यामैं झूठ नाहीं छांड़ि जिय की बानि।
राम नाम निसंक भजि रे न करि कुल की कानि॥

(बा० प० ३१४)

मृत्युकाल के दृश्यों के वर्णन में कबीर का उद्देश्य केवल इस क्षणभंगुर जीवन की निस्सारता को हृदयगम कराके उसके प्रति विराग उत्पन्न करना है; अतः उनमें केवल ऐसी ही बातें आई हैं जिनसे उक्त उद्देश्य की सिद्धि हो। श्मशान पर भी कंकालों के नाच या अँतड़ियों से उलझती हुई जोगिनियों आदि का भयानक या वीभत्स वर्णन नहीं आने पाया है—

देखहु यहु तन जरता है,
घड़ी पहर बिलंबौ रे भाई जरता है।
काहे कौं एता किया पसारा,
यहु तन जरि बरि ह्वैहै छारा॥ इत्यादि

(ग्रं० प० ९४)

जहाँ प्रस्तुत वस्तु या दृश्य में स्वयं इतनी प्रभावोत्पादकता होती है कि उसका स्वाभाविक चित्र अथवा वर्णन मात्र भाव को उद्बुद्ध और उद्दीप्त करने में पूर्ण समर्थ होता है वहाँ उसकी अभिव्यक्ति के लिये अप्रस्तुतों की योजना व्यर्थ आडंबर सी प्रतीत होती है, परंतु जहाँ प्रस्तुत विषय हृदय में को

निश्चित वा विशेष प्रभाव उत्पन्न करनेवाला नहीं होता वहाँ अभीष्ट भाव की व्यंजना अप्रस्तुतों की सहायता के बिना हो ही नहीं सकती। कबीर की उक्तियों में—चाहे वे पद हों या साखियाँ—बिरली ही ऐसी मिलेंगी जिनमें अप्रस्तुतों का योग न हो। परंतु कहीं भी उनका प्रयोग व्यर्थ वा अनावश्यक रूप में नहीं हुआ है। इस कारण उनकी योजना स्वाभाविक ही नहीं, सुंदर और प्रभावोत्पादक भी हुई है। जिस शरीर और संसार के मोह और गर्व में जीव निश्चित होकर फूला फूला फिरता है, किस क्षण उससे उसे अलग करके काल उसको अनेक योनियों में भटकने के लिये विवश कर दे सकता है इसकी उसे कुछ खबर भी नहीं रहती। किंतु इस कथन मात्र से जीव की विवशता और दुर्दशा एवं काल की प्रबलता तथा कठोरता कुछ हृदय में अच्छी तरह जमती नहीं। परंतु वही जब सादृश्यमूलक अप्रस्तुतों की योजना द्वारा अन्योक्ति और रूपक के रूप में उपस्थित की जाती है तो वह चित्र की भाँति स्पष्ट होकर तुरत प्रभाव डालनेवाली होती है। जीव उस मछली के समान है जो अथाह जल-राशि में अपने को पूर्ण सुरक्षित समझकर बेखबर होकर निश्चितता के साथ इधर से उधर चमकती फिरती है, परंतु अचानक मछुए के जाल में फँस जाती है और उसे हाट में ग्राहकों के हाथ बिकना पड़ता है—

रंजसि मीन देखि बहु पानी, काल जाल की खबरि न जानी॥
गारै गरब्यौ औघट घाट, सो जल छौड़ि बिकान्यो हाट॥
बंध्यो न जानै जल उनमादि, कहै कबीर सब मोहे स्वादि॥
(बा० प० ८९)

सुग्गे को जिस प्रकार बिल्ली देखते देखते एक ही झपट्टे में ठिकाने लगा देती है, ठीक उसी प्रकार का भक्ष्य-भक्षक संबंध जीव और काल का भी है। इसलिये कबीर कहते हैं—

सुवटा डरपत रहु मेरे भाई। तोहिं डराई देत बिलाई॥
तीनि बार रूँधै एक दिन में कबहुँक खता खवाई॥

या मंजारी मुगध न मानै सब दुनिया डहकाई।
राणा राव छत्र कौं ब्यापै करि करि प्रीति सवाई॥
कहत कबीर सुनहु रे सुवटा उबरै हरि सरनाई।
लाखौं माँहिं ते लेत अचानक काहू न देत दिखाई॥

(बा० प० ९७)

वासना और इंद्रियों की प्रबलता

माया और तज्जन्य वासना इतनी प्रबल होती है कि शरीर और संसार की अस्थिरता बार बार आँखों के सामने आने पर भी मन विषयों से विरत होना नहीं चाहता। इसलिये कबीर दीनतापूर्वक भगवान से विनय करते हैं—

कहा करौं कैसे तिरौं भौजल अति भारी।
तुम्ह सरनागत केसवा राखि राखि मुरारी॥
घर तजि बन खंडि जाइए खनि खइए कंदा।
विषै बिकार न छूटई ऐसा मन गंदा॥
बिष बिषिया की वासना तजौं तजी न जाई।
अनेक जतन करि सुरझि हौं फुनि फुनि उरझाई॥
कहै कबीर सुनि केसवा तू सकल बियापी।
तुम्ह समान दाता नहीं हम से बड़ पापी॥

(बा० प० १७८)

यह संसार विषैला सर्प है जो शरीर को डस लेता है। वासनारूपी सर्पिणी इस शरीर रूपी पिटारे में ही चैतन्य होकर बैठी रहती है। भगवान की माया के प्रभाव से ही उसका विष व्याप्त होकर दारुण दुःख देता है। वासना-सर्पिणी का भयंकर विष जिसके शरीर में व्याप्त हो गया है उसकी रक्षा भगवान ही कर सकते हैं; इसी से कबीर कहते हैं—

तुम गारडू मैं विष का माता,
काहे न जियावौ मेरे अमृत दाता॥

संसार भवंगम डसिले काया। अरु दुख दारन व्यापै तेरी माया ॥
साँपिनि एक पिटारै जागै। अह निसि रोवै ताकूँ फिरि फिरि लागै ॥
कहै कबीर को को नहिं राखे। राम रसाइनि जिनि जिनि चाखे ॥
(बा० प० ८३)

इंद्रियाँ इतनी प्रबल हैं कि वे बलपूर्वक मन को अपने साथ खींचकर विषयों की ओर ले जाती हैं—'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः'। यह दुर्बल मनुष्य कितना भी बुद्धिबल का प्रयोग करे, वहाँ उसका एक भी उपाय नहीं चलता। बड़े बड़े योगियों आदि को भी, जो अहर्निश काया की साधना किया करते हैं, विषय रूपी बाघ खाए बिना छोड़ता नहीं। भगवान की ऐसी विषम माया है कि समझ में नहीं आती। जो घर-घरनी छोड़कर एकांत में साधना करते हैं वे भी उससे नहीं बचते। केवल राम को पुकारने से ही रक्षा हो सकती है—

राम राइ कासनि करौं पुकारा,
ऐसे तुम साहिब जाननि हारा ॥
इंद्री सबल निबल मैं माधो बहुत करैं बरिआई।
लै धरि जाहिं तहाँ दुख पइये बुधिबल कछु न बसाई ॥
जोगी जती तपी संन्यासी अहनिसि खोजैं काया।
मैं मेरी करि बहुत बिगूते बिषै बाघ जग खाया ॥
ऐकत जाँहिं छाँड़ि घर घरनी तिन भी बहुत उपाया।
कहै कबीर कछु समझि न परई विषम तुम्हारी माया ॥
(बा० प० १९२)

जब बुद्धि रूपी खेती में गुरु भक्ति का बीज डालते हैं और राम-नाम के दो अक्षर उनकी रखवाली करते हैं तभी यह खेती बच सकती है, अन्यथा इंद्रियाँ मृगों के समान इस खेती को उजाड़ डालती हैं। इंद्रियों के इस उत्पात का खेत और मृगों के रूपक द्वारा कैसा स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण

जतन बिन मृगनि खेत उजारे।
टारे टरत नहीं निसि बासर बिडरत नहीं बिडारे॥
अपने अपने रस के लोभी करतब न्यारे न्यारे।
अति अभिमान बदत नहिं काहू बहुत लोग पचि हारे॥
बुधि मेरी किरषी गुरु मेरो बिझुका अक्खिर दोइ रखवारे।
कहैं कबीर अब खान न दैहूँ बरियाँ भली सँभारे॥

(बा० प० ३९६)

विश्वास

विषयों से विरति शुष्क हृदय की उदासीनता नहीं, प्रत्युत प्रेमपूर्ण भक्त-हृदय द्वारा अनन्य भगवद्भक्ति की साधना है। ज्यों ज्यों विषयों की असारता मन में बैठती जाती है त्यों त्यों भगवान में विश्वास दृढ़ होता जाता है। यह संसार परदेश सा लगने लगता है और एक राम ही भरोसा करने योग्य आत्मीय जान पड़ते हैं—

मैं परदेसी काहि पुकारौं इहाँ नहीं को मेरा।
यहु संसार ढूँढि सब देखा एक भरोसा तेरा॥

(बा० प० १०२)

फिर धीरे धीरे राम में विश्वास ऐसा दृढ़ हो जाता है कि किसी अन्य का आसरा देखने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती—

अब मोहिं राम भरोसा तेरा। और कौन का करौं निहोरा॥
जाके राम सरीखा साहिब भाई। सो क्यूँ अनत पुकारन जाई॥
जा सिरि तीन लोक कौ भारा। सो क्यूँ न करै जन कौ प्रतिपारा॥
कहैं कबीर सेवौ बनवारी। सींचौ पेड़ पीवैं, सब डारी॥

(बा० प० ११४)

भक्त और प्रेमी का यही विश्वास भक्ति या प्रेम में पूर्ण आत्मसमर्पण का आधार है। बिना विश्वास के समर्पण नहीं, और बिना समर्पण के प्रेम की

पूर्णता नहीं। विरह की व्याकुलता को उन्माद और मरण की अवस्था तक पहुँचानेवाला तथा संयोग के लिये कठिन से कठिन साधना को पूर्ण करने का साहस देनेवाला भी यही विश्वास है और यही हृदय में उस निर्भयता और गर्व का संचार भी करानेवाला है जिसके सामने यदि किसी का गौरव है तो प्रिय का, अन्य सभी तृण से भी लघु जान पड़ते हैं। और जो प्रिय से विमुख हैं वे तो इतने उपेक्षणीय हो जाते हैं मानो उनका कोई अस्तित्व ही न हो। जब कबीर कहते हैं—

> वेद न जानूँ भेद न जानूँ जानूँ एकहि रामा।
> पंडित दिसि पछवारा कीन्हा मुख कीन्हौं जित नामा॥
> राजा अंबरीक कै कारनि चक्र सुदरसन जारै।
> दास कबीर को ठाकुर ऐसो भगति की सरन उबारै॥
>
> (बा० प० १२२)

तो जायसी की भाँति 'हौं पंडितन केर पछलगा' [ऐसा लगता है जैसे यह वाक्य जायसी ने कबीर के 'पंडित दिसि पछवारा कीन्हा' को ही लक्ष्य करके कहा हो।] न कहकर एकदम उसका उलटा कहने के कारण यदि कबीर को अभिमानी ठहराया जाय तो सर्वथा अन्याय ही होगा। भक्ति और पांडित्य में कबीर कोई अनिवार्य संबंध नहीं मानते थे। पोथी और बाह्याचार को ही सब कुछ माननेवाला वेद और भेद-वादी पंडित प्रायः पांडित्य के अहंकार में भक्ति की अनुभूति से दूर ही दूर रह जाता है। कबीर ने काशी में ही इसका खूब अच्छी तरह अनुभव कर लिया था। अतः द्वेष या अहंकार के कारण नहीं, प्रत्युत भक्ति से दूर रहने के कारण ही वे पंडित के संबंध में ऐसा कहते हैं। अन्यथा जिसके हृदय में राम की भक्ति है उसके तो वे चरणों की धूल भी बन जाते हैं—

> निरमल निरमल राम गुन गावै। सो भगता मेरे मन भावै॥
> जो जन लेहिं राम कर नाउं। ताकी मैं बलिहारी जाउं॥

जिहि घटि राम रहै भरपूरि। ताकी मैं चरनन की धूरि ॥
(बा० प० ११४)

विरह और मिलन

जब तक अपने ऊपर नहीं बीतती तब तक अन्य का अनुभव कुतूहल और उपहास का ही विषय बना रहता है। जब लौकिक प्रियजनों की विरहानुभूति के विषय में यह बात सत्य है तो निराकार परमात्मा के विरह की बात तो भगवत्प्रेम के संस्कार से हीन व्यक्ति की बुद्धि में भी आनेवाली बात नहीं है। वस्तुतः वह भाषा में व्यक्त करने का विषय ही नहीं है, क्योंकि भाषा का निर्माण तो लौकिक वस्तुओं और अनुभूतियों को ही लेकर हुआ है। आध्यात्मिक अनुभूति की कोई अपनी भाषा ही नहीं। फिर भी जब भक्त का हृदय भगवान के विरह में तड़पता है और उससे मिलने पर उल्लास से नाच उठता है तो उन अनुभूतियों को वह वाणी में व्यक्त किए बिना भी नहीं रह सकता। तब लौकिक भाषा में सुलभ रूपकों द्वारा ही वह उसे कुछ-कुछ अभिव्यक्त कर पाता है। लौकिक विरह और मिलन की तीव्र अनुभूति दांपत्य जीवन वा पति-पत्नी संबंध में ही पूर्णता से होती है, अतः लौकिक संयोग-वियोग के ही रूपक द्वारा कबीर ने उसका अत्यंत सरल किंतु प्रभावकारी वर्णन किया है। यथा—

विरह

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूँ, मनि नाहीं विस्राम ॥
(ग्रा० सा० २।६)

आइ न सकौं तुझ पै, सकौं न तुझ बुलाइ।
जियरा यौं ही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ ॥ (२।१०)
कबीर देखत दिन गया, निसि भी देखत जाइ।
बिरहनि पिव पावै नहीं, जियरा तळपै माइ ॥ (२।१८)

कै बिरहनि कूँ मीच दै, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणा, मो पै सह्या न जाइ॥ (३।३५)

हौं बलियाँ कब देखौंगी तोहिं।
अहनिसि आतुर दरसन कारनि ऐसी व्यापै मोहिं॥
नैन हमारे तुम कूँ चाहैं रती न मानै हारि।
बिरह अगिन तन अधिक जरावै ऐसी लेहु विचारि॥
बहुत दिना के बिछुरे माधौ मन नहीं बांधै धीर।
देह छतां तुम मिलहु कृपा करि आरतिवंत कबीर॥
(बा० प० ३०५)

बाल्हा आव हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे॥
सबको कहै तुम्हारी नारी मोको यहै अंदेह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै तब लग कैसा नेह रे॥
है कोई ऐसा पर उपगारी हरि सूँ कहै सुनाइ रे।
ऐसे हाल कबीर भए हैं बिन देखे जिव जाइ रे॥ (३०७)

मिलन

दुलहनी गावहु मंगल चार,
हम घरि आए राजाराम भरतार॥
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ पंच तत बराती।
रामदेव मोरे पाहुन आए मैं जोबन मैंमाती॥ (१)

अब तोहिं जान न देहूँ प्रान पियारे,
ज्यूँ भावै त्यूँ होहु हमारे॥
बहुत दिनन थैं प्रीतम पाए। भाग बड़े घर बैठे आए॥
चरननि लागि करौं बरिआई। प्रेम प्रीति राखौं उरझाई॥ (२)

रूपक और चित्र

भाषा के सशक्त होने के लिये जितनी भाषा पर अधिकार की आवश्यकता

होती है उतनी ही अनुभूति की तीव्रता की भी। कबीर की अनुभूति की सचाई और तीव्रता संदेह से परे है, अतः उनकी सीधी-सादी भाषा भी उस तीव्रता को वहन करने में पूर्ण सक्षम होती है। परंतु मौज के अनुसार वे ऐसे सुपरिचित और प्रभावकारी रूपकों तथा चित्रों का भी प्रयोग करते हैं जो भाव को बिना किसी प्रयास के सीधे हृदय पर गहराई से अंकित कर देते हैं। ऐसे रूपकों और चित्रों का उनकी रचनाओं में बाहुल्य है, उन्हें ढूँढने के लिये प्रयास की आवश्यकता नहीं। लंबे रूपक अधिकतर जुलाहा, बनजारा, किसान आदि के जीवन और धंधों से संबंध रखने वाले हैं। बात बात में वे विचित्र प्रकार के रूपकों का प्रयोग कर जाते हैं जो प्रायः बड़े धार्मिक होते हैं।

सांसारिक विपत्तियों के भय से विचलित होते हुए मन को संबोधित कर वे समझाते हैं कि जब तू भक्ति के विकट पथ पर पैर रख चुका तो डरना क्या? अब तो अंत तक चलने में ही कुशल है। इसी सीधे भाव को वे इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

डगमग छाँड़ि दे मन बौरा।
अब तो ऊरें बरें बनि आवै लीन्हों हाथ सिंधोरा॥ (बा० प० १२९)

'भेख' में भूले और अहंकार में फूले लोगों को काल के खतरे से वे इस प्रकार की सचित्र भाषा में सावधान करते हैं—

मूड़ मुंड़ाइ फूलि का बैठे काननि पहिरि मंजूसा।
बाहरि देह खेह लपटानी भीतरि तो घर मूसा॥
गालिब नगरी गांव बसाया हांम कांम अहंकारी।
घालि रसरिया जब जम खैंचे तब का पति रहै तुम्हारी॥ (१३४)

अभी खूब चोरी-बेईमानी से धन लूटकर नाच-रंग कर लो। जब काल अचानक आ धमकेगा तो क्षण भर में सारा खेल खतम हो जाएगा, उस समय कोई काम न आएगा—

खोट कपट करि यहु धन जोर्यौ लै धरती मैं गाड़्यौ।

× × ×

कहै कबीर नट नाटिक थाके मंदला कौन बजावै।

गए पेषनिया उझरी बाजी को काहू के आवै॥ (९२)

राम से बिछुड़कर जीव शरीर धारण कर संसार में आता है और वासना तथा इंद्रियों की निरंकुशता के कारण असहाय होकर दुःख पाता है, अतः राम का संग नहीं छोड़ना चाहिए। इसी तथ्य को कबीर ने राम को पति और अपने को पत्नी तथा संसार को नैहर मानकर कैसे सरस ढंग से व्यक्त किया है—

साईं मेरे साजि दई एक डोली।
हँसत लोग अरु मैं तैं बोली॥
इक झंझर सम सूत खटोला,
त्रिस्ना बाव बहुत विधि डोला॥
पाँच कहाँर का मरम न जाना,
एकैं कह्या एक नहीं माना॥
भूभर घाम उहार न छावा,
नैहरि जात बहुत दुख पावा॥
कहै कबीर बर बहु दुख सहिए,
राम प्रीति करि संगहिं रहिए॥ (९०)

अन्य विषय

कबीर ने मूर्तिपूजा, तीर्थ, वेष, माला आदि तथा संसार में फैले हुए अनेक प्रकार के पाखंडों के विषय में जो चुभते हुए व्यंग किए हैं उनमें उनके सहज सुलभ दृष्टांत और तर्क प्रथम प्रहार में ही लक्ष्य को चूर कर देनेवाले हैं। प्रायः ऐसी ही उक्तियों की गणना कबीर की कविता में होती रही है, अतः वे सुप्रसिद्ध हैं, यहाँ उनके उदाहरण की आवश्यकता नहीं।

नवाँ अध्याय

कबीर का जीवनवृत्त

अपने अंतःप्रकाश से सहस्रों के तमपूर्ण जीवन में ज्योति की शिखा प्रज्व-लित करनेवाले अनेक भारतीय सत्पुरुषों की भाँति कबीर के भी जीवन का इतिहास बहुत कुछ अंधकाराच्छन्न है। अपने संबंध में स्वयं कुछ प्रत्यक्ष रूप से कह जाना तो कदाचित् आत्मविज्ञापन का लक्षण होने से इन महात्माओं की प्रकृति के विरुद्ध था, अथवा वे इसे नितांत अनावश्यक समझते थे। अतः नाम और जाति को छोड़कर उनके व्यक्तिगत जीवन की अन्य बातों के संबंध में जो कुछ अप्रत्यक्ष रूप से इनके मुँह से निकल गया उसी पर प्रायः हमें संतोष करना पड़ता है। उसमें भी कबीर के पदों से ऐतिहासिक तथ्य संग्रह करने का प्रयत्न सदा भ्रम से शून्य नहीं रहा है, इसका कुछ आभास हम पूर्व अध्यायों में पा चुके हैं। अतः कई ऐसे पद, जो निश्चित रूप से कबीर के व्यक्तिगत जीवन से संबंध रखनेवाले समझे गए हैं, संदिग्ध अथवा आध्या-त्मिक अर्थपरक होने के कारण हमें सावधानी से छाँट देने पड़ते हैं। इससे जीवनवृत्त संबंधी आभ्यंतर साक्ष्य का बल और भी न्यून हो जाता है। फिर भी उनसे हमें असंदिग्ध रूप में जो बातें ज्ञात होती हैं उनका यथाप्रसंग उल्लेख किया जायगा।

जो दशा अंतःसाक्ष्य की है वही प्रायः बाह्य प्रमाणों की भी है। जिसे हम 'तर्कसम्मत इतिहास' कहते हैं उस रूप में तो कबीर के जीवनचरित का अभाव ही है। इसमें संदेह नहीं कि संतपरंपरा तथा कबीरपंथ में उनके जीवन के संबंध की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं, परंतु भक्तों की यह एक विशेष प्रवृत्ति रही है कि उन्होंने हरिभक्त को हरि से भी ऊँचे बैठाने के प्रयत्न में उसके जीवन की कथाओं को प्रायः भावुकता से रँगकर उन्हें अलौकिक

चमत्कारों से पूर्ण बना दिया है। इसके बिना उनकी श्रद्धाभावना तृप्त ही नहीं हो सकती थी। परंतु इसी कारण ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसी कथाओं का मूल्य बहुत कम हो जाता है। कबीर का जीवनचरित भी उपर्युक्त प्रवृत्ति के अनुसार अलौकिक बना दिया गया है, अतः ऐतिहासिक तथ्यों से उसकी पुष्टि हुए बिना उसकी सभी बातें ग्राह्य नहीं मानी जा सकतीं।

कबीरपंथ में कबीर के जीवन का वर्णन करनेवाली प्रसिद्ध पुस्तकें कबीर-कसौटी और कबीरचरित्रबोध हैं। इनके अतिरिक्त भक्तपरंपरा में उसका उल्लेख करनेवाले मुख्य ग्रंथ हैं नाभादास कृत भक्तमाल, प्रियादास कृत उसकी टीका, रघुराजसिंह का भक्तमाल तथा अनंतदास कृत कबीर, पीपा और रैदास की परचइयाँ। यों रैदास, पीपा, नानक, दादू, तुकाराम, गरीबदास आदि संतों ने भी कबीर का नामोल्लेख श्रद्धापूर्वक अपनी बानियों में किया है, परंतु उन्होंने अन्य प्राचीन और प्रसिद्ध भक्तों के साथ आदरार्थ ही ऐसा किया है और उसमें कबीर के व्यक्तिगत जीवन संबंधी किसी विशेष तथ्य का पता नहीं चलता।

उपर्युक्त कबीरपंथी ग्रंथों तथा भक्तनामावलियों के अतिरिक्त बाह्य उल्लेखों में कुछ मुसलमान लेखकों के ग्रंथ हैं जिनमें कबीर की चर्चा की गई हैं। ऐसे मुख्य ग्रंथ अबुलफजल कृत आईनेअकबरी, मोहसिन फानी लिखित दबिस्ताँ तथा मौलवी गुलामसरवर रचित खजीनतुल आसफिया हैं। इन तथा उपर्युक्त अन्य उल्लेखों एवं स्वयं कबीर की बानियों के आधार पर ही कबीर के जीवन संबंधी तथ्यों पर विचार किया जा सकता है।

पंथ में प्रसिद्ध जीवनचरित

कबीरपंथ में प्रचलित कबीर के जीवनचरित का सारांश इस प्रकार है—

१—कबीरकसौटी तथा कबीरचरित्रबोध के अनुसार कबीर का आविर्भाव संवत् १४५५ में ज्येष्ठ की पूर्णिमा को सोमवार के दिन हुआ। मृत्यु-तिथि माघ सुदी एकादशी संवत् १५७५ प्रसिद्ध है। कबीरकसौटी में तिथि के साथ वार

का भी उल्लेख है, पर यह तिथि उसमें मगहर प्रस्थान करने की है—"माघ सुदी एकादशी दिन बुधवार सं० १५७५ को काशी को तजकर मगहर को चले।" मृत्यु की दूसरी तिथि सं० १५०५ प्रसिद्ध है।

२—कबीर के जन्म के संबंध में पंथ में एक मत तो यह है कि वे साधारण योनिशरीरी मानव न होकर शुद्ध ज्योतिशरीरी थे।* ज्योति के रूप में ही वे काशी के लहर तालाब में कमल पर अवतीर्ण हुए थे। अली उपनाम नीरू जुलाहा गौना लेकर अपनी स्त्री नीमा के साथ उधर से जा रहा था। यह सोचकर कि किसी विधवा या क्वाँरी ने इस सुंदर बालक को लोकभय से यहाँ फेंक दिया है, उस दंपति ने प्रेमपूर्वक घर ले जाकर उसका पालन किया। दूसरे मत से, स्वामी रामानंद ने एक विधवा ब्राह्मणी को, यह न जानकर कि यह विधवा है, पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया था। वही ब्राह्मणी बालक उत्पन्न होने पर उसे लहर तालाब में फेंक आई थी, जहाँ से नीमा और नीरू उसे उठा ले गए।

जुलाहा दंपति ने घर जाकर काजी द्वारा बालक का नामकरण कराया। किताब में कबीर, अकबर, कुबरा, कुबरिया चार नाम निकले—चारों इतने बड़े कि गरीब जुलाहे के बच्चे को वे नहीं दिए जा सकते थे। पर अंत में बालक के यह कहने पर कि 'हम आत्मरूप तथा शब्दप्रकाशी हैं', काजी को कबीर नाम रखना पड़ा।

३—जब कबीर पाँच वर्ष के थे तभी बालकों में खेलते समय प्रायः 'राम-राम, हरिहरि' कहा करते थे। कोई मुसलमान टोकता तो उसे फटकारते थे। कभी कभी माला और जनेऊ भी धारण करते थे। परंतु कबीर को कुछ लोग 'निगुरा' कहकर चिढ़ाने लगे तब वे एक दिन अँधेरे में ही जाकर गंगा जी की सीढ़ियों पर लेट रहे। स्वामी रामानंद स्नान करके लौटने लगे तो उनका पैर

* स० क० की साखी में कबीर को श्वेतद्वीप-निवासी और परब्रह्म स्वरूप मानकर उनकी वंदना की गई है—

सद्गुरुं श्वेतममलं श्वेतद्वीपनिवासिनम्। कबीरमाश्रये नित्यं परब्रह्मस्वरूपिणम्॥

कबीर के शरीर पर पड़ा और उनके मुख से 'राम राम' निकला। इसी को कबीर ने गुरुमंत्र मान लिया और वे अपने को रामानंद का शिष्य कहने लगे। लोगों ने स्वामी रामानंद से इसकी शिकायत की तो उन्होंने कबीर को बुलवाकर इसका भेद पूछा। कबीर ने कहा—'स्वामी जी! और कोई तो मंत्र कान में देते हैं, आपने तो राम नाम सिर ठोककर दिया है।' स्वामी जी ने पर्दा खोलकर गद्‌गद् हो उन्हें छाती से लगा लिया और अपना शिष्य स्वीकार किया। उस दिन से कबीर और अधिक तत्परता से रामनाम जपने और संतसेवा करने लगे। साथ ही वे अपना कपड़ा बुनने का काम भी करते थे और नित्य बुनकर बाजार में बेंच आया करते थे। बेंचने पर जो मूल्य मिलता उसमें से आधा पुण्य कर देते थे। नीमा इस व्यवहार से बहुत रुष्ट रहती थी।

४—जब कबीर तीस वर्ष के हुए तो एक दिन गंगा किनारे घूमते हुए एक वैरागी की कुटी में जा पहुँचे। वहाँ एक बीस वर्ष की युवती मिली। थोड़ी देर बाद कुछ और संत आए और कन्या ने सबके लिये दूध ला रखा। संतों ने उसके सात भाग किए—पाँच अपने लिये, एक लोई (कन्या का नाम) के लिये और एक कबीर के लिये। सबने अपना भाग पी लिया पर कबीर ने यह कहकर रख छोड़ा कि गंगा पार से एक और संत आ रहे हैं, अपना भाग उन्हें देंगे। बात सत्य निकली और कबीर ने संत के आने पर अपना भाग उसे दे दिया।

पीछे लोई से पूछने पर कबीर को पता चला कि वह वहाँ अकेली रहती है। एक वैरागी ने उसे कंबल में लिपटे हुए एक नवजात शिशु के रूप में गंगा जी में पाया था और उसी ने उसका पालन किया था। ऊनी वस्त्र में लपेटी होने के कारण उसका नाम लोई पड़ा था। उस कन्या को कबीर पर बड़ी श्रद्धा हुई और वह उनके साथ जाकर शिष्या के रूप में रहने लगी।

५—एक दिन कबीर शेख तकी के साथ गंगातट पर टहल रहे थे। वहाँ दो तीन महीने के एक मुर्दा बालक को देखा। उन्होंने उसके कान में शब्द कहा जिससे वह जी उठा। तकी ने कहा कि आपने कमाल किया! कबीर ने

उत्तर दिया कि यह खुद 'कमाल' है, और उसे लाकर लोई को दिया। इसी प्रकार एक बार किसी की लड़की मर गई थी। कबीर ने कह सुनकर उसका शव माँग लिया और उसे जीवित कर लोई को दिया। उसका नाम कमाली रखा। बीस वर्ष की अवस्था होने पर कबीर ने उसका विवाह एक ब्राह्मण से कर दिया जिसने भूल से उसके हाथ का पानी पी लिया था।

६—राजा वीरसिंह बघेला कबीर को बहुत मानता था। एक बार जब वह काशी आया था, कबीर होली के दिन हाथ में चरणामृत का पात्र लिए रैदास तथा एक वेश्या के साथ उसके दरबार में जाने लगे। मार्ग में लोगों ने देखा तो समझा यह पतित हो गया। 'अररर कबीर' कहकर लोग उन्हें चिढ़ाने लगे। राजा भी रुष्ट हुआ। इतने में कबीर ने अचानक चरणामृत का पात्र अपने पैरों पर उलट दिया। रैदास ने इसकी व्याख्या की कि जगन्नाथ जी के पंडे का पैर जल गया है, कबीर ने उसे बुझाया है। राजा ने जगन्नाथ जी चर भेजकर पता लगवाया तो बात सत्य निकली और उसने कबीर से क्षमा माँगी।

७—सुलतान सिकंदर लोदी एक बार काशी आया तो हिंदू मुसलमान दोनों ने, जो पहले ही से कबीर से चिढ़े बैठे थे, मिलकर उससे उनकी शिकायत की। सुलतान ने कबीर को बुलवा भेजा तो वे बहुत विलंब से पहुँचे और कारण पूछने पर उत्तर दिया कि सुई की नोक बराबर एक तंग रास्ते से हजारों ऊँटों की कतार जा रही थी, वही तमाशा देखने लगे थे। सुलतान इसे गुस्ताखी समझकर क्रुद्ध हुआ तब उन्होंने कहा कि संपूर्ण पृथ्वी और आकाश सुई की नाक से भी छोटी आँख की पुतली में समा जाते हैं तो फिर मेरा कथन असत्य कैसे? इस उत्तर पर सुलतान ने उन्हें छोड़ दिया। पर शेख तकी और ब्राह्मणों के फिर शिकायत करने पर कबीर दूसरी बार बुलाए गए। सुलतान ने उनसे कहा कि सभी लोग तुम्हारे आचार-व्यवहार की निंदा करते हैं। तुम अपने दीन के अनुसार रहकर जीवन व्यतीत करो, नहीं तो दोजख में पड़ोगे। कबीर ने उत्तर दिया—'दोजख परैं तुरक औ

हिंदू। काजी बाँभन सब ही भोंदू ॥' तब सुलतान ने क्रुद्ध होकर उन्हें पत्थरों से लदी नाव पर बैठाकर गंगा में डुबाने की आज्ञा दी। पहले तो नाव के साथ कबीर भी डूब गए, पर थोड़ी ही देर बाद लोगों ने देखा कि वे मृगछाला पर आसन लगाए गंगा की धार पर बैठे हुए हैं। इसपर सुलतान ने उन्हें आग में जलाने की आज्ञा दी, पर उससे भी वे बच गए। तीसरी बार उन्हें हाथी से कुचलवाने की आज्ञा दी गई, पर हाथी ने उन्हें नहीं कुचला। तब सुलतान ने इनसे क्षमा माँगी और इनकी प्रतिष्ठा और अधिक बढ़ गई।

८—सिक्खों के गुरु नानक जब २७ वर्ष के थे तब सं० १५५३ में उनकी कबीर से भेंट हुई थी।

९—कबीर की बहुत ख्याति सुनकर गिरनार से गोरखनाथ योगी काशी आए और सीधे स्वामी रामानंद की सभा में जाकर धरती में त्रिशूल गाड़कर उसपर बैठ गए तथा उसी प्रकार दूसरे त्रिशूल पर बैठने के लिये वैरागियों को ललकारा। स्वामी जी का संकेत पाकर कबीर ने नाथ जी से कहा कि चलिए डेरा कीजिए। इसपर नाथ जी ने कहा कि पहले अपने गुरु लोगों को त्रिशूल पर बैठने को कहो, या तुम्हीं बैठो। कबीर ने कहा—'त्रिशूल या बाँस पर तो नट भी बैठ सकते हैं। मैंने आपके लिये अधर पर आसन बिछाया है। आप उसपर बैठ सकेंगे तो मुझे जो आज्ञा देंगे, करूँगा। यह कहकर उन्होंने एक धागे का सिरा धरती में एक कील से लगाकर दूसरा सिरा ऊपर फेंक दिया। ऊपर से शब्द हुआ—'नाथ जी आइए, आसन तैयार है।' नाथ जी हैरान होकर त्रिशूल से नीचे उतर आए।

१०—दक्षिण में तत्वा और जीवा नाम के दो भाई रहते थे। कबीर उनके यहाँ पधारे और दोनों भाइयों ने आदर से उनका चरणोदक लिया। चरणोदक का एक छींटा एक ठूँठ पर पड़ने से वह हरा हो गया। यह देखकर दोनों श्रद्धापूर्वक कबीर के शिष्य हो गए।

११—मृत्यु के पूर्व कबीर मगहर चले गए थे। वीरसिंह बघेला और नवाब बिजली खाँ भी, जो कबीर के शिष्य थे, वहाँ पहुँच गए। दोनों कबीर

के शव के इच्छुक थे—एक जलाना चाहता था, दूसरा गाड़ना। कबीर आमी नदी के तट पर एक संत की कुटी में कुछ कमल और दो चद्दर मँगवाकर लेट गए। दोनों शिष्यों को आज्ञा दी कि मेरे लिये शस्त्र मत चलाना। बाहर से ताला बंद कर दिया गया। फिर एक ध्वनि हुई। कोठरी खोली गई तो केवल चद्दर और फूल ही वहाँ मिले। आधे फूल वीरसिंह ने जलाए, आधे बिजली ने दफनाए।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त कुछ अन्य कथाएँ भी हैं जिनमें मुख्यतः कबीर की करामातों का ही वर्णन है।

रामरसिकावली

महाराज रघुराजसिंह (१९११–३६) के भक्तमाल (रामरसिकावली) में नूरी-नीमा, लहर तालाब, नामकरण, लोई तथा कमाल-कमाली का उल्लेख एकदम नहीं है। जन्म उसमें रामानंद के आशीर्वाद से, विधवा ब्राह्मणी से ही बताया गया है, पर वह उसके गर्भ से न होकर उसकी हथेली से हुआ था। रामानंद के शिष्य होने, कपड़ा बेंचने, गणिका का साथ करने, पंडे का जला पैर ठंडा करने, सिकंदर से दंड पाने तथा गोरखनाथ से वाद और मगहर में मृत्यु होने की घटनाओं का वर्णन थोड़े ही हेरफेर से उसमें भी है। इसके अतिरिक्त उसमें कबीर के जगदीशपुरी जाने, वहाँ से लौटकर बांधवगढ़ में वीरसिंहदेव को सपरिवार शिष्य बनाने, उनके साथ हाथी पर बैठकर शिकार में जाने तथा बघेलवंश का वर्णन करने का भी उल्लेख है।

बघेलवंशागमनिर्देश में, जो रघुराजसिंह के ही समय में उन्हीं की आज्ञा से लिखा गया था, कबीर द्वारा बांधवनरेश राजाराम से बघेलवंश का वर्णन विस्तारपूर्वक कराया गया है। उसमें आरंभ में यह भी उल्लेख है कि कबीर ने मथुरा में धर्मदास को उपदेश दिया, जगन्नाथपुरी में कुबड़ी गाड़कर सिंधु की मर्यादा स्थापित की तथा गुजरात के राजा सुलंक की रानी को उनके

आशीर्वाद से पुत्र हुए। इस ग्रंथ के अनुसार कबीर ने बघेलवंश को बयालीस पीढ़ी अटल राज्य करने का आशीर्वाद दिया था।

प्रियादास

रामरसिकावली में बघेलवंशावली को छोड़कर शेष कबीर की कथा को प्रियादास और नाभादास के अनुसार कथित बताया गया है।* प्रियादास नाभादास के शिष्य थे और उन्हीं की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये उन्होंने इनके भक्तमाल की टीका सं० १७६९ में थी।†

प्रियादास वर्णित कबीर के संक्षिप्त जीवनचरित में मुख्यतः चार घटनाओं का उल्लेख है—

१—कबीर को आकाशवाणी हुई कि तिलक और माला धारण करके रामानंद के पास जाओ और उन्हें अपना गुरु बनाओ। इसके पश्चात्, जैसा प्रसिद्ध है, उन्होंने रामानंद के पथ में लेटकर उनसे रामनाम प्राप्त किया और पीछे रामानंद ने उन्हें शिष्य स्वीकार किया।

२—वेश्या को संग लेने से राजसभा में उनका आदर नहीं हुआ, पर उसी अवसर पर जल गिराकर जगन्नाथ जी के पंडे का जलता पैर ठंडा करने के कारण राजारानी ने उनसे क्षमा माँगी।

---

* और कबीर कथा सुखदाई। प्रियादास नाभा जस गाई॥
सोई मैं वर्णन करौं, संक्षेपहु विस्तार।

† संतकबीर में प्रियादास की टीका का समय सं० १७०२ (सन् १६५५) दिया गया है (प्रस्तावना पृ० ३३), परंतु निम्नलिखित कवित्त में सं० १७६९ ही दिया गया है—

नाभा जू को अभिलाष पूरन लै कियो मैं तो ताकी साखी प्रथम सुनाई नीके गाइ कै।
भक्ति बिसवास जाके ताही को प्रकास कीजै भीजै रंग हियो लाजै तन लड़ाइ कै॥
संवत प्रसिद्ध दस सात सत उन्हत्तर फाल्गुन मास बदी सप्तमी बिताइ कै।
नारायनदास सुखरासि भक्तमाल लैकै प्रियादास दास उर बसौ रहौ छाइ कै॥
(६२३)

३—सुलतान सिकंदर के आने पर विरोधी समूह ने उनकी माता को अपनी ओर मिलाकर उससे उनकी शिकायत की जिससे वे तीन बार दंडित हुए, पर अंत में बच गए। सुलतान उनका प्रभाव देख उनके चरणों पर गिरा।

४—मगहर में फूलों पर लेटकर वे हरि में लीन हुए।

इनके अतिरिक्त उससे यह भी पता चलता है कि कबीर गंभीर तथा सरसहृदय व्यक्ति थे। अपने काम भर को पहले कपड़ा बुनते और बेंचते थे, पर पीछे तनना-बुनना छोड़ दिया था। ब्राह्मण उनसे बहुत द्वेष रखते तथा उन्हें कष्ट देते थे; पर भगवान उनके सहायक थे, इससे शत्रुओं का कोई बस नहीं चलता था।

कबीर के जन्म, परिवार आदि अथवा गोरख से विवाद के संबंध में प्रियादास ने कुछ नहीं लिखा है।

नाभादास और अनंतदास

नाभादास या नारायणदास के प्रसिद्ध भक्तमाल की रचना संवत् १६४२ के बाद हुई। प्रियादास ने यद्यपि उसी की टीका की है परंतु उसमें दिए गए कबीर संबंधी छप्पय में उनके जीवन के विषय में उपर्युक्त किसी घटना का संकेत तक नहीं मिलता।[1] केवल रामानंद संबंधी छप्पय से यह पता चलता है कि कबीर रामानंद के बारह शिष्यों में से थे।[2] फिर प्रियादास ने अन्य घटनाएँ कहाँ से लीं?

१—द्रष्ट० प्रस्तुत ग्रंथ के प्रथम अध्याय के आरंभ में उद्धृत छप्पय।

२—अनंतानंद कबीर सुखा सुरसुरा पद्मावति नरहरि।
पीपा भावानंद रैदास धना सेन सुरसर की घरहरि॥
औरौ शिष्य प्रशिष्य एक तें एक उजागर।
विश्वमंगल आधार सर्वानंद दशधा के आगर॥
बहुत काल बपु धारि कै प्रनत जनन कौं पार दियौ।
श्री रामानंद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जग तरन कियौ॥ (भक्तमाल, ३१)

यह संभव है कि प्रियादास ने कबीर के जीवनवृत्त का संग्रह अपने समय में भक्तों में प्रचलित कथाओं से ही किया हो, परंतु कबीर का सबसे प्राचीन विस्तृत जीवनवृत्त सर्वप्रथम अनंतदास की 'कबीर प्रचई' में मिलता है और उसमें तथा प्रियादास के उल्लेख में जैसी आश्चर्यजनक समानता है उससे प्रतीत होता है कि संभवतः प्रियादास ने उसी का संक्षिप्त रूप अपनी टीका में दिया। उन्होंने मूल घटनाओं में कोई परिवर्तन नहीं किया, परंतु अत्यंत संक्षिप्त होने के कारण उसमें दो एक मुख्य बातें छूट गई हैं। यथा—

१—अनंतदास ने स्पष्ट रूप से कबीर को काशी-निवासी जुलाहा बताया है— **काशी बसै जुलाहा एक।**

२—जिस राजा द्वारा कबीर का अनादर होने की बात प्रियादास ने लिखी है उसका स्पष्ट नाम वीरसिंहदेव बघेल बताया गया है— **बिरसिंह दे बाघेलौ राजा।**

३—कबीर साँवले रंग के स्वरूपवान् व्यक्ति थे और माला-तिलक धारण करते थे—

देह साँवरी मनमथ लाजै। तापर माला तिलक विराजै॥

४—कबीर ने १२० वर्ष की आयु पाई थी—

बालपनौ धोखा में गयो। बीस बरिस तैं चेतन भयो॥
बरिस सऊ लगि कीनी भगती। ता पीछै सो पाई मुकती॥

अनंतदास की ही लिखी रैदास की परचई के अनुसार सेन और रैदास कबीर को गुरु-समान मानते थे। रैदास महत्त्व की बातों में कबीर के ही परामर्श से काम करते थे। जब उनकी शिष्या चित्तौर की झाली रानी ने उन्हें अपने देश में आमंत्रित किया तो उन्होंने कबीर से ही परामर्श और अनुमति लेना आवश्यक समझा—

तब रैदास बिचारी बाता। गुरु समान कबीर बड़ भ्राता॥

और कबीर की अनुमति पाकर वे चित्तौर गए।

पीपा की परचई से पता चलता है कि जब गुरु रामानंद अपने शिष्य गागरोन-नरेश पीपा के यहाँ जाने लगे तो रैदास तथा अन्य चालीस भक्तों सहित कबीर भी उनके साथ गए थे। वहाँ से पीपा को लेकर यह भक्त-मंडली द्वारका गई। फिर पीपा तो वहीं रहे, अन्य सब लोग वहाँ से चलकर तीसरे मास मथुरा पहुँचे और कुछ दिन वहाँ रहकर काशी लौट आए।

अनंतदास नाभादास के समकालीन थे और भक्तों की परचइयाँ उन्होंने संभवतः भक्तमाल के पहले ही संवत् १६४५ के आसपास लिखीं। नामदेव की परचई में उन्होंने उसका संवत् १६४५ में ही लिखा जाना बताया है—

संवत् सोल्है से पैताला। बानी बोलै बचन रसाला॥
अंतरजामी आग्या दीन्ही। दास अनंत कथा करि लीन्ही॥

ये भी नाभादास की भाँति रामानंद की ही शिष्यपरंपरा में थे। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि से उसमें चाहे जो त्रुटियाँ हों, पर भक्त की दृष्टि से उन्होंने भली भाँति छानबीन करके परचइयाँ लिखीं। रैदास की परचई में उन्होंने लिखा है—

बीस बार जब बोलै साषी। तब मैं भगत परचई भाषी॥
आषिर एकौ झूठौ नाहीं।.........

इस दृष्टि से परंपरागत जीवनचरित के लिये अनंतदास लिखित परचइयाँ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रामाण्य मानी जा सकती हैं।

अन्य लेखक

कबीरपंथी ग्रंथों तथा भक्तमालाओं और परचइयों के अतिरिक्त कुछ मुसलमान लेखकों के ग्रंथों में भी कबीर का उल्लेख पाया जाता है। यों तो पादरी वेस्टकाट ने 'खजीनतुल आसफिया', 'सैरुल अकताब', 'मुंतख़बुत्त-वारीख़', 'अख़बारुल अख्यार' और फरिश्ता से कबीर नाम के कम से कम ग्यारह मुसलमान संतों को ढूँढ़ निकाला और यह संदेह प्रकट किया कि कबीर के जीवनचरित-लेखकों ने उनके जीवन के साथ उनके नाम के अन्य

कबीर का हो सकता है, परंतु दोनों की मृत्युतिथियों में २१ वर्ष का अंतर है। कबीर की मृत्यु की परंपरा से प्रसिद्ध सबसे पिछली तिथि संवत् १५७५ है।

मोहसिन फानी लिखित फारसी इतिहास दबिस्ताँ के अनुसार कबीर जुलाहा और 'मुवाहिद' अर्थात् एकेश्वरवादी थे। गुरु की खोज में वे कई हिंदू और मुसलमान संतों से मिले थे और अंत में उन्होंने रामानंद को गुरु स्वीकार किया था।

अबुलफजल के प्रसिद्ध ग्रंथ आईनेअकबरी (संवत् १६५५) के उल्लेख से विदित होता है कि कबीर मुवाहिद थे, हिंदू मुसलमान दोनों उनका आदर करते थे और उनकी मृत्यु के पश्चात् ब्राह्मण उन्हें जलाना तथा मुसलमान दफन करना चाहते थे। वे हिंदी के कवि भी थे।

समीक्षा

उपर्युक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर के जीवनचरित की ऐतिहासिक सामग्री कितनी अपर्याप्त है। ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में हमें परंपरागत कथाओं पर ही अधिक निर्भर रहना पड़ता है और उन्हीं की समीक्षा द्वारा हम किसी निर्णय तक पहुँच सकते हैं। परंतु उनकी समीक्षा के भी समुचित साधन उपलब्ध नहीं हैं। ऐसी अवस्था में जो कुछ भी बाह्य तथा आभ्यंतर प्रमाण हमें उपलब्ध हैं उन्हीं को लेकर हमें जीवनवृत्त पर विचार करना होगा।

जीवनकाल

कबीरपंथ में, जैसा हम पहले देख चुके हैं, कबीर का जन्मकाल सं० १४५५ तथा मृत्युकाल सं० १५०५ या १५७५ प्रसिद्ध है। विद्वानों में कबीर के जीवनकाल के संबंध में बहुत मतभेद है। परंतु यह मतभेद, जैसा कि नीचे की सारणी से विदित होगा, मुख्यतः कबीरपंथ में प्रचलित परंपरागत तिथियों को ही लेकर है।

लेखक	वि० सं०	ई० सन्	आयु
वेस्टकाट	? –१५७५	? –१५१८	×
के	१४९७–१५७५	१४४०–१५१८	७८
हरिऔध और मिश्रबंधु	१४५५–१५५२	१३९८–१४९५	९७
श्यामसुंदरदास रामचंद्र शुक्ल	१४५६–१५७५	१३९९–१५१८	११९
मेकालिफ भंडारकर	१४५५–१५७५	१३९८–१५१८	११९ वर्ष ५ मास २७ दिन
सेन	१४५५–१५०५	१३९८–१४४८	५० वर्ष
बड़थ्वाल	१४२७–१५०५	१३७०–१४४८	७८ ,,
रामकुमार वर्मा	१४५५–१५५१	१३९८–१४९४	९७ ,,

जन्मतिथि के संबंध में प्रचलित पद्य इस प्रकार है—

चौदह सै पचपन साल गए चंद्रवार एक ठाट नए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी तिथि प्रगट भए॥
घन गरजे दामिनि दमके बूँदें बरसें झर लाग गए।
लहर तालाब में कमल खिले तहँ कबीर भानु परकास भए॥[1]

अधिकतर विद्वानों ने जन्म का वर्ष सं० १४५५ ही स्वीकार किया है और यद्यपि इसका किसी इतिहासग्रंथ अथवा कबीर की बानियों में कहीं उल्लेख नहीं है, फिर भी कई कारणों से यही तिथि मान्य ठहरती है। एक तो इसमें वर्ष, मास और तिथि के साथ वार का भी स्पष्ट उल्लेख है जो गणना के अनुसार शुद्ध निकलता है;[2] दूसरे यदि प्रत्यक्ष रूप से नहीं तो परोक्ष रूप से

१—कबीरकसौटी।

२—द्रष्ट० सं० क०, प्रस्तावना, जन्म-तिथि।

अंतःसाक्ष्य द्वारा भी उक्त संवत् का ठीक होना संभव प्रतीत होता है। इतिहास से भी इसका विरोध नहीं।

कबीर की बानियों में उनके जीवनवृत्त संबंधी किसी भी तिथि का कहीं से प्रत्यक्ष संकेत नहीं मिलता, पर कबीर ने अपने पूर्वकालीन अनेक भक्तों का नामोल्लेख किया है जिनमें सबसे पिछले प्रसिद्ध महाराष्ट्र भक्त नामदेव हैं—

सनक सनंदन जैदेव नामा। भगति करी मन उनहुँ न जाना॥
(बानी, पद ३३)

संकरु जागै चरन सेव। कलि जागे नामा जैदेव॥
(बा० प० ३८७; सं० क०, वसंत २)

गुरु परसादी जैदेउ नामां। भगति कै प्रेम इनहीं है जाना॥
(सं० क०, गा० ३६)

इससे यह तो स्पष्ट है कि कबीर का जन्म नामदेव के बाद हुआ।* परंतु अन्य पौराणिक और ऐतिहासिक भक्तों के बीच जिस आदर के साथ उक्त पदों में नामदेव को स्मरण किया गया है उससे विदित होता है कि जब कबीर ने अपने समय के भक्तों से पहले-पहल नामदेव की प्रशंसा सुनी होगी उस समय उनकी गणना प्राचीनों में हो चुकी थी, अर्थात् उनकी मृत्यु को कम से कम ६०–७० वर्ष तो अवश्य बीत चुके थे। नामदेव का जन्म सं० १३२७ और मृत्यु सं० १४०७ प्रसिद्ध है। इसे देखते हुए यह असंभव नहीं जान पड़ता कि कबीर सं० १४७५–७६ के लगभग, कम से कम बीस वर्ष की अवस्था में, उनकी ख्याति से परिचित हुए। इस दृष्टि से यह पूर्ण संभव है कि उनका जन्म संवत् १४५५ में हुआ और जब तक इसके विरुद्ध कोई पुष्ट प्रमाण न मिले, अन्यथा अनुमान अनावश्यक है।

---

* बघेलवंशागमनिर्देश के अनुसार कबीर और नामदेव समकालीन थे तथा कबीर ने नामदेव से परामर्श करके वीरसिंहदेव को दीक्षा दी थी—'हमहुँ जाय तहँ अति सुख भरिकै। नामदेव सों चरचा करिकै॥ राममंत्र भूपति कहँ दीन्हीं। बरबस बस नरेस करि लीन्हीं॥' पर उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि यह शुद्ध कल्पनाजन्य है।

वेस्टकॉट ने कबीर की मृत्यु तो सं० १५७५ में मान ली है, परंतु जन्म के संबंध में उनका कहना है कि कबीर को केवल रामानंद का शिष्य (सम-कालीन) सिद्ध करने के लिये जन्मकाल सं० १४५५ तक पीछे खींच लिया गया है।* परंतु कल्पना के अतिरिक्त इस कथन का कोई दृढ़ आधार नहीं है। अधिक संभव यह है कि रामानंद को कबीर का गुरु मानना अस्वीकार होने के कारण ही उन्हें इस तिथि को स्वीकार करने में बाधा जान पड़ी। कबीर को रामानंद से मिलाने के लिये उनकी जन्मतिथि को सं० १४५५ तक पीछे खींच ले जाना यदि आधुनिक कबीरपंथियों का प्रयत्न समझा जाय तो वह सर्वथा अनावश्यक है। कबीर के रामानंद का शिष्य होने की बात जब सं० १६४५ अर्थात् नाभा और अनंतदास के समय के पूर्व से ही प्रसिद्ध चली आ रही थी तो उनके लिये तो वही अखंड सत्य थी, रामानंद का समय चाहे जो भी रहा हो। दूसरे, जिन लोगों ने (नाभा और अनंतदास) पहले-पहल कबीर को रामानंद का शिष्य लिखा उन्होंने सन्-संवत् का कोई उल्लेख नहीं किया है। अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने ही कबीर को रामा-नंद का शिष्य सिद्ध करने के लिये उनका जन्मकाल सं० १४५५ कल्पित कर लिया होगा।

डा० श्यामसुंदरदास परंपरागत जन्मतिथि को ही सत्य मानते हैं, परंतु गणना से अनुमोदित होने के कारण वे 'चौदह सौ पचपन साल गए' का अर्थ 'सं० १४५५ बीतने पर' अर्थात् संवत् १४५६ करते हैं। परंतु जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पुनर्गणना से संवत् १४५५ ही ठीक आता है।

---

*According to the belief of Kabirpanthis, he was born in 1398 and died in 1518. The latter date is probably correct; the former is probably dictated by a desire to make him contemporaneous with Ramanand who is supposed to have lived in the 14th century —Kabir and the Kabirpanth, p. 3.

डा० एफ० ई० के का भी ऐसा ही विचार है। द्रष्ट० कबीर ऐंड हिज़ फ़ालोवर्स, अ० ३।

मृत्यु की दो तिथियाँ सं० १५०५ और सं० १५७५ प्रसिद्ध हैं; इन दोनों में कौन ठीक है इसकी जाँच का कोई निश्चित उपाय नहीं। कबीर के परंपरागत जीवनवृत्त में केवल एक बात ऐसी है जिसका निश्चित रूप से इतिहास से मेल बैठ जाता है। अनंतदास से लेकर कबीर के सभी जीवन-चरितकार इस बात में एकमत हैं कि जब सुलतान सिकंदर लोदी काशी आया था तो विरोधी हिंदू-मुसलमानों के शिकायत करने पर उसने कबीर को दंडित किया था। इस घटना का संकेत कबीर के पदों से भी मिलता है। पदों में सिकंदर के नाम का उल्लेख नहीं है। एक पद से यह जान पड़ता है कि किसी काजी ने उन्हें हाथी से कुचलवाने की आज्ञा दी थी जिससे वे बच गए।[१] संभवतः वह सिकंदर का ही काजी था। एक दूसरे पद से केवल यह अनुमान मात्र किया जा सकता है कि कबीर को जंजीर में बाँधकर गंगा में डुबा देने का भी प्रयत्न किया गया था, जिससे भगवान ने उनकी रक्षा की।[२]

सिकंदर लोदी का शासन-काल संवत् १५४५ से १५७५ (सन् १४८८-१५१७) प्रसिद्ध है और यह माना जाता है कि सं० १५५३ (सन् १४९६) में वह काशी आया था। उसी अवसर पर उसने कबीर पर लगाए गए आरोपों पर विचार किया होगा होगा। इससे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कबीर सिकंदर लोदी के शासनकाल में सं० १५५३ तक अवश्य जीवित थे। अतः कबीर की मृत्युतिथि सं० १५०५ किसी प्रकार नहीं मानी जा सकती। संवत् १५०५, जैसा हम आगे देखेंगे, हो सकता है रामानंद की मृत्यु-तिथि हो और भ्रमवश वह कबीर की मान ली गई हो।

सं० १५०५ को कबीर की मृत्यु-तिथि सिद्ध करने के लिये डा० फ्यूरर का यह उल्लेख दृढ़ प्रमाण माना जाता है कि नवाब बिजली खाँ ने संवत् १४५० (सं० १५०५) में बस्ती जिले में आमी नदी के किनारे कबीरदास का रौजा

१—बानी, पद ३६५; सं० क०, गौड ४

२—बानी, पद ३४१; सं० क०, भै० १८

बनवाया, जिसका सन् १५६७ में नवाब फिदाई खाँ ने जीर्णोद्धार कराया। इसके अनुसार कबीर का मृत्युकाल सं० १५०७ के पहले ही होना चाहिए। उपर्युक्त रौजे को कबीर का रौजा मानने में कोई विशेष आपत्ति होने का कारण नहीं प्रतीत होता। परंतु जैसा डा० श्यामसुंदरदास का मत है,[1] उक्त उल्लेख किसी दृढ़ प्रमाण पर आधृत नहीं जान पड़ता। अतः उसका निर्माणकाल सं० १५०७ वि० मान्य नहीं हो सकता। इस दृष्टि से भी कबीर की मृत्यु सं० १५०५ में अमान्य है।

अब रही दूसरी तिथि अर्थात् सं० १५७५ बि०। अनंतदास ने कबीर की आयु १२० वर्ष लिखी है, और उस हिसाब से, जन्म सं० १४५५ में मान लेने पर मृत्युकाल संवत् १५७५ ही निकलता है। इसपर यह आपत्ति की जा सकती है कि १२० वर्ष की आयु बहुत अधिक, अविश्वसनीय है। समान्यतया, विशेषकर भारतीयों के स्वास्थ्य की वर्तमान अवस्था के अनुसार, १२० वर्ष की आयु अवश्य अधिक प्रतीत होती है। परंतु आजकल भी १०० वर्ष से अधिक आयुवाले भारतीय अलभ्य नहीं हैं। फिर आज से लगभग ५०० वर्ष पूर्व की अवस्था में एक योगी संत के लिये इतनी आयु अस्वाभाविक कैसे कही जा सकती है? दूसरी आपत्ति इस तिथि पर यह की जाती है कि इसमें वार का उल्लेख न होने से इसकी जाँच नहीं की जा सकती। यह ठीक है कि गणना द्वारा इसकी सत्यता की जाँच नहीं हो सकती, परंतु इसी कारण उसे गलत सिद्ध करने में यह तर्क निस्सार प्रतीत होता है। अतः जब तक इसके विरुद्ध कोई पुष्ट प्रमाण न मिले, मृत्युकाल सं० १५७५ मानने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए।

इस प्रकार कबीर का जीवनकाल सं० १४५५ से १५७५ मानना पड़ता है।

नाम

'कबीर' नाम के संबंध में कहीं से संदेह के लिये अवकाश नहीं है।

१—क० ग्रं०, प्रस्तावना।

भक्तपरंपरा, इतिहास, हिंदी साहित्य तथा साधारण लोक में यह बात इतनी प्रसिद्ध है कि इसे विवाद का विषय बनाना उपहास्य समझा जायगा। हाँ, कभी कभी इस बात पर अवश्य कुतूहल प्रकट किया जाता है कि कबीर 'कबीर साहब' थे या 'कबीर दास' अथवा केवल 'कबीर'। यद्यपि परमात्मा पर किसी नामविशेष का 'लेबुल' लगाने से इनकार करनेवाले तथा स्वयं भी 'नाम बरन कुल खोय' उसी में लीन होने की साधना करनेवाले कबीर के नाम के संबंध में यह प्रश्न भी उनकी दृष्टि से अनुचित ही है, तथापि यह सत्य है कि केवल मुसलमान ही नहीं हिंदू कबीरपंथियों को भी कबीर-दास की अपेक्षा कबीर साहब ही अधिक प्रिय हैं। ऐसा कदाचित् उनके महत्त्व-सूचनार्थ तथा 'दास' शब्द को दासत्व वा हीनता का सूचक समझने के कारण हो, किंतु कबीर की बानियों में उनके नाम के साथ 'साहब' का प्रयोग नहीं मिलता। वहाँ निरपवाद रूप से तो नहीं, पर प्रायः सर्वत्र केवल 'कबीर' (कहै कबीर या कहैं कबीर) नाम आया है, और यदि कहीं उसके साथ जुड़ा भी है तो 'दास' ही, 'साहब' नहीं। यथा—

(१) दास कबीर कहै समुझावै हरि की कृपा जीवै रे।

(बानी, पृ० ३१०)

(२) दास कबीर चढ़े गढ़ ऊपरि राज दियौ अविनासी।

(वही, ३५९)

इसे मैं केवल भक्त का दैन्यसूचक न मानकर उनके पूरे नाम का ही अंग मानता हूँ। संभव है दीक्षा के पश्चात् हिंदू भक्तों के अधिक संसर्ग में आने पर उनके भक्तों के द्वारा ही उन्हें कबीरदास नाम मिला हो, पर हरि के दासत्व का सूचक होने से यह नाम उन्हें अप्रिय न था। 'कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाँव' कहनेवाले कबीर के लिये तो वस्तुतः यही नाम प्रिय रहा होगा। मैं इस विचार से सहमत नहीं हूँ कि 'दास' कबीर की उक्तियाँ कबीर की न होकर 'लोकविशेष-निवासी ईश्वर के उपासकों' की हैं; न 'कहहिं कबीर'

और 'कहैं कबीरा' में अथवा 'कबीर' तथा यत्र-तत्र प्रयुक्त उसके रूपांतरों— 'कबीर', 'कबिरा' आदि—में ही कोई भेद मानता हूँ।*

अकबर, कुबरा, किबरिया नाम कबीर के नामकरण के समय भले ही काजी की किताब में निकले हों, पर यह अच्छा ही हुआ कि उन्होंने काजी को डाँट-फटकार कर अपना नाम केवल कबीर ही रखवाया, अन्यथा किसी और नाम से भी उनकी रचनाएँ मिलतीं ओर गुणग्राहकों की कठिनाई कुछ और बढ़ जाती !

जाति और उद्यम

कबीर जाति के जुलाहा थे, इस बात का उल्लेख उनकी बानियों में असंदिग्ध रूप से पाया जाता है। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

(१) जाति जुलाहा मति कौ धीर। हरषि हरषि गुन रमै कबीर।
(बा० प० १२४)

(२) मेरे राम की अभयपद नगरी कहै कबीर जुलाहा। (१२४)

(३) तू बांभन मैं कासी का जुलाहा चीन्हि न मोर गियाना।(२५०)

(४) दास जुलाहा नाम कबीरा बनि बनि फिरौं उदासी। (२७०)

(५) तिनकूं मुकति का संसा नाहीं कहै जुलाह कबीरा। (३१७)

एक पद में कबीर ने जुलाहा के स्थान पर अपने को कोरी कहा है और एक दूसरे पद में बनजारा भी कहा है—

(१) हरि को नाम अभै पद दाता कहै कबीरा कोरी। (बा० प० ३४६)

---

* कबीरपंथी पंडित श्री विचारदास ने बीजक मे प्रयुक्त कबीर के नाम सकेतो को परंपरा-प्रसिद्ध विशिष्ट अर्थों में संकेतित बतलाया है—(१) हंस कबीर मुक्तात्मा का सूचक है; (२) कहहि कबीर स्वोक्ति (गुरु वचन) का; (३) कहै कबीर (४) कबीर अन्योक्ति (औरों के वचन का अनुवाद) का; (५) दास कबीर लोकविशेष-निवासी ईश्वर के उपासकों का; और (६) कबीरा तथा (७) कबिरन कर्मी अज्ञानी तथा वंचक गुरुओं का बोधक है।

बीजक, भूमिका पृ० ४०

(२) सायर तीर न वार न पारा। कहि समुझावै रे कबीर बणिजारा॥
(२३४)

परंतु ये दोनों शब्द भी उनके जुलाहा होने के विरोधी नहीं हैं। 'कोरी' शब्द तो स्पष्ट ही जुलाहे के पेशे का द्योतक है। कोरी और जुलाहा दोनों जातियाँ कपड़ा बुनती हैं, पर दोनों में अंतर यह है कि जुलाहे मुसलमान होते हैं और कोरी हिंदू। कबीर ने अपने को एक जगह मुसलमान कहकर दूसरे स्थान पर हिंदू क्यों कहा? इसका प्रधान कारण डा० बड़थ्वाल के अनुमान के अनुसार ऊपर की पंक्ति में 'मोरी' के तुक का अनुरोध है। ऊपर की पंक्ति इस प्रकार है—

परिहरि काम राम कहि बौरे सुनि सिख बंधू मोरी।

और तुक के अनुरोध से भी ऐसा लिखना इसलिये संभव हुआ कि कोरी ही मुसलमानी धर्म ग्रहण कर लेने पर जुलाहे हो गए थे और यह धर्म-परिवर्तन हुए थोड़े ही दिन बीते थे। जुलाहे कोरी कहे जाने में अपना निरादर नहीं समझते थे।* यह संभव है कि यहाँ कबीर ने तुक के ही आग्रह से कोरी शब्द का प्रयोग किया हो, परंतु जुलाहे के लिये 'कोरी' अथवा 'कोली' शब्द का प्रयोग उन्होंने अन्यत्र भी किया है—

पाइ बुनै कोली मैं बैठी मैं पूँटा मैं गाड़ी। (बा० प० १०)

कहहिं कबीर करम से जोरी। सूत कुसूत बिनै भल कोरी॥
(बी० र० २८)

इससे यह विदित होता है कि उस समय जुलाहों को लोग कोरी भी कहा करते थे। कबीर के पदों के आधार पर इससे अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता। जुलाहे क्यों कोरी कहलाते थे, इसका वास्तविक कारण भारतीय जातियों की मौलिक खोज से संबद्ध हो सकता है, परंतु आज दिन भी कपड़ा बुनने के अतिरिक्त और कई ऐसे पेशे हैं जिन्हें हिंदू मुसलमान दोनों

---

* बड़थ्वाल : योगप्रवाह, कबीर के कुल का निर्णय।

जातियों के लोग करते हैं और साधारण जनता, जिसे उनकी जाति या मर्यादा से कोई विशेष संबंध नहीं रहता, केवल पेशे के विचार से उनमें प्रायः भेद नहीं किया करती। घोसी (मुसलमान) को ग्वाला (हिंदू) और डोम (हिंदू) को मेहतर (मुसलमान) कहना साधारण बात है। धोबी, नाई आदि जातियों के तो भेदसूचक नाम भी अलग नहीं हैं, उनमें भेद करने के लिये 'हिंदू' और 'तुरकिया' विशेषण लगाने की आवश्यकता पड़ती है। जोगियों, भाटों इत्यादि में हिंदू मुसलमान अलग होते हैं। अतः यह मानना आवश्यक नहीं जान पड़ता कि कबीर जिस जाति में पले थे, वह पहले कोरी थी इस कारण कोरी कहलाने में अपना निरादर नहीं समझती थी। बहुत संभव जान पड़ता है कि दोनों जातियाँ स्वतंत्र रूप से कपड़ा बुनने का व्यवसाय करती थीं और उनसे व्यवहार करनेवाली साधारण जनता दोनों में भेद न कर कभी कभी जुलाहों को भी कोरी कहा करती थी।

'बनजारा' शब्द न तो तुक के अनुरोध से प्रयुक्त हुआ है और न यह कपड़ा बुनने के पेशे का वाचक है। 'बनजारा' का अर्थ है वाणिज्य कर्म करनेवाला, व्यापारी। कबीर ने जुलाहे के स्थान पर जो इसे अपने लिये प्रयुक्त किया है वह कदाचित् इसलिये कि जुलाहे अपने हाथ से कपड़ा बुनकर उसे निकटस्थ अथवा दिसावर के भी बाजारों में स्वयं बेंच भी दिया करते हैं। जिन पदों[1] में कबीर ने इस शब्द का प्रयोग किया है, उनमें रामनाम या सहज सामान के ही व्यापार का वर्णन किया है, कपड़े के व्यवसाय का नहीं। परंतु जिस प्रकार इसका विशेषण रूप में प्रत्यक्ष प्रयोग हुआ है उससे यह नहीं कहा जा सकता कि केवल रूपक के प्रसंग से ही इसका प्रयोग किया गया है, कबीर के व्यवसाय का इससे कोई संबंध नहीं; क्योंकि जुलाहा-कर्म विषयक पदों[2] में भी भक्ति, योग आदि संबंधी बातों का ही वर्णन है, उनके अपने

१—बा० प० २३४,२९१,३६७,३८३; बी० र० ४

२—बा० प० २०,५०,१९३,२८८ आदि।

व्यवसाय का नहीं; फिर भी उनमें जुलाहा शब्द स्पष्ट रूप से उनकी जाति का ही सूचक है।*

ऐसा विदित होता है कि कबीर के समय में भी जुलाहा जाति का सामाजिक मान बहुत नीचे स्तर का था। कबीर ने एक स्थान पर अपनी जाति को 'कमीना' भी लिखा है, अन्यत्र उसे लोगों द्वारा उपहसित बताया है।

> आइ हमारे कहा करौगी हम तौ जाति कमीना। बा० प० २७०
> कबीर मेरी जाति को सब कोइ हँसने हारु। सं० क०, स० ११९

इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि कबीर स्वयं अपनी जाति को कमीना और हँसने योग्य समझते थे, क्योंकि अन्यत्र अनेक स्थलों पर जिस गौरव के साथ उन्होंने अपने जुलाहा होने की घोषणा की है उससे अपनी जाति के प्रति उनके लज्जा, तुच्छता या निरादर के भाव का लेशमात्र भी संकेत नहीं मिलता। जो कबीर मनुष्यमात्र को मनुष्य होने के नाते समान समझते थे और जो अपने

---

*यहाँ कबीर के निम्नलिखित पद को लेकर कोई यह तर्क उपस्थित करे कि कबीर ने अपने को कुम्हार, धोबी, चमार, तेली, क्षत्री, नाऊ, अवधूत, बढई, वधिक, बनजारा, जुआरी, केवट सब एक साँस मे कह डाला—तो क्या उपाय है?

> आवध राम सबै करम करिहूं सहज समाधि न जम थै डरिहूं॥
> कुभरा ह्वै करि बासन घरिहूं धोबी ह्वै मल धोऊं।
> चमरा ह्वै करि रंगौ अधौरी जाति पांति कुल खोऊ॥
> तेली ह्वै तन कोल्हू करिहौ पाप पुंनि दोउ पीरौं।
> पंच बैल जब सूध चलाऊं राम जेवरिया जोरूं॥
> छत्री ह्वै करि खड़ग संभालूं जोग जुगति दोउ साधूं।
> नउवा ह्वै करि मन कूं मूंडूं बाढ़ी ह्वै कर्म बाढ़ूं॥
> अवधू ह्वै करि यह तन धूतौं बधिक ह्वै मन मारूं।
> बनिजारा ह्वै तत कूं बनिजूं जुवारी ह्वै जम हारूं॥
> तन करि नौका मन करि खेवट रसना करन बनारूं।
> कहि कबीर भौसागर तिरिहूं आप तिरू बप तारूं॥
>
> —बा० प० ३८९

को ऊँचा कहनेवालों के पाखंड की पोल खोलने को सदा उद्यत रहते थे, वे अपनी ही जाति को छोटा कैसे समझ सकते थे ? पर यह स्पष्ट है कि समाज में अन्य लोग इस जाति को कमीना और तुच्छ समझते थे। उक्त उद्धरणों में दूसरों की ही भावना को नम्रता के व्याज से स्वीकार कर वस्तुतः कबीर उस भावना के प्रति अपनी विरोधपूर्ण उपेक्षा प्रकट कर रहे हैं। दूसरे लोगों की इस जाति के प्रति ऐसी भावना क्यों थी ? क्या कपड़ा बुनने के पेशे को छोटा समझने के कारण ? पहले तो यह पेशा किसी प्रकार इतना छोटा समझा जाने योग्य नहीं; दूसरे पेशा छोटा भी हो तो उसके कारण किसी को न कमीना कहा जाता, न उसमें हँसने की कोई बात होती। इस अपमान के दो ही कारण हो सकते हैं—या तो रक्तसांकर्य अथवा धर्म-परिवर्तन। जैसा श्री क्षितिमोहन सेन, डा० बड़थ्वाल तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है, यह सर्वथा संभव है कि कबीर जिस जुलाहा जाति के थे उसने बहुत थोड़े दिन पहले इसलाम धर्म ग्रहण किया हो; और इसलाम ग्रहण करने का अनिवार्य अर्थ यवन रक्त से भी संबंध करना होता ही है, चाहे वह कारण रूप में हो अथवा परिणाम रूप में। जुलाहा जाति की तत्कालीन हीनता दोनों ही कारणों से संभव है। परंतु महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इस जुलाहा जाति का पूर्व रूप क्या था। इसका निश्चय करने की ओर इधर कुछ विद्वानों की विशेष रुचि रही है। कारण यह है कि कबीर में एक ओर तो ज्ञान, भक्ति, योग इत्यादि संबंधी हिंदू विचार और दूसरी ओर जाति-भेद, अवतारवाद और मूर्तिपूजा में अनास्था तथा प्रेमभक्ति आदि हिंदू-विरोधी कहे जानेवाले और मुसलमान सूफियों से मिलते-जुलते संस्कार बुद्धि को चक्कर को डालनेवाले हैं। उनके जातिगत संस्कारों का पता लगाकर उनके भिन्न-भिन्न परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले विचारों को समन्वित रूप में समझने का मार्ग सरल बनाने का प्रयत्न किया जाता है।

कबीर में हिंदू विचारों की प्रधानता माननेवाले अधिकांश विद्वानों ने उन्हें जन्म से हिंदू माना है, अर्थात् इस विश्वास को स्वीकार किया है कि वे

ब्राह्मणी से उत्पन्न होकर जुलाहा कुल में पालित हुए थे। उनमें मुसलमानी संस्कारों की मुख्यता पाकर वेस्टकॉट प्रभृति लेखकों ने उन्हें जन्म से मुसलमान माना है। स्वर्गीय डा० बड़थ्वाल ने उनपर योगमार्ग का भी बहुत अधिक प्रभाव देखकर यह सिद्ध करने का यत्न किया कि कबीर जिस जुलाहा-कुल के थे वह पहले कोरियों की जाति थी जिसपर योगमार्ग और गोरखनाथ का बड़ा प्रभाव था। डा० हजारीप्रसाद के मत से वह नवधर्मांतरित जुलाहा जाति पहले उन वर्णाश्रम और अवतारवाद में अनास्था रखनेवाले, निराकार-पूजक, नाथपंथी, आश्रमभ्रष्ट तथा वयनजीवी घरबारियों की जोगी नामक जाति थी जिन्होंने थोड़े ही दिन पूर्व सामूहिक रूप से धर्म-परिवर्तन किया था। ऐसी ही जाति में पलने के कारण कबीर ने इसके अधिकांश पूर्व संस्कारों को ग्रहण किया था और वे अपने को बेलाग ना-हिंदू-ना-मुसलमान कह सके थे।

युक्तियों और प्रमाणों से पुष्ट होने के कारण इस मत को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि कबीर की जाति पहले उपर्युक्त जोगियों की जाति रही होगी। परंतु जहाँ तक कबीर के विचारों का संबंध है, मेरे विचार से उनका समन्वय उस भक्तिमार्ग में ही निहित था जिसे बाल्यावस्था में ग्रहण कर वे अंत तक उसी की साधना में लगे रहे। अवश्य ही हिंदू मुसलमान दोनों से तटस्थ रहने में उनकी दृढ़ता, करनीहीन आचारों तथा भक्तिविरोधी सिद्धांतों को प्रथम आघात में ही चित कर देने की उनकी क्षमता, तथा योग संबंधी बातों में उनका सहज प्रवेश उनके जातीय संस्कारों की देन हो सकते हैं। परंतु यदि ऐसा मानें तो इस देन को बाल्यावस्था में ग्रहण किए हुए संस्कारों की उनके मानस में व्याप्त एक अज्ञात और अस्पष्ट अंतर्धारा के रूप में ही मानना पड़ेगा। उनकी परस्पर-विरोधी उक्तियों का समाधान वा उनकी भक्ति का मूल उसमें ढूँढ़ना आवश्यक नहीं। इस धारा से जिस बीज को उन्होंने गुरुकृपा से अंकुरित और पल्लवित किया उसमें उनके सभी विचार तत्त्वरूप में वर्तमान थे।

कबीर के संस्कारों को उनके रक्तगत मानने के मैं विशेष पक्ष में नहीं हूँ, पर यदि उन्हें रक्तगत मान भी लिया जाय तो इस बात का अंतिम निर्णय करने का कोई उपाय नहीं है कि उनके माता-पिता कौन थे। अवश्य ही जब रैदास और अनंतदास तथा अन्य संतों की उक्तियाँ कबीर के कुल को स्पष्टतः मुसलमान बतलाती हैं* और कबीर भी अपने को जुलाहा बतलाते हैं तो यह मानना स्वाभाविक है कि उनके मातापिता मुसलमान थे। परंतु जब कबीरपंथी लोग तथा अनेक आधुनिक विद्वान् उन्हें जुलाहा-कुल में पालित मानते हुए भी ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न मानते हैं तो उपर्युक्त संतों की उक्तियों से इसका विरोध भी नहीं किया जा सकता। स्वयं कबीर की उक्तियों के संबंध में भी यही बात है। उनमें यदि उन्हें जन्म से मुसलमान सिद्ध करनेवाली उक्तियाँ ढूँढ़ी जायँ तो उन्हें हिंदू सिद्ध करनेवाली उक्तियाँ इनसे कहीं अधिक मिलेंगी। इस प्रकार की उक्तियों से

(१) जाका बासा गोर मैं सो क्यूं सोवै नचिंत।
(२) काल परयूं भुइं लेटना ऊपरि जामैं घास।
(३) हमारे कुल कौने राम कह्यो।

कबीर अधिक से अधिक मुसलमान कुल में पालित ही माने जा सकते हैं। सच बात तो यह है कि ऐसी उक्तियों से उनके कुल का अनुमान करना ही भ्रामक हो सकता है, परंतु यदि ऐसा किया जाय तो यही निष्कर्ष निकालना पड़ेगा कि वे जन्म से हिंदू थे, क्योंकि हिंदू प्रथाओं और आचार-विचारों का उल्लेख अधिक स्पष्ट रूप में मिलता है—

---

* (१) जाकै ईदि बकरीदि कुल गउ रे बधु करहिं मानियहि सेख सहीद पीरा।
जाके बाप ऐसी करी पूत ऐसी सरी तिहू रे लोक परसिध कबीरा॥
—रैदास

(२) नाम छीबा कबीर जुलाहा पूरे गुर ते गति पाई।
—नानक

(१) देखहु यहु तन जरता है ।
घड़ी पहर बिलंबौ रे भाई जरता है । —ग्रा० प० १४

(२) टेढ़ी पाग बड़ जूरा, जरि भए भसम कौ कूरा । —१९४

(३) अब तौ जरें बरें बनि आवै लीन्हों हाथ सिंधोरा । —१२९

'पिता हमारो बड गोसाईं' वाले पद (सं० क०, आसा ३) के अनुसार कबीर के पिता को कोई बड़ा गोसाईं मानने का विचार भी, जैसा पहले दिखाया जा चुका है, असंदिग्ध नहीं है (पीछे पृ० २४४) । अतः निष्कर्ष रूप में हमें निश्चित रूप से इतना ही मानकर संतोष करना पड़ता है कि कबीर मुसलमान जुलाहा जाति के थे, चाहे वे उस जाति में केवल पालित हुए हों अथवा उसी में उनका जन्म भी हुआ हो ।

दीक्षा

कबीरपंथियों की परंपरा इस बात में एकमत है कि कबीर ने गुरु रामानंद से दीक्षा पाई थी । जो लोग उन्हें सूफी धर्म में दीक्षित तथा शेख तकी का शिष्य मानते हैं वे अवश्य ही उनकी साधनापद्धति का वास्तविक ज्ञान ऊपर ऊपर से भी प्राप्त नहीं कर सके हैं । कबीर की साधनापद्धति की भारतीयता के कारण अधिकांश विद्वान् परंपरागत मत का ही समर्थन करते हैं, अर्थात् वे रामानंद को कबीर का गुरु मानते हैं । कबीर ने किस प्रकार रामानंद को अपना गुरु बनाया, इस संबंध में प्रचलित कथा का उल्लेख पहले किया जा चुका है ।

कबीर की कुछ प्रचलित साखियाँ भी इस बात का समर्थन करती हैं कि रामानंद उनके गुरु थे—

(१) भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाए रामानंद ।
कबीर ने परगट करी, सात दीप नव खंड ॥
(सा० ग्रं०, पृ० १०७, दो० १

(३) सतगुर के परताप ते, मिटि गए सब दुख द्वंद ।
कहै कबीर दुविधा मिटी, जब (गुरु) मिलिया रामानंद ॥ (दो० ९)

(३) कबीर रामानंद का, सतगुर मिले सहाय ।
जग में जुगति अनूप है, सोई दई बताय ॥ (दो० ८)

आलोच्य ग्रंथत्रय में रामानंद नाम केवल एक बार बीजक में आया है—

रामानंद रामरस माते । कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके ॥
(बी० श० ७७)

यदि हम टीकाकारों के अनुसार रामानंद का अर्थ यहाँ गुरु रामानंद न मानकर 'केवल रामनाम के उपासक रामानंद-जन' मान लें,* तो कहना होगा कि तीनों ग्रंथों में रामानंद का संकेत कहीं नहीं मिलता। परंतु इन ग्रंथों में रामानंद के उल्लेख का अभाव रामानंद को कबीर का गुरु मानने में बाधक नहीं हो सकता। जैसे अपने माता, पिता, कुल आदि के संबंध में कबीर ने स्पष्ट कुछ नहीं लिखा वैसे ही यदि गुरु का भी नामोल्लेख नहीं किया तो आश्चर्य क्या ? कबीर की भक्ति के प्रसंग में यह दिखाया जा चुका है (अध्याय ६) कि वे संस्कार और साधना से सोलह आने भारतीय और हिंदू हैं। मुसलमान कुल में पलकर भी हिंदू गुरु के प्रभाव से ही ऐसा होना संभव है। वे गुरु कौन रहे होंगे, इसका उत्तर परंपरा से मिल जाता है। नाभा जी की साखी भी स्पष्ट रूप से यही बतलाती है।† परंतु कठिनाई रामानंद के समय के संबंध में है।

रामानंद की मृत्यु सं० १४६७ वि० में मानी जाती है। ऐसा मानने से उनकी मृत्यु के समय कबीर की अवस्था अधिक से अधिक ११-१२ वर्ष

* द्रष्ट० उक्त शब्द पर विचार दास की टीका। प्रस्तुत लेखक के विचार से, जो लोग रामानंद को रामभक्त न समझकर केवल शास्त्रज्ञ, योगी अथवा अन्य किसी सिद्धांत का पंडित समझते थे, उक्त पद में उन्हीं लोगों को कबीर का उत्तर है।

†—पीछे पृ० ३१३, पा० टि० २

ठहरती है। इतनी कम अवस्था में कबीर का ज्ञानपूर्वक उनसे दीक्षा लेना अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है और गुरु के संस्कार और प्रभाव को ग्रहण करने के लिये उन्हें अत्यल्प अवसर भी नहीं मिलता। डा० श्यामसुंदरदास का कथन है कि संभव है रामानंद कबीर के मानस गुरु रहे हों। कबीर ने गुरु से ज्ञान पाने का बारबार जिस प्रकार वर्णन किया और उस ज्ञान को उन्होंने जिस प्रकार दृढ़ता से अपनाया है उससे यह संभावना प्रतीत होती है कि वे अपने गुरु के साथ पर्याप्त समय तक रहे होंगे।

रामानंद के समय-निर्धारण के लिये ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में कबीर की अपेक्षा भी अधिक अनुमान से काम लेना पड़ता है। यह माना जाता है कि रामानंद जी श्रीरामानुजाचार्य की शिष्यपरंपरा में थे। कुछ लोगों ने उन्हें उनकी पाँचवीं पीढ़ी में और कुछ ने चौदहवीं पीढ़ी में माना है। रामानुजाचार्य की मृत्यु सं० ११९४ वि० में हुई। यदि रामानंद की मृत्यु सं० १४६७ में मानी जाय तो दोनों की मृत्यु के बीच २७३ वर्ष का अंतर पड़ता है। चार पीढ़ियों में इतना समय (औसत ६९ वर्ष) व्यतीत होना संभव नहीं जान पड़ता। इसके लिये अधिक से अधिक १२० वर्ष पर्याप्त हैं। इस हिसाब से रामानंद जी की मृत्यु लगभग १३१३ वि० में ठहरती है। और यदि उन्हें चौदहवीं पीढ़ी में मानें तथा प्रत्येक पीढ़ी के लिये साधारणतः २५ वर्ष औसत रख लें, तो लगभग १५१९ वि० (११९४+३२५=१५१९) तक उनका रहना निश्चित होता है। ये दोनों ही समय— सं० १३१३ और सं०—१५१९ सं० १४६७ से बहुत दूर हैं। अब हम देखें कि इनमें किसके सत्य होने की संभावना अधिक है।

कबीर के परचई लेखक अनंतदास स्वामी रामानंद की ही शिष्य परंपरा में हो गए हैं, इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं किया है। पीपा की परचई में उन्होंने लिखा है—

रामानंद के अनंतानंदू। सदा प्रगट ज्यों पूरन चंदू ॥
ताको अगर आगरै प्रेमू। लै निबह्यौ सुमिमरन कौ ने ॥

अगर की सीख विनोदी पाई। ताकौ दास अनंतहि आई॥

इसमें प्रतिलिपिकार की भूल से अवश्य एक चौपाई बीच में छूट गई है, क्योंकि यह अत्यंत प्रसिद्ध बात है कि अनंतानंद के शिष्य कृष्णदास पयहारी(गलतांवाले) थे जो अग्रदास के गुरु थे। इस प्रकार यह गुरु-शिष्य-परंपरा यों होनी चाहिए— रामानंद-अनंतानंद-कृष्णदास-अग्रदास-विनोदी-अनंतदास। अनंतदास रामानंद से छठीं पीढ़ी में हुए। ये सं० १६४५ तक तो अवश्य वर्तमान थे। मोटे तौर पर अनंतदास तक पाँच पीढ़ियों के लिये १२५ वर्ष का समय रखा जाय तो अनंतदास के समय में से इसे निकाल देने पर रामानंद जी का समय (१६४५-१२५) सं० १५२० तक ठहरता है। इस प्रकार चाहे रामानुज से नीचे चौदहवीं पीढ़ी तक देखें चाहे अनंतदास से ऊपर छठी पीढ़ी तक देखें, दोनों प्रकार से रामानंद जी का समय सं० १५१९-२० तक आता है। परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि यह एक मोटा हिसाब है और १०-१५ वर्ष आगे-पीछे होना सर्वथा संभव है। इस अनुमान से कबीर की जो एक मृत्यु-तिथि सं० १५०५ प्रसिद्ध है, वह कबीर की न होकर रामानंद की ही मृत्यु-तिथि हो सकती है। ऐसा मान लेने पर यह मानना सरल हो जाता है कि कबीर की दीक्षा सं० १४७५-७६ के लगभग हुई और उसके बाद वे सं० १५०५ तक लगभग ३० वर्ष गुरु के साथ रहे।

परिवार

परंपरा के अनुसार यह माना जाता है कि कबीर के परिवार में उनके अतिरिक्त पाँच प्राणी और थे—नूरी (पिता), नीमा (माता), लोई (पत्नी या शिष्या), कमाल और कमाली (शिष्य-शिष्या या संतान)। सांप्रदायिक कथाओं में नूरी के, शिशु कबीर को लहर तालाब में से अपने घर ले जाने के अतिरिक्त और कहीं कबीर के पिता की चर्चा नहीं पाई जाती। पर माता के संबंध में यह कहा जाता है कि वह कबीर से रुष्ट रहा करती थी, यहाँ तक कि सिकंदर लोदी से कबीर को दंड दिलाने में वह विरोधी दलों से मिल गई थी। कबीर की बानियों में

यही नहीं कि केवल नूरी नाम का ही अभाव है, वरं पिता के संबंध में कोई उल्लेख ही नहीं पाया जाता। जिस एक पद[1] के आधार पर कबीर के पिता बड़े गुसाईं, परम कृपालु और उन्हें सब प्रकार का सुख देनेवाले बताए गए हैं उसमें हम देख चुके हैं पिता शब्द का प्रयोग परमपिता परमात्मा के लिये हुआ है।[2] माता के नाम का तो उल्लेख कहीं नहीं पाया जाता, पर ऐसे कई पद हैं जो कबीर के प्रति उनकी माता के व्यवहार के सूचक जान पड़ते पड़ते हैं। परंतु उनमें भी आध्यात्मिक अर्थ की प्रतीति होने के कारण सबको निश्चयपूर्वक माता का सूचक नहीं माना जा सकता।

मुसि मुसि रोवै कबीर की माई।
ए बारिक कैसे जीवहि रघुराई॥ (सं० क०, गू० २)

से यह समझा जाता है कि भजन में अधिक लीन रहने के कारण ताने-बाने का काम छोड़ देने से कबीर के बाल-बच्चों को खाने-पीने का कष्ट होता था, इससे कबीर की माता दुःखी रहती थीं और कबीर भगवान का भरोसा दिलाकर उनका परितोष किया करते थे। परंतु उक्त पद 'कबीर की बानी' में इस प्रकार है—

तनना बुनना तज्या कबीर। रामनाम लिखि लिया सरीर॥
जब लग भरौं नली का बेह। तब लग टूटै राम सनेह॥
ठाढ़ी रोवै कबीर की माइ। ए लरिका क्यूँ जीवैं खुदाइ॥
कहहिं कबीर सुनहु री माई। पूरनहारा त्रिभुवन राई॥
(बा० प० २१)

और इसके सांप्रदायिक अर्थ के अनुसार इसमें कबीर की माता या बच्चों का उल्लेख नहीं है। यहाँ 'माई' का अर्थ 'माया' और 'लरिका' का 'इंद्रियाँ' है। 'नली का बेह' भरने से तात्पर्य है काया के छिद्रों अर्थात् इंद्रियों को विषयों में लगाना और तनना-बुनना छोड़ने का अर्थ है सांसारिक वासनापूर्ण

१—सं० क०, आसा ३ २—पीछे पृ० २४४

कर्मों का त्याग। कबीर की प्रवृत्ति से परिचित व्यक्ति को यह अर्थ मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती। फिर भी यह मानना अनुचित नहीं जान पड़ता कि प्रधानतः लौकिक अर्थपरक न होने पर भी ऐसी उक्तियों की प्रेरक कबीर की लौकिक परिस्थिति भी गौण रूप से अवश्य है। कबीर का भगवद्भक्ति में तो चित्त लगा ही रहता था, पर वे धंधा छोड़कर दान या भिक्षा के भरोसे पड़े रहने के पक्षपाती नहीं थे, परंतु निर्वाह से अधिक उपार्जन कर अर्थसंचय करना भी उनके विचारों के विरुद्ध था। यह भी असंभव नहीं कि इससे कभी कभी परिवार को कष्ट होता रहा हो, अथवा भविष्य की ही चिंता से उन्हें माता का उलाहना सुनना पड़ता रहा हो। ऐसे अवसरों पर मस्त और बेफिक्र कबीर की व्यंग और श्लेष में बोलने की प्रवृत्ति जाग पड़ती थी जो तुरंत आध्यात्मिक जीवन का चित्र खड़ा कर लौकिक परिस्थिति को उपेक्ष्य बना देती थी। यही बात 'मुई मेरी माई हौं खरा सुखाला' के संबंध में भी कही जा सकती है। यद्यपि पद के प्रकरण के अनुसार यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि माता की मृत्यु से कबीर बड़े सुखी हुए, परंतु इस पद के बिना भी सांसारिक माया से निर्द्वंद्व रहनेवाले कबीर के संबंध में यह अनुमान करने में कोई बाधा नहीं है कि अपनी माता की मृत्यु से वे बहुत दुःखी भी नहीं हुए होंगे। अतः यह असंभव नहीं है कि उनकी माता की मृत्यु पर लोग उन्हें दुःखी समझकर शोक प्रकट करते रहे हों, उसी अवसर पर वे श्लेष में बोल उठे हों—'चलो, माई (माया) मरी, मैं तो बड़ा सुखी हो गया।'

आदिग्रंथ के संग्रह में एक पद[१] अवश्य ऐसा है जिसमें यद्यपि माता का

१—नित उठि कोरी गागरि आनै लीपत जीउ गइओ।
ताना बाना कछू न सूझै हरि हरि रसि लपटिओ ॥
हमारे कुल कउने रामु कहिओ।
जब की माला लई निपूते तब ते सुखु न भइओ ॥
घर के देवपितर की छोडी गुरु को सबदु लइओ। (सं० क०, वि० ४)

यह पद धर्मदास के नाम से भी इसी रूप में प्रसिद्ध है (कबीरकसौटी, पृ० १३)।

स्पष्ट उल्लेख नहीं है, पर जिसमें स्पष्ट रूप से कबीर के प्रति माता का उपालंभ माना जा सकता है। इसके अनुसार कबीर के तानाबाना छोड़कर रामभजन तथा संतों के आदर-सत्कार में लगे रहने एवं माला ग्रहण कर घर के देव-पितर की उपेक्षा करके गुरु का शब्द ग्रहण करने के कारण उनकी माता उनसे बहुत रुष्ट हो गई थी। आसा ३३ में भी अंतिम पंक्ति 'कहतु कबीर सुनहु मेरी माई' में कबीर ने अपनी माता को ही संबोधित किया है।

जहाँ तक कबीर की पत्नी और संतान का संबंध है, कबीरपंथी लोग कबीर को गृहस्थ नहीं मानते, अतः उनकी दृष्टि से पत्नी और संतान का प्रश्न ही नहीं उठता। परंतु ग्रंथ साहब में एक दोहा ऐसा है जिससे पता चलता है कि कमाल उनका पुत्र था और उसका मार्ग कबीर से बिलकुल भिन्न था—

बूड़ा बंस कबीर का, उपजिओ पूतु कमालु।

—सं० क०, स० ११५

कमाली का उल्लेख बानियों में कहीं नहीं मिलता, पर उपर्युक्त दोहे से यह तो मानना ही पड़ता है कि उनकी पत्नी भी अवश्य थी, चाहे उसका नाम जो भी रहा हो।

आदिग्रंथ (सं० क०, गौं० ६) में लोई का उल्लेख हुआ है और उससे जान पड़ता है कि वह उनकी स्त्री ही थी तथा उसके संतान भी थी। कबीर के तनने-बुनने की उपेक्षा करने और साधुसेवा में लगे रहने से वह भी असंतुष्ट रहती थी।* कबीर के पदों में 'लोई' शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है।

---

* तूटे तागे निखुटी पानि। दुआर ऊपर झिलकावहि कान।
कूच बिचारे फूए फाल। या मुंडिआ सिर चढ़िबो काल॥
इहु मुंडिआ सगलो द्रबु खोई। आवत जात नाक सर होई॥
तुरी नारि की छोड़ी बाता। राम नाम वाका मनु राता॥
लरकी लरिकन खैबो नाहिं। मुंडिआ अनदिनु धापे जाहि॥
इक दुइ मंदरि इक दुइ बाट। हमकउ साथरु उन्हकउ खाट॥

एक स्थल पर इसका प्रचलित अर्थ कंबल है—लीर लीर लोई थई, तऊ न छाँड़ै रंग (बा० सा० २६।३)। अन्यत्र इसका प्रयोग 'लोग' (लोक 7 लोग 7 लोय 7 लोइ या लोई) के अर्थ में पुल्लिग में हुआ है—

१—माया मोह धन जोवना, इन बंधे सब लोइ।—क० ग्रं०, पृ० २२९
२— बे अकली अकलि न जानहीं, भूले फिरैं ए लोइ। ,, २३९
३—रंग न चीन्हैं मूरख लोई। जिहि रंगि रंग रह्या सब कोई॥

—बा० प० २६

४—ज्यूं खर सूं खर बंधिया, यूं बंधे सब लोइ। —वही, १८१
५—सरग के पथि जात सब लोई। सिर धरि पोट न पहुँच्या कोई॥२३९
६—का नट भेष भगवा बस्तर, भसम लगावै लोई। २४६
७—माया मोह भूले सब लोई। क्यंचित लाभ मानिक दियौ सोई॥

—क० ग्रं०, पृ० २३३

८—भरम करम दोउ बरतैं लोई। इनका चरित न जान कोई॥

—वही, पृ० २३६

इतने उदाहरणों को देखते हुए निम्नलिखित स्थलों में भी 'लोई' का अर्थ 'कबीर की स्त्री' करना ठीक नहीं जान पड़ता, यहाँ भी उसका अर्थ 'लोग' ही है—

कहत कबीर सुनहु रे लोई। हरि बिन राखनहार न कोई॥

—बा० प० १५

कहत कबीर सुनहु रे लोई। हम तुम बिनसि रहैगा सोई॥ १०३
कहत कबीर सुनहु रे लोई। भानण घड़ण संवारण सोई॥ २७३

मूंड पलोसि कमर बधि पोथी। हम कउ चाबनु उनकउ रोटी॥
मुंडिआ मुंडिआ हूए एक। ए मुंडिआ बूडत की टेक॥
सुनि अंधली लोई बेपीर। इन्हि मुंडिअन भजि सरनि कबीर॥

—सं० क०, गौं० ६

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर कबीर की स्त्री का नाम 'लोई' असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता। परंतु आदिग्रंथ के उपर्युक्त पद में विषय के प्रसंग तथा उसके स्त्रीवाचक 'अंधली' विशेषण के कारण 'लोई' का अर्थ 'कंबल' या 'लोग' नहीं, कोई नाम ही जान पड़ता है।

आदिग्रंथ में एक दूसरा पद है—

मेरी बहुरीआ को धनीआ नाउ। ले राखिओ राम जनीआ नाउ॥
इन्ह मुंडीअन मेरा घरु धुंधरावा। बिठवहि राम रमऊआ लावा॥
कहतु कबीर सुनहु मेरी माई। इन मुंडीअन मेरी जाति गवाई॥[१]

इससे कबीर की स्त्री का नाम 'धनिया' जान पड़ता है। इसपर डा० रामकुमार वर्मा का यह अनुमान साधार प्रतीत होता है कि संभवतः कबीर की दो स्त्रियाँ थीं—पहली लोई और दूसरी धनिया। यह भी संभव है कि साधुओं की सेवा में यह कबीर का विरोध न कर उनकी सहायता करती थी और इसी से उसे 'रामजनिया' अर्थात् राम की भक्त (वेश्या नहीं) नाम मिला था। और यह भी असंभव नहीं जान पड़ता कि इसी 'रामजनिया' का दूसरा अर्थ वेश्या ग्रहण करने के कारण कबीर के वेश्या के साथ वीरसिंह बघेला के यहाँ जाने की कथा चल पड़ी हो।

कबीर की दो स्त्रियाँ होने का समर्थन निम्नलिखित पद से किया जा सकता है—

भरी सरी[२] मुई मेरी पहिली बरी।
जुगु जुगु जीवउ मेरी अब की धरी॥

१—आसा ३३; इस पद मे 'मेरी बहुरीआ' आदि उक्ति को लेखक कबीर की न मानकर उनकी माता की मानता है और 'बिटवा' का अर्थ कमाल नहीं, कबीर ही समझता है।

२—इस पद में 'सरी' का अर्थ 'सड़ी हुई' ठीक नहीं है जैसा संत-कबीर (परिशिष्ट आ० ३२) में किया गया है; 'भली सरी' का अर्थ है 'अच्छा हुआ'।

कहु कबीर जब लहुरी आई बड़ी का सुहाग टरिओ।
लहुरी संगि भई अब मेरै जेठी अउरु धरिओ॥
(सं० क०, आसा ३२)

और यह कहा जा सकता है कि पहली कबीर को अप्रिय थी और उसके मर जाने पर दूसरी अनुकूल स्त्री पाकर वे प्रसन्न हुए थे। परंतु इस पद में पहली से तात्पर्य 'कुमति' और दूसरी (अबकी धरी) से 'सुमति' है, इसका समर्थन अन्य पदों से होता है। यथा—

अबकी धरी मेरो घर करसी।
साध संगति लै मोकौं तिरसी॥
पहली को घाल्यो भरमत डोल्यो, सचु कबहूँ नहिं पायौ।
अबकी धरनि धरी जा दिन थैं सगलौ भरम गवाँयौ॥
पहली नारि सदा कुलवंती सासू सुसरा मानै।
देवर जेठ सबनि की प्यारी पिय कौ मरम न जानै॥
अबकी धरनि धरी जा दिन थैं पिय सू बानक बन्यूँ रे।
कहै कबीर भाग बपुरी कौ आइरु राम सुन्यूँ रे॥

—बा० प० २२९

इस पद में 'सासू' का सांप्रदायिक अर्थ 'खोटी सुरति', 'सुसरा' का 'संशय', 'देवर' का 'काम' और 'जेठ' का 'जरा' है। अब यह अपनी अपनी रुचि है कि हम ऐसे पदों में आए हुए कुल-संबंध सूचक शब्दों का मुख्यार्थ लेकर कबीर की पत्नी के देवर, जेठ, ननद, बाप, सगे भइया (बा० प० २३०) आदि का इतिहास ढूँढ़ निकालने में माथा-पच्ची करें या इनके सांकेतिक अर्थ लेकर संगति बैठाएँ। हम नहीं समझते, अपने कुलवालों का यह असंगत पचड़ा सुनाने में कबीर का क्या उद्देश्य हो सकता था। हाँ, सांकेतिक अर्थ से अवश्य उनके भाव पूर्णतया स्पष्ट हो जाते हैं। कबीर ने राम को भुलवानेवाली 'बौरी मति' और राम में रमानेवाली 'सुंदर मति' का उल्लेख अन्यत्र भी किया है—

मेरी मति बौरी मैं राम बिसारयो, किहि बिधि रहनि रहूँ हो दयाल।
सेजैं रहूँ नैन नहिं देखूँ यहु दुख कासों कहूँ हो दयाल॥

× × ×

सोचि बिचारि देखु मन माँहीं, औसर आनि बन्यूँ रे।
कहै कबीर सुनहु मति सुंदरि, राजा राम रमूँ रे॥

—बा० प० २३०

फिर भी यह मानना असंगत नहीं जान पड़ता कि बहुत संभव है 'मुई मेरी माई हौं खरा सुखाला' की भाँति इस पद की भी मूल प्रेरणा का संबंध कबीर के साधारण लौकिक जीवन से हो और पहली स्त्री की मृत्यु के बाद दूसरी के आने पर ही ऐसा कहने की सूझी हो।

जन्म, निवास तथा मृत्यु स्थान

सभी परंपराओं के अनुसार कबीर काशी के निवासी थे और मगहर में उनकी मृत्यु हुई थी। आभ्यंतर प्रमाणों से भी इसी की पुष्टि होती है। कबीर ने स्पष्ट रूप से अपने को काशी का जुलाहा कहा है—

तू बांभन मैं कासी का जुलाहा चीन्हि न मोर गियाना।

—बा० प० २५० तथा सं० क०, आ० २६

तूं ब्रहमनु मैं कासी का जुलाहा मोहि तोहि बराबरी कैसे के बनहि।

—सं० क०, रा० ५

काशी में घर होने तथा वहीं उन्हें सत्संग और राम की भक्ति प्राप्त होने के कारण वह अवश्य उन्हें प्रिय रही होगी, पर जान पड़ता है बनारस के साधु-वेषधारी ठगों से जो आज भी दुर्लभ नहीं हैं, उनका भी कभी कभी पाला पड़ जाया करता था। एक पद में बाह्य आचार और वेष को प्रधानता देनेवाले बनावटी संतों का वर्णन करते हुए उन्होंने उन्हें 'बानारसि के ठगा' कहा है—

गज साढ़े तै तै धोतिया तिहरे पाइनि तग।
गली जिन्हा जप मालिया लोटे हथि निबग॥

ओइ हरि के संत न आखिअहि बानारसि के ठग ॥

—सं० क०, आ० ५

मुक्तिदायिनी काशी के भरोसे राम से विमुख, विलासी एवं बाह्य-धर्माचार-प्रिय काशीनिवासियों का उलाहना उन्होंने शिव जी से इस प्रकार दिया—

सिव कासी कैसी भई तुहारि, अजहूँ हो सिव देखि विचारि।
चोवा चंदन अगर पान, घर घर सुमृति वेद पुरान।
बहु विधि भवनहिं लागु भोग, नगर कोलाहल करत लोग॥

—बी० ब० ११

इन पदों से भी उनका काशी-निवास सिद्ध होता है।

निम्नलिखित पदों से यह भी प्रकट है कि मृत्यु उनकी काशी में न हो कर मगहर में हुई—

(१) जौ कासी तन तजै कबीरा तौ रामै कौन निहोरा।

—बा० प० ४०२; सं० क०, ध० ३

(२) का कासी का मगहर ऊसर हृदय राम बस मोरा।
जो कासी तन तजइ कबीरा रामहिं कौन निहोरा॥

—बी० श० १०३

(३) सगल जनमु सिव पुरी गवाइआ। मरती बार मगहरि उठि आइआ
बहुतु बरस तपु कीआ कासी। मरनु भइआ मगहर की बासी॥

—सं० क०, ग० १५

परंतु सब दिन काशी में रहकर मृत्यु के समय उनके मगहर चले जाने का कारण क्या था? यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसा उन्होंने स्वेच्छापूर्वक या कम से कम प्रसन्नता-पूर्वक नहीं किया, जैसा इन पंक्तियों से प्रकट है—

जिउ जल छोड़ि बाहरि भयो मीना। पूरब जनम हउ तप का हीना॥
अब कहु राम कवन गति मोरी। तजीले बनारस मति भई भोरी॥

(वही)

परंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वे इस आशंका से दुःखी थे कि मगहर में मरने से उन्हें मुक्ति नहीं मिलेगी, क्योंकि उनके जैसे सर्वव्यापक निर्गुण राम के अनन्य भक्त के लिये काशी हो या मगहर, दोनों में अंतर क्या ?

(१) जस कासी तस मगहर ऊसर हिरदै राम सति होई।
—बा० प० ४०२

(२) किआ कासी किआ अखरु मगहरु रामु रिदै जउ होई।
—सं० क०, ध० ३

(३) जैसा मगहरु तैसी कासी हम एकै करि जानी। ,, राम० ३

जिस काशी में उन्होंने बाल्यावस्था से लेकर अपने जीवन का प्रायः संपूर्ण काल बिताया, जहाँ उनको गुरु तथा संतों की संगति सुलभ हुई और जहाँ उन्होंने अनन्य रामभक्ति की साधना की, मनुष्य होने के नाते उसे छोड़ने पर उनके हृदय का दुःख अत्यंत स्वाभाविक था। सत्य बात यह जान पड़ती है कि सिकंदर लोदी के दंड से बच जाने के बाद उनके विरोधियों ने सुलतान से उन्हे काशी से निष्कासित कर देने की प्रार्थना की और सिकंदर ने नित्य नए उत्पात की आशंका से कबीर का बाहर चले जाना ही उचित समझा तथा कबीर ने भी शांतिपूर्वक जीवन बिताने की इच्छा से अनिच्छापूर्वक भी इसे स्वीकार कर लिया। विशेष रूप से उन्हें मगहर ही भेजवाने में उनके सगुणवादी हिंदू विरोधियों का हाथ रहा होगा, जैसा कि बीजक की निम्नलिखित पंक्ति से भी प्रकट होता है—

जो मैं थीको सांचा व्यास।
तोर मरन हो मगहर पास ॥ (श० १०३)

काशी छोड़ने में उन्हें क्लेश तो हुआ, पर जब काशी छोड़ दी तो मगहर से कोई भय तो था नहीं, वहाँ जाने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी, विशेषकर जब वहाँ भेजकर उन्हें मुक्ति से वंचित करने की धमकी दी

जा रही थी। संभवतः उनसे काशी छुड़ाकर विरोधी लोग प्रसन्न भी हुए थे जिससे कबीर को कहना पड़ा—

लोग बोलैं दुरि गए कबीर, या मति कोइ कोइ जानैगा धीर।
(बी० श० १०९)

काशी कबीर का केवल निवासस्थान ही नहीं थी, वह उनकी जन्मभूमि भी थी—परंपरा की इस प्रसिद्धि के विरुद्ध कोई बाह्य अथवा आभ्यंतर प्रमाण न मिलने से यह मान्य है। आदिग्रंथ की निम्नलिखित पंक्तियों के आधार पर कहा गया है कि कबीर की जन्मभूमि मगहर थी, वहाँ से वे काशी आए थे और मृत्यु से पहले वे फिर अपनी जन्मभूमि को चले गए—

तूँ मेरो मेरु परबतु स्वामी ओट गही मैं तेरी।
ना तुम डोलहु ना हम गिरते रखि लीनी हरि मेरी॥
अब तब जब कब तुही तुही। हम तुम परसाद सुखी सदाही॥
तोरे भरोसे मगहर बसिओ मेरे तन की तपति बुझाई।
पहिले दरसनु मगहर पाइओ फुनि कासी बसे आई॥
(सं० क०, रा० ३)

परंतु शरणदान में मेरु पर्वत सदृश अटल राम के भरोसे जब वे काशी से मगहर आ रहे, तब वहाँ बैठकर उनका यह कहना किसी प्रकार संगत नहीं प्रतीत होता कि 'मैं फिर काशी में आकर बस गया'। अतः दो बातें संभव हैं। एक तो यह कि इसमें कहीं से पाठदोष आ गया हो। कबीर की मृत्यु और ग्रंथ साहब के संकलन के बीच अस्सी वर्ष से अधिक समय बीत चुका था। यदि उसके बाद से इधर के पाठ को अक्षुण्ण मानें तो भी उक्त बीच के समय में वक्ता या लेखक से भूलें हो जाना असंभव नहीं। अतः क्या आश्चर्य कि उपर्युक्त पंक्ति इस प्रकार रही हो—

पहिले दरसन कासी पायो पुनि मगहर बसे आई।

ऐतिहासिक अर्थ के आग्रह पर इसके अतिरिक्त इसका और कोई समाधान नहीं प्रतीत होता।

दूसरी बात यह संभव है कि दिया हुआ पाठ ही शुद्ध हो परंतु उसमें 'काशी' का अर्थ उनके द्वारा छोड़ी हुई लौकिक काशी नहीं, उनकी काया में ही विद्यमान सर्वत्र-सुलभ वास्तविक मुक्तिदायिनी काशी हो। काशी के लौकिक संबंधों को त्यागकर जब वे मगहर पहुँचे तो पहले तो खिन्नता के कारण मगहर मगहर ही दिखाई पड़ा, परंतु यह खिन्नता क्षणिक थी। जब स्वस्थ हुए तो फिर मगहर में ही उन्हें काशी प्राप्त हो गई, क्योंकि वास्तविक काशी तो कहीं भी सुलभ है—

मन मथुरा दिल द्वारका, काया काशी जानि।

इसी से तो उन्होंने 'जस कासी तस मगहर ऊसर' समझा था।

पर्यटन

परंपरा की प्रसिद्धि के अनुसार यह असंभव नहीं जान पड़ता कि कबीर ने उत्तर में मथुरा, पश्चिम में राजस्थान और गुजरात, दक्षिण में बाँधोगढ़ और नर्मदातीर तथा पूर्व में जगन्नाथ पुरी तक यात्रा की हो। परंतु स्वयं कबीर के पदों में उनके इन स्थानों में भ्रमण का कोई उल्लेख नहीं मिलता। भक्तों का भ्रमण अधिकतर तीर्थाटन वा संतसमागम के लिये ही होता है, पर तीर्थाटन की ओर कबीर की प्रवृत्ति नहीं थी। उनके परचई-लेखक अनंतदास के कथनानुसार गुरु रामानंद की संत-मंडली के साथ उन्होंने पीपा के देश (गागरोनगढ़) की यात्रा की थी और वहाँ से द्वारका की ओर गए थे। वहाँ गुरु ने रैदास से पूछा कि सप्तपुरियों में श्रेष्ठ कौन है। रैदास ने उत्तर दिया—'मथुरा'। संभव है गुरु के मन की बात समझकर ही रैदास ने उनके मनोनुकूल यह उत्तर दिया हो, क्योंकि वहाँ से रामानंद जी को अपने शिष्य श्री अनंतानंद के यहाँ जाना था, जो मथुरा में रहते थे; अथवा स्वयं रैदास की ही मथुरा जाने की इच्छा रही हो। परंतु कबीर का उत्तर था कि सभी पुरियाँ समान हैं, अतः

चलहु गुसाईं कासी जइयै। घरही बैठे माधो पइयै॥

इससे भ्रमण से उनकी अरुचि और उनके काशी-प्रेम का समर्थन होता है। 'भावभगति' या मानस भक्ति करने के कारण वे घरबार छोड़कर वैराग्य धारण करके तीर्थ-भ्रमण करने के पक्षपाती नहीं थे, अतः उन्हें ताने-बाने और भजन-भाव से यों भी भ्रमण के लिये अवकाश कम मिलता रहा होगा; फिर भी कोई अवसर आने या आवश्यकता पड़ने पर वे अवश्य यात्रा करते रहे होंगे। बीजक की एक रमैनी के अनुसार वे मानिकपुर, ऊँजी (जौनपुर) और झूँसी भी गए थे—

मानिकपुरहि कबीर बसेरी। मद्दति सुनी सेख तकि केरी॥
ऊजो सुनी जवनपुर थाना। झूँसी सुनि पीरन के नामा॥ (र० ४८)

पूरनदास कृत सांप्रदायिक टीका 'त्रिज्या' में इसका अर्थ इस प्रकार दिया है—

मानिक कहिए मानवो, पुरी कहिए ठाम।
कबिर कहीए जीव कह, बसी और के धाम॥
मदति कहिए पौढ़ता शेख कहिए जीव।
तकि गुरुअन को कहत है जोरि तकाबत पीव॥ इत्यादि।
(त्रिज्या, र० ४८)

ऐसी टीका के संबंध में कुछ न कहना ही अच्छा है। सौभाग्यवश अन्य कबीरपंथी टीकाकार भी इससे असहमत हैं; वे मानिकपुर, जौनपुर और झूँसी को इन नामों से प्रसिद्ध स्थान ही मानते हैं (विचारदास, हनुमानदास, विश्वनाथ सिंह)। परंतु ऊजो या ऊँजी को वे कोई स्थान नहीं मानते। प्रायः इसका अर्थ 'वह जो' किया है। पादरी वेस्टकाट इसे जौनपुर जिले में खरौना गाँव के पास 'ऊँजी' नाम का गाँव बतलाते हैं।* खरौना जाकर पता लगाने पर इन पंक्तियों के लेखक को विदित हुआ कि संप्रति वहाँ ऊँजी, ऊजो या ऊजे नाम का तो कोई ग्राम नहीं है, कबीर के समय में रहा हो तो पता नहीं। हाँ, उँचौरा नाम का एक गाँव अवश्य है जिसे 'उँचवा' भी कहते हैं। यह खरौना से लगभग मील

*कबीर ऐंड द कबीरपंथ, अ० २

भर दक्षिण है और यहाँ एक मंदिर है जिसमें एक रामानंदी साधु रहते हैं। संभव है इस उँचौरा ग्राम को ही वेस्टकाट ने ऊँजी लिखा हो।*

कबीर की उक्तियों के आधार पर यह सिद्ध करने का यत्न किया जाता है कि वे काबे जाकर हज भी कर आए थे—

(१) हज काबे होइ होइ गया, केती बार कबीर।
मीरा मुझ सूं क्या खता, मुखां न बोलै पीर॥ (बा०सा० ५६।६)

(२) कबीर हज जह हउ फिरिओ, कउतक ठाओ ठाइ।
इक रामसनेही बाहिरा, ऊजरु मेरै भाइ॥ (मं० क०, स०१४)

(३) हज काबे हउ जाइ था, आगे मिलिआ खुदाइ।
साईं मुझ सिउ लरि परिआ, तुझै किन्हि फुरमाई गाइ॥(वही, १९७)

परंतु न तो सवाब के लिये और न कुतूहलवश ही उनका इतनी लंबी यात्रा करना संभव प्रतीत होता है। पहले दिखलाया जा चुका है कि तीर्थ या हज करने की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं थी। दूसरों के हज करने के वे विरोधी न रहे होंगे, परंतु अशांत चित्त लेकर काबे जाने को अवश्य व्यर्थ समझते थे—

सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज काबे जाइ।
जाकी दिल साबति नहीं, ताकउ कहाँ खुदाइ॥
(सं० क०, स० १८५)

ऊपर उद्धृत दोहों में से दूसरे में तो स्पष्ट पाठदोष है, 'जह' की जगह मूल से 'हज' लिखा गया है। परंतु यदि पहले और तीसरे के अनुसार यह माना भी जाय कि उन्होंने हज किया था तो उन्हीं की उक्ति के अनुसार यह भी मानना उचित है कि गोमती-तीर पर पीतांबर पीर के स्थान तक ही उनकी हिजरत होती थी—

हज हमारी गोमती तीर। जहा बसहि पीतंबर पीर॥
(वही, आ० १३)

---

* खरौना के पास के तो किसी ग्राम में नहीं, परंतु खरौना ग्राम में ही एक कबीर-पंथी मठ है जिसके स्थापक कबीरपंथी संत मदन साहेब थे।

परंतु मेरी समझ में पहले दोहे में विशेष कथन (अपने को लेकर) तथा प्रश्न द्वारा उन्होंने केवल इस सामान्य तथ्य को व्यक्त किया है कि पीर (गुरु या ईश्वर) हज-काबे जाने से प्रसन्न नहीं होता, वह तो सच्चे आंतरिक भक्तिभाव से ही संतुष्ट होता है (यह साखी 'बीनती कौ अंग' की है)। तीसरे दोहे में भी अपने विषय में विशेष कथन द्वारा वे सामान्य रूप से हज करनेवालों की गोहिंसा वृत्ति पर व्यंग कर रहे हैं और यह बतला रहे हैं कि ईश्वर इससे रुष्ट होता है।

शिष्य

कबीर की भक्तिसाधना में गुरु, गुरु-शब्द और गुरु-कृपा का प्रमुख स्थान है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि स्वयं गुरु की आवश्यकता मानते हुए भी उन्होंने उन लोगों को अपनी कृपा और सहायता से वंचित रखा होगा जो उनके शिष्य बनना चाहते रहे होंगे। अपने प्रभाव के लिये 'चेलों की जमात' का आडंबर रखना तो उनके जैसे भक्त की प्रकृति के विरुद्ध था, परंतु उनके कुछ शिष्य अवश्य रहे होंगे। परंपरा से राजा वीरसिंह बघेला, नवाब बिजलीखाँ, सुरत गोपाल, धर्मदास, तत्वा, जीवा, जागूदास और भागूदास उनके शिष्य प्रसिद्ध हैं परंतु इनके संबंध में खोज करना हमारा प्रस्तुत विषय नहीं है। कबीर की उक्तियों से इनके विषय में कोई संकेत नहीं मिलता। अनंतदास कृत परचई में केवल बघेल राजा वीरसिंह देव का उल्लेख मिलता है।

अलौकिक कृत्य

काशी में वीरसिंह देव की सभा में बैठे बैठे पुरी में जगन्नाथ जी के पंडा के जले पैर को ठंडा करना, गोरखनाथ के रामानंद को योग-दंगल के लिये ललकारने पर अधर में धागा फेंककर उसपर गोरखनाथ के लिये आसन बिछाना, मृत शिशु को जिलाना, मृत्यु के समय बंद कोठरी में से केवल फूल छोड़कर गायब हो जाना—इत्यादि घटनाएँ कबीर के अलौकिक कृत्यों के रूप

में पंथ में प्रसिद्ध हैं। सिद्ध योगियों और भक्तों के संबंध में ऐसी करामातों की प्रसिद्धि होना एक सामान्य बात है। परंतु बानी, बीजक अथवा आदिग्रंथ के पदों में इनका कहीं कोई संकेत नहीं मिलता, अतः ये हमारे समीक्ष्य विषय नहीं। गोरखनाथ के विवाद वाली घटना के मूल में इस तथ्य का अनुमान भर किया जा सकता है कि भक्त रामानंद की ख्याति सुनकर कोई नाथपंथी योगी अपने योग-चमत्कार से उन्हें परास्त करने की इच्छा से उनसे विवाद के लिये प्रस्तुत हुआ होगा। रामानंद जी विवाद से दूर रहते थे, अतः गुरु की ओर से कबीर ने ही उससे लोहा लिया होगा।

मृत्यु के बाद फूलवाली घटना के संबंध में कहा जा सकता है कि फूल अस्थि को भी कहते हैं और यह संभव है कि कबीर की मृत्यु के बाद उनकी अस्थियाँ हिंदू मुसलमानों ने आपस में बाँट ली हों।

सारांश

कबीर के विवेच्य ग्रंथत्रय से हमें केवल निम्नलिखित बातों का प्रायः असंदिग्ध रूप में पता चलता है—

(१) कबीर काशी के रहनेवाले जुलाहे थे और जीविका के लिये जुलाहे का काम भी करते थे।

(२) रामभक्ति और संतों की सेवा में इतना मन लगता था कि निर्वाह भर को भी अर्जन करने में बाधा पड़ती थी, जिससे परिवारवालों का उलाहना भी सुनना पड़ता था।

(३) एक बार किसी काजी ने (संभवतः विरोधियों की शिकायत पर सिकंदर की आज्ञा से) इन्हें मृत्युदंड तक देने का प्रयत्न किया था, परंतु किसी तरह ये बच गए।

(४) सूफी संतों से भी कभी कभी इनकी भेंट हुआ करती थी और ये मानिकपुर, झूँसी और जौनपुर भी गए या कुछ दिनों रहे थे।

(५) मृत्यु के कुछ पहले ये मगहर चले गए और वहीं इनकी मृत्यु हुई।

इसके अतिरिक्त और किसी बात का निश्चित उल्लेख क्या संकेत भी नहीं नहीं मिलता। अंतःसाक्ष्य तथा परंपरा में प्रसिद्ध वृत्तों की समीक्षा द्वारा हम कबीर के जीवन के संबंध में निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

कबीर का जन्म संवत् १४५५ और मृत्यु १५७५ वि० में हुई। वे काशी में एक मुसलमान जुलाहे के घर पालित हुए थे। काशी ही उनका स्थायी निवास-स्थान थी। बचपन ही में उनमें ईश्वरभक्ति का संस्कार अंकुरित हुआ और भाग्य से उन्हें रामानंद जैसे गुरु की कृपा प्राप्त हुई। रामानंद जी उस समय के प्रसिद्ध भक्त आचार्य थे और काशी में ही रहते थे। उन्हीं से कबीर ने सं० १४७५ के लगभग रामनाम की दीक्षा पाई। रामानंद की मृत्यु संवत् १५०५ में हुई। कबीर बराबर उनके सत्संग में रहते थे और लगभग ३० वर्ष वे गुरु के साथ रहे। प्रखर बुद्धि के कारण इनकी प्रवृत्ति निर्गुण-भक्ति में रही और नारदी भक्ति अथवा 'वैष्णवी आत्मनिष्ठा' इन्हें गुरु रामानंद से प्राप्त हुई।

भक्ति के साथ साथ कबीर जीविका के लिये अपना जुलाहे का धंधा भी करते थे। घर में संभवतः तीन और प्राणी इनके आश्रित थे—माता, पत्नी और एक पुत्र जिसका नाम कमाल था। संतों का सत्कार भी ये उसी अल्प कमाई में से करते थे जिससे परिवार को कष्ट होता था। पर न ये संग्रही हुए न परमुखापेक्षी।

कबीर की भक्तों में बड़ी प्रतिष्ठा थी और रैदास इन्हें अपना बड़ा भाई मानते थे। रामानंद की मंडली के साथ ये एक बार गागरोनगढ़ (पीपा के देश) और संभवतः गुजरात तक गए थे। जौनपुर, मानिकपुर और झूँसी भी गए थे।

कर्मकांडी पंडित, शरियत-प्रेमी मुल्ले और नाथपंथी योगी स्वामी रामानंद की ख्याति से जलते और उन्हें तंग किया करते थे। ऐसे अवसरों पर कबीर ही उन लोगों का उचित प्रत्युत्तर दिया करते थे। गुरु की मृत्यु के बाद

विरोधियों ने उन्हें बहुत कष्ट दिया। सं० १५५३ वि० में सुलतान सिकंदर लोदी काशी आया, तब हिंदू और मुसलमान विरोधियों ने मिलकर उससे इनकी शिकायत की और इन्हें दंड दिलाया। परंतु सिकंदर इनकी निश्छलता से बहुत प्रभावित हुआ। उसने इन्हें तंग करना उचित नहीं समझा, पर झगड़ा बचाने के लिये इनसे मगहर चले जाने को कहा। वहीं इनकी मृत्यु हुई। मृत्यु के बाद हिंदू और मुसलमान भक्तों ने इनकी अस्थियाँ बाँट लीं। हिंदुओं ने जलाया, मुसलमानों ने दफना दिया।

कबीर के अनेक शिष्य और भक्त रहे होंगे जिनमें बघेल राजा वीरसिंह देव भी थे। कबीर ने स्वयं कोई पंथ नहीं चलाया, पर यह स्वाभाविक था कि जहाँ जहाँ उनके शिष्य होते वहाँ वे संघबद्ध होकर उनके उपदेशों की परंपरा प्रचलित रखते। अतः उनके नाम से पंथ भी चल पड़ा।

उपसंहार

कबीर साहित्य के प्रस्तुत अध्ययन में हमारा प्रधान लक्ष्य किसी मत का खंडन वा मंडन नहीं, प्रत्युत भारत-भूमि और हिंदी साहित्य की एक गौरव-मयी विभूति की बानियों का ठीक ठीक भाव समझना ही रहा है। अतः इसका महत्त्व इसके किसी निष्कर्ष पर उतना निर्भर नहीं है (यद्यपि वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है) जितना इसके दृष्टिकोण और इसकी विधि पर। कबीर की रचनाओं पर विद्वानों द्वारा प्रस्तुत संपूर्ण साहित्य का आदर करते हुए, परस्पर विरोधी आलोचनाओं से भरसक तटस्थ रहकर इसमें कबीर को समझने के लिये उनकी रचनाओं के ही स्वतंत्र अनुशीलन का मार्ग अपनाया गया। इस प्रकार उनकी कृतियों, भाषा तथा भावों की ऊपरी असंगतियों की तह में कोई एकरूपता ढूँढ़ने का भी प्रयत्न किया गया। वह एकरूपता हमें प्राप्त हुई है, यह अध्ययन से स्पष्ट है। और यदि अध्ययन का दृष्टिकोण और उसकी विधि, जैसा कि हमारा विश्वास है, ठीक है तो यह एकरूपता अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। विषय की जटिलताओं के कारण उन्हीं के सुलझाने पर अधिक ध्यान होने से यह अध्ययन सर्वांगीण और परिपूर्ण तो नहीं हो सकता था, परंतु उचित विधि से प्रयत्न होने तथा अनेक गुत्थियों के सुलझ जाने के कारण, आशा है, आगे का मार्ग अवश्य सरल और प्रशस्त होगा।

कबीर की सब रचनाएँ कितनी और कौन सी हैं, इसका निश्चय न आरंभ में था, न अब अध्ययन के बाद ही हो सका है। परंतु इसकी जाँच के लिये भी अध्ययन का कोई आधार तो मानकर ही चलना था। हमने तीन भिन्न धाराओं वा परंपराओं के अपेक्षाकृत सर्वाधिक मान्य एवं प्रमाण्य तीन ग्रंथों को आधार रूप में ग्रहण किया। इन तीनों में न भाषा की दृष्टि से और न पदों के पाठ अथवा रचनाओं के प्रबंधन की दृष्टि से ही कोई एकरूपता पाई जाती

है। भिन्न भिन्न तथा परस्पर विरोधी अर्थ की सूचक जान पड़नेवाली उक्तियों के कारण अलग अलग वा तीनों को मिलाकर इनमें भावों वा विचारों की भी एकरूपता नहीं दिखाई पड़ती। परंतु गहराई से तीनों की छानबीन करने पर हमने देखा है कि इनमें अनेकरूपता, असंगति और विरोध केवल ऊपरी और सकारण है। वस्तुतः तीनों में आंतरिक एकरूपता का अभाव नहीं है। भाषा, भाव और प्रबंधन तीनों की दृष्टि से हमने 'बानी' में सबसे अधिक एकरूपता पाई है। उदाहरण भी उससे कुछ अधिक दिए गए हैं, परंतु ग्रंथ साहब और बीजक से भी दिए गए समान उद्धरण यह सिद्ध करते हैं कि तीनों ग्रंथों में कोई आंतरिक विरोध नहीं है। तीनों से कबीर की एक ही भाव-धारा और एक ही साधना-पद्धति पुष्ट होती है। भाषा, पाठ और प्रबंधन के हेरफेर से वाणी के तत्त्व में कोई हेरफेर नहीं हुआ है। यह दूसरी बात है कि अर्थग्रहण की पद्धति के भेद से तीनों क्या किसी एक ग्रंथ में भी अनेक भिन्न भिन्न सिद्धांत ढूँढ़ निकाले जायँ, परंतु बिना खींचतान के स्वाभाविक रूप में जब हमें तीनों में एकरूपता मिल रही है तो वह मान्य होनी चाहिए। इससे प्रायः सभी उलझन वाले प्रश्नों का समाधान हो जाता है और कबीर के साधना-तत्त्व तथा उनकी भावधारा का एक ऐसा दृढ़ आधार मिल जाता है जिसकी पुष्टि भारतीय साधना-परंपरा से भी हो जाती है, जिससे हम कम से कम तत्त्व की दृष्टि से संदिग्ध रचनाओं की परीक्षा कर सकते हैं। अलग अलग तीनों परं-पराओं में प्राप्त सभी ग्रंथों की बाह्य परीक्षा से यदि आलोच्य तीनों ग्रंथों में भी एक-आध पद अन्यकृत सिद्ध हों, जैसे कि संतकबीर में संकलित कबीर के सलोकों में कुछ स्पष्टतः नामदेव, रैदास आदि के हैं, तो भी उससे तीनों की सैद्धांतिक एकरूपता पर कोई असर नहीं पड़ेगा। और यदि इनमें कोई पद ऐसा मिलता है जो कबीर के बाद के किसी कवि की रचनाओं में उसके नाम से पाया जाता है तो इतने ही से उसे अन्यकृत कहा भी तो नहीं जा सकता।

जहाँ तक भाषा और पाठशुद्धि का प्रश्न है, अभी इनमें अध्ययन का पूरा अवकाश है। फ़िर भी इतना तो स्पष्ट ही हो चुका है कि तीनों ग्रंथ कबीर के

होने पर भी उनकी भाषा पर तीन भिन्न परंपराओं की उच्चारण तथा लेखन शैली का प्रभाव हैं और कुछ शब्दों तथा पदों में भी रूपांतर हो गया है। तीनों पर से इस प्रभाव को सावधानी से अलग करने पर ही कबीर की भाषा के निकटतम शुद्ध रूप का दर्शन हो सकता है। कबीर की भाषा कृत्रिम है, यह आक्षेप तो जैसा हम चतुर्थ अध्याय में देख चुके हैं, निराधार ही है। प्राचीन और अल्प परिचित होने के कारण वह आज की भाषा के सामने भले ही बेढंगी लगे, परंतु उसका भी अपना एक रूप है, अपनी एक परंपरा है और उसमें एक विशिष्ट ओज तथा शुचिता है।

कबीर की उलटवाँसियों तथा उस प्रकार के अन्य कठिन पद्यों के अर्थबोध का भी मार्ग यथासंभव सरल करने का प्रयत्न किया गया है, यद्यपि केवल उन्हीं के अर्थ पर साधना-पद्धति का ज्ञान निर्भर नहीं है।

भाषा और छंदरचना में बनाव-सिंगार तथा कविता में शृंगारादि लोक-सुलभ भावों के अभाव एवं विषय-वैचित्र्य की कमी के कारण बहुत से शिष्ट लोग कबीर को कवि नहीं मानते, न शायद अब भी मानेंगे, क्योंकि इसके लिये अपेक्षित रुचि और संस्कार सर्वत्र सुलभ नहीं हैं। परंतु मरमी सहृदयों के बीच उनकी कविता का आदर इससे कभी कम न होगा। कबीर का नाम सदा उन उच्च कोटि के कवियों में अमर रहेगा जिनकी वाणी का अनुगमन कविता स्वयं बिना प्रयास के करती है।

किसी कवि के जीवन की घटनाओं और परिस्थितियों का ज्ञान उसकी रचना में निहित भावों और विचारों को समझने में अवश्य सहायक होता है, परंतु कबीर के जीवन का इतिहास हमें प्रायः नहीं के बराबर उपलब्ध है। अतः इस विषय में उनकी रचनाओं में हमें जो कुछ मिल सका उसी पर संतोष करना पड़ा। बाह्य सामग्री में से हमने ऐसी ही बातें लीं जो कबीर की उक्तियों से समर्थित अथवा कम से कम उनके तथा बुद्धि के अविरुद्ध हैं। यदि भविष्य में ऐतिहासिक खोजों से कबीर के जीवन संबंधी निश्चित तथ्यों का पता लग सका तो वे हमारे लिये बहुमूल्य होंगे। परंतु इस समय भी हम

जो कुछ जानते हैं उससे उनका बड़ा ही भव्य और गौरवपूर्ण चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है। उनकी रचनाओं के आधार पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि ऐसा छल-छद्म रहित, निर्भय, निर्द्वंद्व, निष्पक्ष, अनासक्त तथा दृढ़ विश्वासी व्यक्ति संसार में दुर्लभ होता है। एक गंदे गड्ढे में खिले हुए अमल कमल का जैसे उस गंदे कीचड़ से कोई संबंध नहीं जान पड़ता उसी प्रकार कबीर को भी मानो उस दुनिया की गंदगी छू तक नहीं गई थी जिसमें वे जन्मे, पले और एक लंबी आयु तक जिए। वे सदा ऐसे अडिग विश्वास के साथ बोलते हैं जिसका दोष और दुर्बलता में सर्वथा अभाव पाया जाता है।

दोष और दुर्बलता कुछ न कुछ प्रत्येक मनुष्य में होना स्वाभाविक है, न होना अविश्वसनीय। कबीर में भी कोई दोष रहे ही होंगे। परंतु हठपूर्वक उनकी खोज करना न हमारा विषय है न उसमें कोई दिलचस्पी। लोकवेद के अभिमानी शिष्टवर्ग पहले ही उनमें पर्याप्त दोष देख चुके थे, अब भी देखते हैं। जिसके माता-पिता और कुल का पता नहीं, जो समाज में हीन समझी जानेवाली विधर्मी जुलाहा जाति के किसी नगण्य गृहस्थ के घर में पला हो, जिसे समाज की ऊँची श्रेणियों में सुलभ किसी भी आर्थिक वा बौद्धिक सुविधा का अधिकारी न समझा गया हो, फिर भी जो समाज के प्रतिष्ठित वर्गों में प्रचलित समस्त आचार-व्यवहार, धर्म-कर्म आदि पर आक्षेप करता हो और ऊपर से अपने को सबसे बड़ा और पवित्र घोषित करता तथा शेष संसार को गंदा समझता हो, यहाँ तक कि अपने को राम कहने में भी संकोच न करता हो—ऐसे व्यक्ति में भी क्या बुराइयों को ढूँढ़ने की आवश्यकता है? वह क्या लोकदृष्टि में साधारण अपराधी है?

परंतु ऐसे अपराधी केवल कबीर ही नहीं हैं। ऊँची गद्दियों पर प्रतिष्ठित, धर्म के नाम पर जीनेवाले परपीड़कों ने अपने स्वार्थ पर धक्का लगते देख किस महात्मा को अपराधी नहीं बनाया? क्या बुद्ध के प्राण लेने के लिये कुचक्र नहीं रचे गए? क्या ईसा को सूली पर नहीं चढ़ाया गया? और क्या सभ्यता के अजीर्ण से जीर्ण आज के इस संसार में गांधी की भी हत्या नहीं की गई?

फिर कबीर तो अपना कुलवर्ण भी खो चुके थे, धनिकों और कुलीनों की विशिष्टता भी मानने को तैयार न थे, तब यदि उन्हें अपराधी घोषित कर प्राणदंड दिलाने का प्रयत्न किया गया और उसमें असफल होने पर उन्हें मगहर भेजवा कर ही संतोष माना गया तो इसमें आश्चर्य क्या ?

कदाचित् सभी संत-महात्माओं के जीवन का यही इतिहास है। तो क्या भक्ति, अहिंसा, सत्य और लोकोपकार ही संसार में सबसे बड़े अपराध हैं ?

संकीर्ण साहित्यिक दृष्टि से उपर्युक्त प्रश्न कुछ अप्रासंगिक सा लग सकता है, परंतु कबीर-काव्य के तत्त्वार्थ से इसका घनिष्ठ संबंध है। काव्य में निबद्ध अर्थ की समीक्षा के बिना काव्य की समीक्षा का न कोई अर्थ है न मूल्य। काव्य जीवन की वस्तु है। अन्य सब विषयों की अपेक्षा जीवन से उसका निकटतर संबंध है, क्योंकि वह जीवन की—उसके सुख-दुःख, हर्ष-शोक, चढ़ाव-उतार की—अभिव्यक्ति है। इस कारण काव्य और काव्यार्थ की समीक्षा जीवन की दृष्टि से होना सर्वथा प्रासंगिक और उचित है।

प्रत्येक देश वा जाति के व्यक्तियों का जीवन उनके मानस में बद्धमूल कुछ विशिष्ट विचारों और आदर्शों से संचालित होता है। उन विचारों और आदर्शों से उनके जीवन का ऐसा अविच्छेद्य संबंध होता है कि उनके नाश से वे अपना नाश और उनकी रक्षा और उन्नति से अपनी उन्नति समझते हैं। उन विचारों और आदर्शों के अनुकूल आचरण धर्म समझा जाता है और प्रतिकूल आचरण अधर्म। धर्म के लिये प्राण देने की शिक्षा दी जाती है, अधर्मी का प्राण लेने की। धर्म पुरस्कार्य है, अधर्म दंडनीय।

व्यक्ति की भाँति कोई जाति भी अकेले नहीं रह सकती। अन्य जातियों से उसे संपर्क और व्यवहार रखना पड़ता है। वे परस्पर एक दूसरी को प्रभावित भी करती हैं और इससे उनके विचारों और आदर्शों में समय-समय पर कुछ परिवर्तन भी अपेक्षित होता है, जिसे बुद्धिमान् जातियाँ सहर्ष स्वीकार करती हैं। विचार और आदर्श तभी तक सजीव, सक्रिय, प्रभावशील एवं मान्य होते हैं जब तक उनमें समय की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन सहन

करने की क्षमता वर्तमान रहती है। वे जड़ और स्थिर होकर जीवित नहीं रह सकते। उनकी जड़ता जाति ही जड़ता की सूचक है। जब कोई जाति अपने विचारों और आदर्शों में परिवर्तन एकदम स्वीकार नहीं कर सकती तो उसका फल होता है विरोध, संघर्ष, युद्ध। फिर या तो वह नष्ट होती है या उसे विजयी जाति के आदर्शों को विवश होकर स्वीकार करना पड़ता है। यदि वह स्वयं विजयी हो जाय तो भी विजित जाति के अनुकूल परिवर्तन स्वीकार किए बिना वह अपनी विजय को स्थिर नहीं रख सकती।

स्वेच्छा से आवश्यकतानुसार विचारों और आदर्शों में परिवर्तन का अर्थ उनकी पराजय और मृत्यु नहीं, उनका अधिक से अधिक लोकोपकारी अतएव दीर्घजीवी बनना है। अन्य सैकड़ों नदियों का जल ग्रहण कर अपने प्रवाह के साथ एकरूप करके ही गंगा अनादि काल से असंख्य जनों का उपकार करती आ रही है। इसी में उसकी महिमा और अनंतता है। अपनी ही शुद्धता पर अकड़नेवाली जाति गंगा की भाति पतितपावनी नहीं बन सकती, सरस्वती की भाँति नामशेष हो जाती हैं। कभी कभी एक ही आदर्श की पूजा करते करते मानव जातियाँ जड़ हो जाती है और इस महान् सत्य को प्रत्यक्ष देख कर भी समझ नहीं पातीं। तब वे युद्ध और विनाश का आवाहन करती हैं। इस प्रकार प्रकृति उन्हें बलात् परिवर्तन के लिये बाध्य करती है और जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वे विजयी हों या विजित, उन्हें जीने के लिये परिवर्तन स्वीकार करना ही पड़ता है। जड़ता और दुराग्रह को प्रकृति सहन नहीं कर सकती। विश्व का यही इतिहास है। फिर भी अहंकार और मूढ़ता के कारण मानव जातियाँ इससे कोई शिक्षा ग्रहण करना नहीं चाहतीं, अतः संघर्ष और विनाश एक नित्य सत्य बन गया है।

मानव-जीवन का लक्ष्य सुख-शांति है और अपनी सुख-शांति को चिर-स्थायी बनाने के लिये लोक में सुख-शांति की स्थापना तथा उसके लिये अपने विचारों और आदर्शों एवं अपनी धर्म-अधर्म की भावना को लोकव्यापक बनाना आवश्यक है। अतः किसी आदर्श वा धर्म की श्रेष्ठता की कसौटी

उसकी अधिक से अधिक लोककल्याणकारी होने की क्षमता है। विश्व का कल्याण करनेवाला आदर्श और धर्म सर्वश्रेष्ठ है। कोई वाद, कोई मार्ग, कोई जीवनदृष्टि यदि दूसरों के लिये कल्याणकर नहीं है तो उसके अस्तित्व के औचित्य के लिये कम से कम इतना तो आवश्यक है कि वह दूसरों के लिये हानिकर न हो। इन्हीं दृष्टियों से हमें कबीर की भक्ति और जीवनदृष्टि के संबंध में विचार करना है कि वह कहाँ तक लोक के लिये हितकर और ग्राह्य अथवा हानिकर और त्याज्य है।

लोकहित है क्या? हित, कल्याण या सुखशांति से हमारा तात्पर्य स्वर्ग, मुक्ति वा अन्य किसी प्रकार के पारलौकिक सुख से नहीं, प्रत्युत वर्तमान जीवन के योगक्षेम से है। भक्तिमार्ग पर आधुनिकों का यह आक्षेप है कि भक्ति मनुष्य में स्वाभिमान और आत्मविश्वास को नष्ट कर दास्य और हीनता की भावना उत्पन्न करती तथा एक काल्पनिक वस्तु के पीछे वर्तमान लौकिक और यथार्थ उन्नति एवं सुख की उपेक्षा कर उसे दुःख, अभाव और पतन के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है। अतः वह किसी प्रकार भी हमारे वर्तमान जीवन के उपयुक्त नहीं। यही क्यों, कुछ तो यहाँ तक कहते हैं कि भक्ति धोखे की टट्टी है और इसमें जितना समय दिया जाता है उतनी राष्ट्रीय उत्पादन की क्षति होने के कारण वह दंडनीय अपराध है। धर्म अथवा आध्यात्मिक वा नैतिक शक्तियों को पीछे ढकेलकर आज राजनीति और अर्थनीति लोक-कल्याण की घोषणा करनेवाली प्रधान शक्तियाँ बन रही हैं, इस कारण भक्ति पर उपर्युक्त प्रकार का आक्षेप आश्चर्य की बात नहीं। परंतु केवल धर्म के नाम की खाल ओढ़कर लोकहित का डंका पीटनेवाले भी अपने ही स्वार्थ के गुलाम हैं। निर्जीव आदर्शों से चिपके हुए ऐसे लोग वस्तुतः अपना स्वार्थ भी नहीं समझ सकते और उपर्युक्त गतिशील राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों के हाथों मूर्ख बनाए जाकर उन्हीं का स्वार्थसाधन करते हैं।

अस्तु। राजनीति और अर्थनीति को प्रधान माननेवाले आज के सभ्य संसार का परम पुरुषार्थ भोजन, वस्त्र, गृह, शिक्षा, मनोरंजन, चिकित्सा

आदि की सुविधा—और आगे बढ़ें तो विचार, वाणी और कार्य की स्वतंत्रता—यही लौकिक सुख है। यह सुख किसी प्रकार उपेक्ष्य नहीं है, न भक्ति इसकी उपेक्षा करती है, प्रत्युत वह एक विशेष दृष्टिकोण से इसपर विचार कर इसका एक तर्कसंमत उपाय ही बतलाती है—यह हम आगे बतलाएँगे। परंतु पहले हमें यह देखना है कि आधुनिक राजनीति और अर्थनीति द्वारा इस लक्ष्य की प्राप्ति का दावा कहाँ तक ठीक है।

आज का प्रत्येक सभ्य मानव-समुदाय स्वयं जितना बड़ा है उतने ही को वह लोक या विश्व समझता है, यद्यपि संसार में सभ्य गिने जाने तथा अपने परापघाती कार्यों का औचित्य सिद्ध करने के लिये वह विश्व भर के कल्याण को अपना उदात्त लक्ष्य बतलाता है। एक ओर लोक वा विश्व की इस संकुचित परिभाषा के कारण और दूसरी ओर लौकिक आवश्यकताओं और सुखों की कोई सीमा न होने से यद्यपि सभी लोग सबका कल्याण करने की घोषणा करते हैं तथापि कार्यतः सभी लोग परस्पर संघर्परत हैं—एक दूसरे को मिटा देने के लिये निरंतर प्रयत्नशील हैं। सुख के साधनों के परिमित होने और सभी लोगों के उन्हें केवल अपना प्राप्य समझने के कारण इस संघर्ष, श्वान-युद्ध पौर शलभ-बलि की कहीं कोई सीमा नहीं रह गई है—यह एक नित्य सत्य सा बन गया है। इसी से सभी सभ्य जातियाँ एक दीर्घ काल से युद्ध का कला के रूप में अभ्यास करती आ रही हैं और नित्य नए घातक शस्त्रास्त्रों के आविष्कार की प्यास बढ़ती जा रही है। फलतः संसार में अपने स्वार्थ पर बलि चढ़ाने के लिये अनेक सूक्ष्म उपायों से ऐसे मूर्खों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है जो युद्ध और मारकाट में ही हिंस्र जंतुओं की भाँति सुख मानते हैं। ऐसी अवस्था में युद्ध और संघर्ष को मिटाकर स्थायी सुखशांति की स्थापना की बात सुनी ही नहीं जा सकती। शांति स्थापित होती है नए युद्ध की तैयारी के लिये।

युद्ध और परपीड़न के सर्वनाशकारी रूप को सभी देखते हैं और उसकी निंदा भी करते हैं। परंतु सभी लोग उसे अनिवार्य मानते हैं—केवल अपने

स्वार्थ के लिये नहीं, विश्व में शांति-स्थापना के लिये भी! संघर्षरहित विश्व-समाज की स्थापना को अपना लक्ष्य बतलानेवालों का तो मूलमंत्र ही है वर्ग-संघर्ष और हिंसक क्रांति, बहुजनसुखाय काम करनेवाले बहुमतवादी को भी नहीं-नहीं करके विश्वकल्याण के लिये विश्वयुद्ध ठानने को 'विवश' होना पड़ता है। क्यों न हो, स्वयं भगवान को भी तो धर्म की संस्थापना और पापियों के विनाश के लिये प्राकृत राजा बनकर धर्मयुद्ध करने पड़ते हैं? सुख-शांति के इच्छुक संसार के दुःखी लोग जिनका दुःख दूर करने के लिये महा-भारत रचे जाते हैं, दुःख और आश्चर्य के साथ देखते हैं कि जिन सुखों की आशा दिलाकर मनुष्य मनुष्य के बीच ईर्ष्या और द्वेष की आग सुलगाई जाती है वे स्वयं उसी आग की सर्वग्रासी लपटों में भस्म हो जाते हैं। फिर भी युद्ध-लोलुप अपने स्वार्थ के लिये अपनी विश्व-संहार-लीला का समर्थन निर्लज्जता-पूर्वक विश्वशांति का नाम लेकर किए जा रहे हैं। यह अपराध नहीं है, अप-राध है सत्य और अहिंसा के पैरों पर चलनेवाली परमात्म-भक्ति!

कलह, संघर्ष, युद्ध और रक्तपात अनिवार्य हों या न हों, पर ये दुनिया को अभीष्ट नहीं हैं—इसे शांतिकामी युद्धवीर भली भाँति जानता है। दुनिया शांति चाहती है और शांति के नाम पर ही उसे युद्ध के लिये तैयार किया जाता है अथवा अनिच्छापूर्वक वह विवश होकर इसे सहन करती है। आज का शांतिकामी राजनीतिज्ञ इस बात को भी खूब समझता है कि शांति तभी संभव है जब प्रत्येक व्यक्ति वा समुदाय सचमुच यह समझकर आचरण करे कि हमारे अतिरिक्त और भी व्यक्ति और समुदाय हैं जिन्हें हमारे ही समान सुख से जीने का अधिकार है। सचमुच ऐसा समझकर आचरण करने का अर्थ है अपनी आवश्यकताओं, अधिकारों और सुखों को अनिवार्यतः सीमित करना—और यही तो आधुनिक सभ्य मनुष्य नहीं करना चाहता, अपनी बुद्धि के अजीर्ण के कारण वह इसे पचा ही नहीं सकता। इच्छाओं और आवश्यकताओं पर वह कोई नियंत्रण नहीं चाहता, चाहे वे कभी पूरी न हों; क्योंकि उनकी पूर्ति ही तो सुख है, सुख छोड़कर वह प्रयत्न किस बात के लिये करे? वह साधनों

की परिमिति भी स्वीकार नहीं करना चाहता। अपनी बुद्धि और विज्ञान के बल से संपूर्ण प्राकृतिक शक्तियों पर अधिकार कर वह साधनों को अपरिमित बनाने में विश्वास करता है। साधनों की वृद्धि के साथ इच्छाओं और आवश्यकताओं की भी घी से आग के समान वृद्धि की बात उसके बुद्धिसागर में नहीं समाती। अपराधी समझा जानेवाला अल्पबुद्धि भगवद्भक्त इसे ही तो भगवान की माया कहता है। माया ही इस सीधी सी बात को बड़े बड़े बुद्धिमानों के भी मस्तिष्क में घुसने नहीं देती।

भूतवादी अर्थशास्त्री वा राजनीतिज्ञ भक्ति और मुक्ति के आध्यात्मिक सुख की तो कल्पना ही नहीं कर सकता, अतः यहाँ इनकी केवल लौकिक उपयोगिता को आधुनिक भाषा में समझने की आवश्यकता है।

भक्त की दृष्टि से दुःख का कारण माया है जो भगवान की भक्ति से ही दूर हो सकती है। माया का अर्थ है ममता, अहंकार— जिसके कारण विषयों में आसक्ति होती है। संसार में जितने पदार्थ हमारी इंद्रियों के अनुकूल और प्रिय विषय हैं वे ही सब सुख के साधन माने जाते हैं। 'ये पदार्थ मेरे हैं या मेरे हो जायँ, ये सदा मेरे ही पास रहें और मैं ही इनका उपभोग करूँ'— इसी भावना के साथ मनुष्य उनकी ओर प्रवृत्त होता है। उन्हें अपना समझ कर उनमें उसका मन आसक्त होता है। दूसरा कोई उन्हें चाहे तो उससे वह लड़ पड़ता है—चाहे सींग-पंजों से लड़े अथवा, सभ्य बनकर राजनीतिक दाँव पेंच चलाए। वे पदार्थ नष्ट हो जायँ या उससे छीन लिए जायँ तो वह रोता-कलपता है, भाग्य को कोसता है, साथियों को दोष देता है या किसी से शत्रुता कर उससे बदला लेने को तैयार होता है। 'मैं और सबसे अलग हूँ, सब मेरे ही सुख के साधन हैं' ऐसा समझकर वह सबपर अपना अधिकार और प्रभुत्व चाहता और अपार संपत्ति के संग्रह के लिये प्रयत्नशील होता है। इस संग्रह में ही वह सबसे बड़ा पुरुषार्थ मानता है।

भक्त कहता है—सभी वस्तुएँ नाशमान् हैं और तुम्हारा इस संसार में कुछ भी नहीं है। जिसके लिये सब कुछ संग्रह करते हो वह शरीर भी तुम्हारा

नहीं। जब कुछ भी स्थिर नहीं है तो क्यों इतनी धूर्तता, झूठ, कपट, चोरी और हिंसा के द्वारा इतना संग्रह करते हो? तुम जितना ही अधिक संग्रह करोगे उतनी ही तुम्हारी चिंताएँ बढ़ेंगी, उतना ही तुम्हारा लोभ भी बढ़ता जायगा और उतने ही तुम्हारे कर्म क्रूर और हिंसक होते जायँगे। अपनी आवश्यकता से अधिक संग्रह का तुम्हें कोई अधिकार नहीं और बिना दूसरों का अधिकार छीने ऐसा तुम कर नहीं सकते। दूसरे लोगों को भी तुम्हारी ही तरह अपने जीने और सुख से रहने के लिये संग्रह करने का अधिकार है। उनका अधिकार छीनने से वे तुम्हारा विरोध करेंगे, तुम उनकी हिंसा में प्रवृत्त होगे। फिर भी अंत में तुम्हारी इच्छाएँ तो अपूर्ण ही रहेंगी, दूसरों का सारा सुख लूटकर भी तुम सुखी नहीं रह सकोगे। अतः अपनी इच्छाओं की ही रोक-थाम क्यों नहीं करते? इच्छाओं का विस्तार करनेवाली माया—'मैं, मेरा' की भावना—है। वही तुम्हारी आँखों में पट्टी बाँधकर तुम्हें तेली के बैल की तरह घुमाती है। वही तुम्हारी वास्तविक शत्रु है, यदि पुरुषार्थ का कुछ अभिमान है तो उसी को जीतो। अर्थात् अपनी इच्छाओं को नियंत्रित कर, अहंकार, लोभ और आसक्ति को छोड़कर, केवल अपनी आवश्यकता भर ग्रहण करो—शेष औरों के लिये छोड़ दो। ऐसा करने से तुम्हें उतने के लिये अभाव न रहेगा। तुम दूसरों से ईर्ष्या न करोगे, दूसरे तुम्हें देखकर नहीं जलेंगे। ऐसे भक्तों की वृद्धि के साथ माया का ह्रास होगा। कोई संग्रह नहीं करेगा, सब देना ही चाहेंगे। कोई दूसरे की सुख-समृद्धि देखकर हाय-हाय नहीं करेगा, सब दूसरों को सुख देकर प्रसन्न होंगे। तभी संसार में वास्तविक सुख-शांति विराजेगी।

परंतु माया को जीतना सरल कार्य नहीं है। जगद्विजयी वीरों को भी अपने मन से हार माननी पड़ती है। बुद्धि और विज्ञान की दाल वहाँ नहीं गलती। इंद्रियों और मन का विषयों की ओर आकर्षण और उनके संग्रह की लालसा इतनी दुर्दम्य होती है कि बड़े बड़े योगी, विज्ञानी और पुरुषार्थी प्रयत्न करके भी उसे रोक नहीं पाते, फिर जो विषयों के दास हैं उनकी तो

बात ही क्या ? यहाँ भक्त बतलाता है कि भगवान से प्रेम करो।' विषयों का आकर्षण ढीला करने—माया के फंदे को काटने—का यही सबसे सरल उपाय है।

आत्मा और परमात्मा को जो असत्य कहते हैं वे तो मानो अपने जीवन में चौबीस घंटे सत्य का ही व्यवहार करते हैं, अतः उनसे कुछ कहना अनावश्यक है। परंतु भक्त यदि तर्क करे तो कहेगा कि तुम आत्मा-परमात्मा को भले ही असत्य और काल्पनिक कहो, परंतु तुम्हारा अहंकार तो अवश्य झूठा है। तुम भौतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त कर चाहे अपना ऐश्वर्य बढ़ाओ चाहे संसार को सुखी करने की घोषणा करो, परंतु सब हिसाब लगाकर देखोगे तो तुम्हारी जमा की ओर दुःख और हिंसा ही बच रहेगी। तुम लाखों की हत्या एक क्षण में कर डालो, परंतु पेड़ से एक पत्ती तोड़कर क्या फिर उसे ज्यों की त्यों लगा दे सकते हो ? जिस समय तुम्हारा साढ़े तीन हाथ का शरीर तुम्हारे अतुल बल-वैभव की परवाह न कर अपनी राह लेगा उस समय क्या तुम उसे रोककर रख सकोगे ? बे-लगाम घोड़े या बिना ब्रेक के इंजन की तरह तुम्हारा मन तुम्हें जिधर घसीटे उधर ही तुम्हें जाना पड़ता है। तुम उसे रोक नहीं सकते। क्या इसी पुरुषार्थ का तुम्हें अभिमान है ? तुम्हारे इस झूठे अहंकार से भक्त की दास्यभावना लाख-गुना श्रेष्ठ और कल्याणमयी है। उसकी दास्यभावना उसे मन, माया वा विषयों की दासता से मुक्त कर विश्व का स्वामी बनानेवाली है।

कबीर के परमात्मा को यदि काल्पनिक और उनकी भक्ति को अंधविश्वास मान लिया जाय तो भी मानव सुख-शांति की दृष्टि से वह हजार वैज्ञानिक सत्यों तथा हिंसापूर्ण अर्थलोलुपता की अपेक्षा कहीं अधिक मान्य और ग्राह्य है। उनकी भक्ति असत्य और पौरुष-हीनता को प्रश्रय देनेवाली नहीं, दुःखी से दुःखी तथा दुर्बल से दुर्बल जनों के हृदय को ऐसा बल देनेवाली है जिससे उसे संसार में किसी भी प्रकार का भय नहीं रह जाता। परमात्मा के आगे अपनी दुर्बलता निवेदित कर, उसी में अपने अहंकार को पूर्ण रूप से खोकर,

वह परमात्मा का ही रूप हो जाता है। बीजगणित के कल्पित अक्षर की भाँति उसका परमात्मा उसे सभी राशियों और निधियों की कुंजी सौंप देता है। उसे केवल भीतर से ही व्यक्तिगत शांति और विश्रांति नहीं मिलती, बाहर भी उसका जीवन ऐसा हो जाता है जिससे उसके चारों ओर शांति का ही आलोक बिखरता रहता है। भक्तिसाधना के द्वारा उसकी मानसिक वृत्तियों का ऐसा नियमन (मेंटल ट्रेनिंग) हो जाता है कि उसका बाह्य जीवन अपने आप लोक के लिये हितकर बन जाता है, अहित तो वह कभी सोच ही नहीं सकता—जैसे माता अपने बच्चे का अहित नहीं सोच सकती। वह चराचर विश्व में अपने ही परम आत्मा को देखता है, इस कारण उसके हृदय में सबके लिये प्रेमभाव रहता है। वह किसी को शत्रु क्या पराया भी नहीं समझता। उसकी आवश्यकताएँ कम से कम होती हैं। उनकी पूर्ति के लिये वह दूसरों से भिक्षा नहीं माँगता, पर अपने लिये आवश्यकता से अधिक का संग्रह पाप समझता है। संग्रह करता भी है तो दूसरों के लिये। दूसरों को दुःखी देखकर उसका हृदय द्रवित हो जाता है और वह भरसक उनकी सहायता करता है। उसके इस प्रकार के आचरण से वह जहाँ जाता है वहीं लोगों को उसके दर्शन मात्र से शांति मिलती है—जैसे रात भर जाड़े से ठिठुरे हुए को सूर्योदय से। तब कैसे कहा जा सकता है कि भक्ति लोकसुख की उपेक्षा करती तथा दास्य और पौरुष-हीनता की शिक्षा देती है ?

परमात्मा में अपने अहंकार को खो देने का अर्थ है विश्व में अपने आत्मा का विस्तार अथवा विश्वसत्ता से अपने को पृथक् न समझ उसके साथ एक हो जाना। जो कुछ विश्व में आज पराया है, भक्ति सिद्ध होने पर कल वह बिलकुल अपना हो जाता है। अपने-पराए का भेद छोड़कर भक्त समदर्शी हो जाता है—सबको आत्मवत् देखने लगता है। संसार में द्वेष, घृणा और विरोध का मूल है भेद, और भेद का कारण है अहंकार। 'यह (दूसरों से भिन्न) मैं हूँ, यह अपना है, यह पराया है' इस भावना के प्राबल्य—माया की प्रबलता—के कारण मनुष्य अपने चारों ओर एक ऐसा रंगीन जाल बुन लेता है

जिसपर मुग्ध होकर वह उसमें बुरी तरह फस जाता है और उसमें से निकल नहीं सकता। यह जाल वह अपनी ही अनेक प्रकार की भावनाओं से बुनता है। वह सदा अपने को दूसरों से बढ़कर दिखलाना चाहता है। छोटे से बड़े तक सभी लोग अपने दुःखों से उतने दुःखी नहीं होते जितने अपने को दूसरों से घटकर समझने के कारण। प्रत्येक इसलिये मरता है कि मेरे पास अपने विरोधियों से ही नहीं, अपने मित्रों, पड़ोसियों और संबंधियों से भी कुछ अधिक ही संपत्ति हो। मेरा मकान पड़ोसी के मकान से कुछ ऊँचा और उजला दिखाई पड़े। मेरी मोटर अमुक से अधिक भड़कीली हो। मेरा जूता, मेरी टोपी, मेरे कपड़े मेरे साथियों की अपेक्षा अधिक सुंदर या मूल्यवान् हों। मेरा आदर और लोगों की अपेक्षा अधिक हो। यहीं तक नहीं, मेरे तीन लड़के हैं तो पड़ोसी के चार क्यों हों? मेरी स्त्री से पड़ोसी की स्त्री अधिक सुंदर क्यों हो? इस प्रकार कहाँ तक गिनाया जाय, माया के इस जाल-विस्तार का कहीं अंत नहीं है। सूक्ष्म भावनाओं के रंगीन तंतुओं से ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, काम, क्रोध आदि की गाँठें लगाकर माया यह जाल अलक्ष्य रूप में बड़ी मजबूती के साथ बुनती है, या जैसा ऊपर कहा गया है, मनुष्य स्वयं उसे बुनता है। भक्ति की साधना से जब अहंकार विलीन हो जाता है तब भावनाओं की गाँठे खुल जाती हैं—मनुष्य अपने-पराए का भेद भूलकर विश्व की एकता में घुल-मिल जाता है। वह सबका और सब उसके हो जाते हैं। साधक की भाषा में माया का पाश कट जाता है, जीव मुक्त होकर शुद्ध परमात्म-स्वरूप हो जाता है। मुक्ति असंभव कल्पना नहीं, मन की गाँठों का खुल जाना ही है। परंतु उसे पाना कठिन अवश्य है। अन्य उपायों से वह अत्यंत दुस्साध्य है, पर भक्ति के द्वारा सुलभ हो जाती है। अतः भक्ति की साधना आज भी व्यक्ति तथा विश्व के कल्याण के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

यह कहना कि भक्ति पुरानी चीज है, उससे आज की बड़ी बड़ी राज-नीतिक, आर्थिक आदि समस्याएँ नहीं सुलझ सकतीं, वह आज की समस्त वैज्ञानिक उन्नति और सुख-साधनों की उपेक्षा कर मनुष्य को आदिकालीन

असभ्य और .वर्वर युग में ले जाकर खड़ा कर देगी, केवल भक्तितत्त्व से अनभिज्ञता का सूचक है। भक्ति आज की किसी समस्या की उपेक्षा नहीं करती। वह वैज्ञानिक आविष्कारों तथा उनके द्वारा सुख-सामग्रियों के अधिक उत्पादन पर भी कोई प्रतिबंध नहीं लगाती। वह तो केवल मन, बुद्धि और आचरण को एक विशेष प्रकार का अनुशासन सिखलाकर ऐसी नवीन दृष्टि प्रदान करती है जिससे सभी समस्याओं को सुलझाने में सहायता मिल सकती है। वह भेद-बुद्धि दूर कर ईर्ष्या द्वेष आदि की—जो सब झगड़ों के कारण हैं—जड़ ही काट देती है।

भक्ति के इस व्याख्यान का अभिप्राय आज के सैकड़ों वादों की भाँति कोई वाद खड़ा कर उसके लिये आंदोलन करना नहीं है। आज संसार में जिस प्रकार की विचारधाराएँ प्रबल वेग से एक दूसरे से टकरा रही हैं उसमें भक्ति का नाम लेना ही उपहास्य समझा जायगा। इस घोर वैज्ञानिक युग ने अपने योग्य गांधी जैसे शिक्षित संत को पाकर भी भक्ति में विश्वास करना नहीं सीखा तो पंद्रहवीं शती के 'अपढ़ जुलाहे' की भक्ति किसे सुहायगी? परंतु यह तो निश्चित है कि किसी तर्क से उसकी अनुपयोगिता सिद्ध नहीं की जा सकती।

जो कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि कबीर एक महान् संत थे, जैसे सैकड़ों वर्ष में कोई एक हुआ करते हैं। उनकी भक्ति पवित्र थी। उनका आचरण संदेह के परे था। उनकी अनुभूतियों को व्यक्तिगत और मिथ्या कहना बहुत बड़ी भूल है। उपनिषदों के विचारों के संबंध में प्रसिद्ध मनोविज्ञानी पंडित जुंग के शब्द उद्धृत कर हम उनके विषय में भी कह सकते हैं कि 'उन अनुभूतियों की असाधारण गहराई और उनकी अद्भुत मनोवैज्ञानिक शुद्धता को ठीक ठीक समझ सकना आज हमारे लिये संभव नहीं है'।* परंतु इसका कारण

* Any true perception of the quite extraordinary depth of those ideas and their amazing psychological accuracy is but a remote possibility.

—Jung: Psychological Types, p. 263.

केवल यह है कि वे अनुभूतियाँ तर्क से समझने की नहीं, साधना द्वारा अनुभव करने की वस्तु हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रयोगों में वे खरी उतरें या नहीं, परंतु वैसी प्रवृत्ति होने पर कोई भी व्यक्ति उचित मार्ग से भक्ति की साधना करके उन अनुभूतियों को प्रत्यक्ष कर अपना और लोक का कल्याण-साधन कर सकता है। कबीर तथा ऐसे अन्य संतों के साहित्य के अधिकाधिक अध्ययन द्वारा उनमें छिपी हुई इन उच्च अनुभूतियों की अमूल्य निधि को प्राप्त कर, आशा है, कम से कम भारतीय साधना-परंपरा की एक टूटी हुई कड़ी अवश्य जुड़ जायगी और हिंदी साहित्य का वैभव तो बढ़ेगा ही।

परिशिष्ट १

कबीर और उनका रहस्यवाद

यह बात निश्चित रूप से मान ली गई है कि कबीर रहस्यवादी थे। परंतु यह मानना स्वतंत्र नहीं, प्रत्युत आधुनिक काव्यगत प्रवृत्ति विशेष की समीक्षा संबंधी आवश्यकता की पूर्ति स्वरूप है। आधुनिक काव्यगत रहस्यवाद पर यदि एक ओर से यह आक्षेप किया जाता है कि वह एक विदेशी प्रवृत्ति है जो अस्वाभाविक परिस्थितियों में उत्पन्न होकर फारस से यूरप तक फैली और फिर अंग्रेजी साहित्य के द्वारा भारत में आई तो दूसरी ओर से यह दावा पेश किया जाता है कि रहस्यवाद भारत में कोई नई चीज नहीं, शताब्दियों पहले कबीर जैसे उच्चतम कोटि के रहस्यवादी संत और कवि हो गए हैं। इसका उत्तर प्रायः यह कहकर दिया जाता है कि कबीर में भावात्मक और साधनात्मक रहस्यवाद का मेल है जिसमें एक तो सूफियों का है और दूसरा हठयोगियों का। जो लोग यह मानते भी हैं कि कबीर शुद्ध भारतीय रहस्यवादी थे उनके कथन से यह स्पष्ट बोध नहीं होता कि भारतीय रहस्यवाद क्या है। मैं व्यक्तिगत रूप से कबीर को रहस्यवादी कहने का या उनके रहस्यवाद की छानबीन करने की कोई आवश्यकता नहीं समझता, क्योंकि मेरी समझ से समीक्षा का यह ढंग अधिकतर व्यर्थ विवाद को उत्तेजना देता है। और सामान्य रूप से रहस्यवाद के दार्शनिक, ऐतिहासिक वा साहित्यिक विवेचन का तो यहाँ अवकाश ही नहीं है। परंतु इस विषय पर विचार करने से मेरी यही धारणा पुष्ट हुई है कि यदि कबीर को रहस्यवादी कहना आवश्यक ही हो तो उनके रहस्यवाद का मूल ढूँढ़ने के लिये विलायत नहीं जाना होगा, न हठयोगियों की क्रियाओं की ही परीक्षा करनी पड़ेगी। जो लोग कबीर के रहस्यवाद में सूफी प्रेम का योग पाकर भी उन्हें शुद्ध भारतीय रहस्यवादी

कहते हैं उनके कथन का तात्पर्य समझना तो कठिन है, परंतु इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि कबीर का रहस्यवाद शुद्ध भारतीय रहस्यवाद है।

रहस्यवाद शब्द के आधुनिक व्यवहार पर अवश्य ही अंगरेजी के 'मिस्टिसिज़्म' की गहरी छाया है, परंतु जब मैं कबीर को रहस्यवादी कहता हूँ तो उन्हें सूफी या ईसाई संतों अथवा ईट्स, रवींद्रनाथ ठाकुर जैसे कवियों की पंक्ति में रखकर नहीं, प्रत्युत रहस्यवाद का मिस्टिसिज्म से स्वतंत्र भारतीय अर्थ लेकर। साथ ही जब उन्हें भारतीय रहस्यवादी कहता हूँ तो भारतीय और विदेशीय रहस्यवाद में किसी तात्त्विक भेद के कारण नहीं, प्रत्युत केवल इस अभिप्राय को लेकर कि वे अपने रहस्यवाद के लिये किसी विदेशी गुरु या संप्रदाय के आभारी नहीं हैं।

रहस्य का सामान्य अर्थ है कोई गुह्य, एकांत अथवा गुप्त बात। विशिष्ट अर्थ में यह है अंतःस्थ किंतु अव्यक्त, सर्वव्यापक अद्वैत सत्ता वा परमात्मा से योग। यह योग या मिलन इतना एकांत, इतना अनन्य तथा अपने अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की अनुभूति से इतनी दूर होता है कि दूसरे से कहकर प्रकट नहीं किया जा सकता। अतः इससे बड़ा रहस्य और क्या हो सकता है? स्वयं अनुभव करनेवाला भी अनुभूति से बाहर के क्षणों में उसका रहस्य समझने में असमर्थ रहता है।

विश्वव्यापक सत्ता ऐसी सुषम एकता है जो सबका आधार है और जहाँ पहुँच जाने पर सब कुछ सुषम ही हो जाता है। विषमता नाम को भी नहीं रहती। लोक में सुषम कही जानेवाली कोई भी वस्तु निश्चित केंद्रीय वा आधार बिंदु से देखने पर ही वैसी जान पड़ती है। उस बिंदु को न पा सकने से सुषम भी विषम ही दिखाई देता है। विश्व में विषमता एवं तज्जन्य दुःखों का कारण भी केंद्रीय बिंदु वा आधार सत्ता को न पा सकना ही है। जब तक उसकी प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक मन इधर से उधर एक विषय से दूसरे विषय पर भटकता दौड़ता है, पर किसी से भी उसे अभीष्ट सुख-शांति प्राप्त नहीं होती—जैसे घर भूला हुआ मुसाफिर जब तक अपना घर नहीं पा जाता

तब तक बाग-बगीचों या सराय-धर्मशालाओं में उसे संतोष और विश्राम नहीं मिलता। जब मन असल विंदु पर पहुँच जाता है तब द्वैत और भेद एकदम मिट जाते हैं और उसे आनंद क्या आनंदरूपता ही प्राप्त हो जाती है। कबीर उस विंदु पर पहुँच सके थे या नहीं. यह सिद्ध करना मेरा काम नहीं है। इसे तो उन्हीं के पदों में जाँचना चाहिए। भेद एवं दुःख-रहित आनंदसागर अभय हरिपद से वे कहते हैं—

रे मन जाहिं जहाँ तोहिं भावै, अब न कोई तेरे अंकुस लावै।
जहाँ जहाँ जाइ तहाँ तहाँ रामा, हरिपद चीन्हि कियो बिसरामा॥
तन रंजित तब देखियत दोई, प्रगट्यौ ज्ञान जहाँ तहाँ सोई।
लीन निरंतर बपु बिसराया, कहै कबीर सुखसागर पाया॥

मैं नहीं जानता कि राम की सर्वव्यापकता की इतनी तीव्र और संशयरहित अनुभूति इतने दृढ़ विश्वास के साथ हिंदी साहित्य में और किसी संत के मुख से व्यक्त हुई है।

सुखसागर राम के साक्षात्कार की अनुभूति विश्वव्यापक सत्ता से एकता वा तद्रूपता की अवस्था की अनुभूति है। इस प्रकार की अनुभूति द्वैतदर्शी के लिये विशेष रूप से गूढ़ रहस्य है। यह अनुभूति ही नहीं, इसका मार्ग भी ऐसा रहस्यमय है कि कब किस उपाय से, किसकी सहायता से वह प्राप्त हो सकेगी इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। अनेक जन्मों का अपना संस्कार इसमें बाधक होता है। अधिक से अधिक केवल यह कहा जाता है कि जिस साधना से किसी महात्मा को अनुभूति हुई, चाहो तो तुम भी उसी को अपना लो, परंतु फल के लिये कोई नियत काल नहीं है। तर्क और बुद्धि के भरोसे तो वह अनुभूति किसी प्रकार भी होने से रही। हाँ, हरि-कृपा से (या संयोग से) कोई योग्य गुरु मिल जाय (बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता) तो संभव है उसके संपर्क से वह क्षण भर में ही प्राप्त हो जाय।

इस प्रकार उपर्युक्त रहस्यमय अनुभूति और उसके रहस्यमय उपाय में जिनका विश्वास हो उन्हें निस्संदेह रहस्यवादी तथा उनके संप्रदाय को रहस्य-संप्रदाय कहा जा सकता है। ऐसे ही रहस्य-संप्रदाय की परंपरा अविच्छिन्न रखने का प्रयत्न अभेदवादी वसुगुप्ताचार्य ने आठवीं शती के लगभग किया था—"द्वैतदर्शनाधिवासितप्राये जीवलोके रहस्यसम्प्रदायो मा विच्छेदीत्याशयतः" उन्होंने शिवसूत्रों को प्रकाशित किया था। वैदिक काल से ही ऐसे अनेक रहस्य-संप्रदाय भारत में चले आ रहे थे जिनकी परंपरा अविच्छिन्न थी। जो लोग यह विश्वास करके कि रहस्यवाद भारत की चीज ही नहीं है, कबीर में रहस्य की उक्तियाँ पाकर इतिहास के सहारे उसे विदेशी सिद्ध करते हैं वे एक पक्ष की पूर्ण उपेक्षा करते हैं।

यह कहा जा सकता है कि भारतीय दृष्टि से कबीर रहस्यवादी संत भले ही सिद्ध हों, पर वे रहस्यवादी कवि कैसे कहे जा सकते हैं? संक्षेप में इसका उत्तर यह है, जब आनंदरूप अनंत सत्ता के योग का आनंदातिरेक पहुँचे हुए संत के मुख से गान के रूप में फूट पड़ता है तो वह रहस्य-काव्य के रूप में ही व्यक्त होता है। अलौकिक रहस्यानुभूति को लौकिक शब्दों में बाँधने का प्रयत्न भी रहस्यमय ही होगा। जिस 'अव्यक्त के प्रति प्रेम' के कारण रहस्यवादी कविता बदनाम हो चुकी है, वस्तुतः वही उसका प्राण है। अलौकिक प्रेम को शब्दों और रूपकों में व्यक्त करने के कारण ही उसपर अस्वाभाविकता या छद्म श्रृंगार का दोष लगाया जाता है। मैं यह नहीं कहता कि रहस्यवाद की आड़ में लौकिक वासनाएँ प्रकट नहीं की जा सकतीं या नहीं की जातीं, परंतु इसमें रहस्यवाद का क्या दोष है? आक्षेप करते समय यह न भूलना चाहिए कि लोक में आनंद शक्ति का सबसे अधिक स्फुरण दांपत्य संयोग में होता है, ऐसे संयोग में जिसमें दो की पृथक् सत्ता कुछ समय के लिये एक ही अनुभूति में विलीन हो जाती है। आनंदस्वरूप विश्वसत्ता के साक्षात्कार का आनंद इसी कारण अनायास लौकिक दांपत्य-प्रेम के रूपकों में प्रकट हो जाता है। उसके कारण संत कवि में श्रृंगारिकता ढूँढनेवालों से तो यही कहना होगा कि—

जायया संपरिष्वक्तो न बाह्यं वेदनान्तरम् ।
निदर्शनं श्रुतिः प्राह मूर्खस्तं मन्यते विधिम् ॥

लौकिक शृंगार और अलौकिक प्रेम का अंतर सहृदयों से छिपा नहीं रह सकता। इसकी जाँच का सबसे सरल उपाय दोनों प्रकार की कविताओं द्वारा हृदय पर पड़ा हुआ प्रभाव ही है।

बहुत दिनन थैं प्रीतम पाए ।
भाग बड़े घर बैठे आए ॥
मंदिर मांहि भया उजियारा ।
ले सूती अपना पिव प्यारा ॥
कहैं कबीर मैं कछू न कीन्हा ।
सखी सुहाग राम मोहिं दीन्हा ॥

इन उपर्युक्त पंक्तियों में तथा "डेहरी के द्वार पर केहरि ननद परी है हरि संभारो कहूँ जेहरी न खटके"—इस प्रकार की उक्ति में जिसे अंतर न जान पड़े उसके काव्य-प्रेम पर केवल साधुवाद ही दिया जा सकता है।

परिशिष्ट २

साम्यवाद और कबीर

कबीर का आविर्भाव पंद्रहवीं शती में, आज से लगभग साढ़े पाँच सौ वर्ष पूर्व हुआ था और साम्यवाद 'वाद' के रूप में कल की भी नहीं, आज की बिलकुल ताजी चीज है। इसलिये दोनों में किसी प्रकार का संबंध वा असंबंध देखने के लिये पहले साम्यवाद को समझ लेना आवश्यक है।

साम्यवाद का साधारण अर्थ है समाज में सभी व्यक्तियों की समानता का सिद्धांत। इस सिद्धांत के अनुसार समाज के सभी व्यक्तियों को समान रूप से अधिक से अधिक सुख-सुविधा मिलना आवश्यक है, यह नहीं कि कोई बिना परिश्रम किए ही सभी प्रकार के सुख-ऐश्वर्य भोगने का अधिकारी हो और किसी को दिनरात एँड़ी-चोटी का पसीना एक करने पर भी पेट के लिये रोटी तक न मिले। ऐसी सुख-सुविधा प्रदान करने के लिये सर्व-प्रथम यह आवश्यक है कि समाज का आर्थिक संघटन एकदम नए सिरे से किया जाय। वर्तमान समाज का वृक्ष आर्थिक असमानता की ही मिट्टी में फूल-फल रहा है। एक ओर सुखी-संपन्न शासक, जमींदार, मालिक, महाजन इत्यादि हैं और दूसरी ओर संकटग्रस्त शासित, किसान, मजदूर और ऋणियों का समुदाय है। पहला वर्ग अपने स्वार्थसाधन के लिये नित्य नए उपाय निकालकर दूसरे वर्ग के लोगों को चूसता रहता है और दूसरे वर्ग के लोग या तो अपनी विपन्न परि-स्थितियों का बंधन ढीला कर प्रथम वर्ग में सम्मिलित होने के लिये अनवरत जीवनयुद्ध चलाते रहते हैं अथवा अपनी विपत्ति को ईश्वरीय इच्छा वा कर्मफल समझकर ज्यों-त्यों साँसें गिनते चलते हैं।

वर्तमान समाज की आर्थिक विषमता, संकट तथा संघर्ष का कारण समाज द्वारा स्वीकृत व्यक्तियों की वह अनियंत्रित स्वतंत्रता है जिसके द्वारा

समाज के कुछ ऐसे व्यक्ति जो मानसिक और शारीरिक शक्तियों में औरों से बढ़े-चढ़े हैं, औरों की दुर्बलता से लाभ उठाना अपना स्वाभाविक अधिकार समझते हैं। वे अपना दल संघटित कर अपने स्वार्थसाधन के लिये अपने से दुर्बल जनसमुदाय का सफलतापूर्वक 'शोषण' करते रहते हैं। साम्यवाद ऐसे लोगों के अनियंत्रित अधिकारों को सहन नहीं करता। वह 'शोषित' जनसमूह में क्रांति की भावना जगाकर शोषकवर्ग की निरंकुशता का बलपूर्वक अंत करता और राजनीतिक सत्ता को जनसमूह के हाथों में सौंप देता है। आर्थिक रूप में वह देश की संपत्ति को राज्य के अधिकार में देकर व्यक्तिगत प्रतियोगिता का अंत कर देता और राष्ट्र की संपूर्ण जनता को उसके उपयोग का समान अधिकार देता है। वह एक विशाल कुटुंब की भाँति राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी शक्ति और योग्यता के अनुसार काम देने और उसकी आवश्यकता के अनुसार उसके भोजन, वस्त्र, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि का प्रबंध करने के लिये जिम्मेदार होता है। संक्षेप में यही आधुनिक साम्यवाद की परम सिद्धि या साध्य है।

साम्यवाद अपना संपूर्ण बल विश्व की आर्थिक समस्या पर केंद्रित करता है। वस्तुतः उसकी दृष्टि से विश्व में और दूसरी कोई समस्या ही नहीं, क्योंकि सभी समस्याएँ मूलतः आर्थिक हैं। इतिहास विश्व में जितने युद्धों का पता देता है, सबके पीछे रोटी का सवाल छिपा दिखाई देता है। धर्म तो पूँजीपतियों की संस्था है, उसे उन्होंने इसलिये संघटित किया है कि दलितवर्ग अपनी विपत्ति को ईश्वरीय इच्छा या अपने ही कर्मों का फल समझता रहे और उनके शोषण के अधिकार को अक्षुण्ण बना रहने दे। इसी कारण साम्यवाद इस व्यापक आर्थिक समस्या का सुलझाव भी आर्थिक ही बतलाता है। अतः यह साम्यवाद वस्तुतः आर्थिक साम्यवाद है। अपने इस रूप की परिपुष्टि के लिये वह अपनी जड़ों को और गहराई में ले जाकर दार्शनिक भूमिका में टिकाता है। साम्यवादी दर्शन विश्व के मूल में आत्मा-परमात्मा जैसी किसी नित्य तत्त्व की सत्ता स्वीकार नहीं करता, वह पूर्णतः भूतवादी है। इसलिये शारीरिक

सुख ही उसका स्वाभाविक लक्ष्य है। आर्थिक व्यवस्था पर उसके अतिशय बल देने का यही रहस्य है।

इसमें तो कुछ भी संदेह नहीं कि यदि साम्यवाद की योजनाओं को उतनी ही सफलता मिली है जितना उसका दावा है, तो निश्चय ही वह विश्व के लिये एक बड़ा वरदान है। मनुष्य के सांसारिक अभावों की पूर्ति की समस्या छोटी समस्या नहीं है, उसकी पूर्ति हो जाना मानव प्रयत्न की असाधारण सफलता है। साथ ही हम यह भी मानते हैं कि सांसारिक अभावपूर्ति के साथ साथ व्यर्थ के युद्ध, कलह तथा चोरी हत्या आदि कितने ही अपराधों में तो कमी हो ही जा सकती है, इसके अतिरिक्त व्यक्तियों की आर्थिक मर्यादा में विषमता न रहने से छोटे-बड़े के भेदभाव तथा तज्जन्य ईर्ष्या-द्वेष एवं मानसिक अशांति से भी कुछ हद तक मुक्ति मिल जा सकती है। परंतु भारी प्रश्न यह है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि अगणित रक्तमय क्रांतियों के बाद विश्व साम्यवाद की आदर्श व्यवस्था को स्वीकार कर लेगा तो क्या यह संभव है कि मनुष्य की सब आशा-आकांक्षाएँ पूर्ण हो जायँगी, उसके लिये 'प्राप्य' कुछ भी न रह जायगा? क्योंकि हमारे विचार से मानव मन की आशा-आकांक्षाओं का अंत है ही नहीं। और यदि मन की शरीर-संबंधी सब इच्छाएँ पूर्ण भी हो जायँ तो फिर उसके बाद? क्या उसके बाद आत्मिक भूख सचमुच कोई वास्तविक चीज न रह जायगी? वह भी केवल पूँजीवाद का एक हथियार है जो पूँजीवाद के नष्ट होते ही स्वयं नष्ट हो जायगा? देहवादी के लिये इन प्रश्नों का उत्तर बिलकुल सीधा हो सकता है, पर आत्मवादी उसे कभी स्वीकार न करेगा।

यहाँ आत्मवाद के सिद्धांत का समर्थन हमारा लक्ष्य नहीं है पर कबीर आत्मवादी थे, इसलिये साम्यवाद से आत्मवाद का संबंध दिखलाने के लिये उसकी चर्चा अनिवार्य है। भारतीय आत्मवादी के लिये समता का सिद्धांत नया या अपरिचित नहीं बल्कि हजारों वर्ष पुराना और उसका निज का है। समदर्शन ही तो उसकी साधना का लक्ष्य है, उसकी सिद्धि की कसौटी है।

परंतु उसके समत्व-दर्शन और आधुनिक साम्यवाद के बीच बहुत बड़ा और मौलिक अंतर है। भारतीय आत्मवाद मनुष्य के सांसारिक और सामाजिक सुख-संतोष की ओर से एकदम उदासीन नहीं। उसकी व्यवस्था करने में वह भौतिक साम्यवाद से पीछे नहीं, प्रत्युत स्थायित्व और व्यापकता की दृष्टि से उससे कहीं आगे ही बढ़ा हुआ है। उसके दिए हुए सुख में ईंधन के योग से निरंतर धधकती रहनेवाली अग्नि की तरह बढ़ती हुई अमिट लालसा नहीं, स्थायी तृप्ति और शांति है, क्योंकि भौतिक सुख उसका साध्य नहीं, किसी बड़े साध्य के लिये साधन मात्र है। उसकी तृप्ति और शांति भीतर से आती है, केवल बाह्य साधनों पर अवलंबित नहीं। आत्मवादी शरीर और मन की आवश्यकताओं और इच्छाओं का दास नहीं, स्वामी है; इसलिये भोग्य सामग्रियों को वह भोग भी सकता है, ठुकरा भी सकता है। उसके उस निर्द्वंद्व सुख की तुलना हो ही नहीं सकती। रही समता की बात, सो आत्मवादी का साम्य-सिद्धांत केवल देश या वर्ग विशेष के व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है, न वह केवल अपने कट्टर अनुयायियों के लिये है। उसके विश्वसमाज में प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति और प्रत्येक धर्म के मनुष्यों के लिये समान स्थान है। मनुष्य ही क्यों, पशु-पक्षियों और कीट-पतंगों को भी उसमें उसी की समानता का (आत्मवत्) स्थान प्राप्त है। जैसे सूर्य अपना जीवनदायक ताप और प्रकाश कुछ विशिष्ट लोगों के लिये पृथ्वी पर नहीं भेजता, जैसे चंद्रमा अपनी सुधामयी शीतल किरणें केवल कुछ संपन्न व्यक्तियों की विलास-वाटिकाओं में ही नहीं बिखेरता, जैसे मेघ अपने अमृत-तुल्य जल की वर्षा थोड़े से शक्तिशाली या पुण्यात्मा जनों के लिये ही नहीं करता, अपितु जैसे ये सब विश्वात्मा की परम करुणा के रूप में अमीर-गरीब, विद्वान्-मूर्ख, ब्राह्मण-चांडाल, गोरे-काले, मनुष्य-पशु सब को अपने वैभव का दान समान रूप से बिना किसी भेदभाव के करते हैं, उसी प्रकार उदार भारतीय आत्मवाद भी सर्वभूत में समदृष्टि रखता है।

भौतिक और आध्यात्मिक साम्यवाद में सबसे बड़ा अंतर इस बात में है कि

पहला तो बाह्य भौतिक सामग्रियों पर नियंत्रण करके उनके समान वितरण द्वारा व्यक्तियों की सुख-सुविधा का प्रबंध करता है और दूसरा भौतिक परिस्थितियों की अनिवार्य विषमता को आंतरिक एकत्व-दर्शन के द्वारा दुःख और कलह के स्थान पर सुख और शांति का कारण बना देता है। इस प्रकार का साम्यवाद अधिक स्वाभाविक है। प्रकृति में ही कुछ ऐसी विषमता विद्यमान है कि किसी तर्क या आंदोलन के द्वारा मिटाई नहीं जा सकती। भिन्न देशों की जलवायु और उपज में, भिन्न जातियों के रंगरूप, भाषा, संस्कृति आदि में, मनुष्य और पशुपक्षियों की शारीरिक बनावट में तथा पुरुष और स्त्री की भिन्न अंगयोजना में जो महान् अंतर दिखाई पड़ता है उसके पीछे कारण जो भी हो, उसे किसी आर्थिक या राजनीतिक क्रांति के द्वारा मिटा देना संभव नहीं है। इसी प्रकार माता-पिता संतान से, गुरु शिष्य से, पुरुष स्त्री से यदि अवस्था, अनुभव अथवा बल में कुछ बढ़कर है तो यह विषमता नाक-भौं सिकोड़ने या विरोध करने से दूर नहीं हो सकती। फिर भी इसका यह अर्थ नहीं कि इस प्रकार की विषमता मनुष्य-समाज के लिये ईर्ष्या-द्वेष या दुःख का कारण बने। हाथ की पाँचों उँगलियाँ बराबर नहीं होतीं, पर इससे क्या ? क्या किसी भी बात में उनका झगड़ा होता है ? भीतर से तो वे सभी एक हैं, एक होकर काम करती हैं और एक सा ही दुःख-सुख का अनुभव करती हैं। इसी कारण आध्यात्मिक समत्ववाद बाह्य भौतिक समानता पर जोर न देकर भौतिक क्षेत्र में व्यक्ति को अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार बढ़ने की पूरी स्वतंत्रता देता है। परंतु आंतरिक एकत्व पर जोर देकर वह उनमें ऐसा सहयोग स्थापित कर देता है कि वे एक दूसरे के मार्ग में बाधक न होकर परस्पर आनंदवर्धन में सहायक होते हैं। इस समत्ववाद की व्यवस्था में व्यक्ति पूँजीपति होकर भी पूँजी का दुरुपयोग नहीं कर सकता, वह उसे राष्ट्र की संपत्ति समझता है और आवश्यकता पड़ने पर प्रसन्नता से उसे दान कर देता है। वह मजदूर होकर भी पूँजीपति से घृणा नहीं कर सकता, क्योंकि वह अपने श्रम का उचित मूल्य पाकर संतुष्ट रहता है। कहा जा सकता है कि यह

कोरा आदर्शवाद है, कहीं इसका वास्तविक अस्तित्व नहीं। परंतु प्रबल और प्रयोग के अभाव में तो सभी सिद्धांत कोरे आदर्शवाद हैं!

भारतीय समत्ववाद की एक और विशेषता यह है कि उसकी सफलता सामूहिक आंदोलनों पर उतनी निर्भर नहीं है जितनी व्यक्तिगत आंतरिक तप और सदाचार पर। इसमें वर्ग-संघर्ष और संहार की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी आत्मत्याग की। भारतीय समाज-व्यवस्था की नींव इसी मौलिक समत्ववाद पर पड़ी थी। इसलिये जब जब उसमें विश्रंखलता आई तब तब उसका संघटन-सूत्र युद्ध-विजेताओं के हाथ में नहीं, तपस्वियों के हाथ में रहा। युद्ध-शक्तियाँ भी तपस्वियों के नियंत्रण से बाहर नहीं रहीं। इतिहास में ऐसे उदाहरणों की परंपरा ढूँढ़ी जा सकती है। आज भी विश्व की महान् हिंसक शक्तियों को वास्तविक विश्वसाम्य और विश्वमैत्री की शिक्षा देने का अधिकारी कदाचित् कोई भारतीय तपस्वी ही हो सकता है।

भारतीय आध्यात्मिक समत्ववाद के संबंध में इतना कह लेने पर अब कबीर के संबंध में विस्तार करने की कोई आवश्यकता नहीं। कबीर भारतीय समत्व-सिद्धांत के ही एक महान् प्रतिनिधि थे। त्याग, तप और सदाचार की मूर्ति कबीर न शास्त्रपंथी थे, न समाज की उस श्रेणी में थे जो अपने को जन्म से ही उच्च और पवित्र समझती है। अतः ऐसे लोगों के लिये कबीर के उक्त महत्त्व को समझना सरल नहीं है, परंतु भारतीय समाज वा विश्वसमाज के पोषक कभी उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। वस्तुतः बहुत सी बातों में वे उन्हीं का अनुसरण कर रहे हैं।

परिशिष्ट ३

कुछ शब्दों के अर्थ

अजपा—जप की वह अवस्था जिसमें माला, होंठ, जीभ आदि की क्रिया न हो; जप की चरमावस्था।

अविहड़—निरंतर मिला हुआ; अलग न होनेवाला। परमात्मा से अविच्छेद्य रूप से मिला हुआ।

चाणक—नीति; चातुर्य।

जर्णा—जलना; पचना। मन की वृत्तियों का दमन;* मन की उत्सुकता तथा अशांति को दबाना या शांत करना।

ज्ञान चौंतीसा—ॐ तथा क, ख, ग, घ, न, च, छ, ज, झ, न, ट, ठ, ड, ढ, न, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, ज, र, ल, व, स, ख, स, ह—कैथी के इन तेंतीस अक्षरों से आरंभ करके कही हुई ज्ञान की उक्तियाँ। बीजक का एक अंश।

निरति—दे० 'सुरति-निरति'।

परचा—प्रत्यय, प्रत्यभिज्ञान, पहिचान; 'यह वही है' इस प्रकार का ज्ञान; आत्मस्वरूप का ज्ञान; परमात्म-दर्शन।

पारिष—परख।

बिरहुली—बीजक में कहरा, हिंडोला आदि की भाँति एक प्रकार का राग या गीत। मूल रूप में संभवतः बिरहुली सर्पपूजा से संबंधित अथवा सर्पविष उतारने के लिये गाया जानेवाला कोई गीत है। (विरोहण=एक सर्प देवता का नाम)

---

* तुलनीय—निर्जरा=आत्मदमन द्वारा कर्मफल का नाश। (सर्वदर्शनसंग्रह, आर्हत दर्शन)

बीजक—किसी माल या गड़े हुए धन से संबंधित वह पत्रक जिससे उस माल या धन का ठीक ठीक पता या ब्यौरा जाना जाता है। कबीर की वाणियों का एक संग्रह। इस संग्रह का यह नाम संभवतः इसलिये पड़ा कि कबीर की असंख्य वाणियों के यत्र-तत्र बिखर जाने और उनमें कबीर के नाम से दूसरों के बनाए नए नए पदों के जुड़ते जाने से कबीर की वाणियों का ठीक ठीक पता लगाना कठिन जान पड़ने लगा, तब कबीर के विचारों को प्रामाणिक रूप में सुलभ और स्थायी बनाने के उद्देश्य से उनकी जो वाणियाँ प्रामाणिक मानी गईं उनका इसमें संग्रह किया गया, जिससे वह अन्य वाणियों के लिये भी बीजक का काम दे अथवा जो परमात्मा रूपी गुप्त धन का पता दे।

बेली—वल्ली, बेल, लता। माया, त्रिगुण वा विषय-वासना रूपी बेल; क्वचित् भावभक्ति वा सुबुद्धि रूपी बेल।

मधि—मध्य, बीच। निरपख; द्वंद्व से परे; सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक, हिंदू-मुसलमान आदि परस्पर विरोधी भेदों से दूर; समभाव।

रमैनी—रामायण के ढंग पर कुछ चौपाइयों के बाद एक दोहा—इस क्रम से रची हुई कबीर आदि संतों की वाणी। दोहे-चौपाइयों के इस प्रकार के बंध की परंपरा रामचरित-मानस से बहुत पुरानी है, परंतु इसका रमैनी नाम, संभव है रामायण (रामचरितमानस) के ही ऐसे बंधों के अनुकरण पर पड़ा हो। नाभादास के कबीर संबंधी छप्पय में 'रमैनी' शब्द आया है, और उस समय तक राम-चरित-मानस प्रसिद्ध हो चुका था। यदि ऐसा हो तो 'बानी' की हस्तलिखित प्रति सं० १५६१ की लिखी न होकर सं० १६४० के बाद की होनी चाहिए, क्योंकि उसमें भी 'रमैणी' शब्द लिखित है। अथवा यह भी संभव है कि दोहे-चौपाइयों में लिखा कोई अन्य रामायण पहले से प्रसिद्ध रहा हो।

कबीर की रमैनियों में दोहे के पहले चौपाइयों की कोई एक निश्चित संख्या नहीं है। बीजक की रमैनियों में जो किसी किसी में दोहा नहीं है उसका

कारण संभवतः टीका के प्रयोजन से उन रमैनियों को तोड़ देना है, वे किसी अन्य रमैनी का अंग रही होंगी। रमैनियों के अंत की 'साखी' किसी विशिष्ट अर्थ की द्योतक न होकर दोहा मात्र है।

लांबि—लंबाई; गहराई, थाह; इयत्ता। परमात्म-स्वरूप की अनंतता वा अगम्यता।

लै—लय; स्थूल का सूक्ष्म में, व्यक्त का अव्यक्त में, ध्याता का ध्येय में मिलकर एक हो जाना। लौ, ध्यान।

विप्रमतीसी—विप्रबतीसी; बीजक में ब्राह्मणों के कर्मों की आलोचना जो तीस चौपाइयों और एक दोहे, इस प्रकार ३२ पंक्तियों में लिखित है।

सहज—राम के मिलने का सहज मार्ग या उपाय; हठयोग की क्लिष्ट क्रियाओं से रहित रामनाम योग (बानी, सहज कौ अंग; बी० श० ७)

सहज समाधि[१]—परमात्म-साक्षात्कार की अवस्था; जीवन्मुक्त अवस्था; शुद्ध पूर्ण आनंद स्वरूप में स्थिति। (बा० प० ४, ६; बी० श० ७)

साखी—साक्ष्य। साक्षात्कार। ज्ञान, अनुभव। संतों की अनुभव-वाणी[२], प्रायः दोहों में कथित। दोहा (संत वाणी में)।

साखीभूत—वह (संत) जिसे साक्षात्कार हुआ हो।

सुरति-निरति[३]—सुरति=श्रुति, शब्द, वाक्। श्रवण (सुनने) की वृत्ति वा शक्ति। अंतर्नाद-श्रवण। ध्यान, लगन। वृत्ति, वासना। [=स्मृति; सुष्ठुरति

१—तुलनीय 'सहज' के पर्याय—राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्त्व, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, तुर्या। (ह० प्र० ४।४)

२—तुल० अंग्रेजी Testament, यथा Old Testament, New Testament.

३—कबीर ने 'सुरति' शब्द का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। यथा—

(१) सुरति समानी निरति मैं, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यंभ दुआर॥ बा० सा० ५।२२

(२) सुरति समाणी निरति मैं, अजपा माहैं जाप।

(बड़थ्वाल)। =स्रोत, चित्तवृत्ति-प्रवाह (संपूर्णानंद)। =आत्मा या आत्मा की आध्यात्मिक किरण (रामकुमार वर्मा)।]

लेख समाणा अलेख मैं, यो आपा माहैं आप ॥ (५।२३)

(३) **सुरति** ढीकुली लेज ल्यौ, मन नित ढीलनहार।
कवल कुआँ मे प्रेम रस, पीवै बारबार ॥ (१०।२)

(४) कबीर संसा दूरि करि, जामण मरण भरम।
पंचतत्त तत्तहिं मिले, **सुरति** समाना मन ॥ (३४।४)।

(५) त्रिवेणी मनह न्हवाइए, **सुरति** मिलै जौ हाथि रे। बा० प० ४

(६) सुमति सरीर कबीर बिचारी त्रिकुटी संगम स्वामी।
पद आनद काल थैं छूटे सुख मैं **सुरति** समानी ॥ (७)

(७) उलटे पवन चक्र षट बेधा सुन्नि **सुरति** लै लागी। (८)

(८) **सुरति सुमृति** दोइ खूँटी कीन्ही आरंभ किया बमेकी। (२८८)

(९) श्रवण छै पणि **सुरति** नाहीं नैण छै पणि अंध रे। (३९०)

(१०) बिखिया अजहुँ **सुरति** सुख आसा।
कैसे होइहै राजा राम निवासा ॥ स० क०, ग० ३६

(११) थिति बिनु **सुरति** रहस बिनु आनंद ऐसा चरित अनूपा। बी० श० २७

(१२) पानी पवन सजोय के, रचिया यह उतपात।
सुन्नहिं **सुरति** समानिया, कासों कहिए जात ॥ बी० र० ३९

परमात्मा का स्वरूप निर्गुण (त्रिगुण से परे), अव्यक्त, अरूप, अशब्द, शून्य, मृत्यु (=अव्यक्त, अव्याकृत अवस्था; मृत्युनैवेदमावृतमासीत्—बृहदारण्यक उपनिषद् १।२।१) अथवा पूर्ण आनंद है। किसी एक शब्द से कहकर उसे ठीक-ठीक समझाया नहीं जा सकता, वह अनुभव करने की वस्तु है।

साधक को इस स्वरूप का साक्षात्कार अहंकार वा आपा को पूर्ण रूप से मिटाकर भेद और द्वंद्वमय जीवन से ऊपर उठ जाने से होता है। सुरति का निरति में समा जाना चित्तवृत्ति का निर्विषय होकर परमात्मा में लीन हो जाना है जिससे उक्त अवस्था की प्राप्ति होती है। सुरति का निरति मे, जप का अजपा में, शब्द का अशब्द (शून्य) में, ससीम का असीम में (हद का बेहद मे), जीवन का मृत्यु मे अथवा व्यक्त का अव्यक्त में समा जाना सब एक ही अवस्था का द्योतक है।

सुरति और निरति की अनेक व्युत्पत्तियाँ की गई है (द्रष्ट० योगप्रवाह, 'सुरति-निरति'

निरति=निर्ऋति; अशब्द; शून्य; आनंदपद। [=निरतिशय आनंद (बड़थ्वाल)। =खबर (ढोला मारू राग दूहा)।]

शीर्षक लेख) जो ठीक हो सकती है। हमने यहाँ सुरति का मूल 'श्रुति' (=शब्द) और निरति का 'निर्ऋति' माना है जो विचारणीय है। ऊपर आठवें उद्धरण में तो वह स्पष्ट ही 'श्रुति' है। स्मरण या स्मृति साधना मे अवश्य एक आवश्यक अंग है परंतु स्मरण के लिए 'सुमिरण' और 'स्मृति' (याद नही) के लिये 'सुमृति' रूप हमें कबीर मे मिलते है। सुरति का वृत्ति, वासना या ध्यान अर्थ भी 'श्रुति' से लिया जा सकता है। अतर्नाद वा अतरात्मा के शब्द (श्रुति) को सुनने के लिये श्रुति (श्रवणवृत्ति) को बाह्य व्यक्त शब्दों से हटाकर एकाग्र और अंतर्मुखी करना आवश्यक है। 'दृष्टि' और 'श्रुति' दोनों से 'चित्तवृत्ति' अर्थ लिया जाता है, क्योंकि चित्त या मन से ही देखा-सुना जाता है—अन्यंत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसाह्येव पश्यति मनसा शृणोति—बृ०, १।५।३)।

बृहदारण्यक उपनिषद् में वाक् (=शब्द, श्रुति) आत्मा का ही रूप है—आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यात्—(१।४।१७)। त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुत·· अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः (१।५।३)। आत्मा ने ही अपने मन, प्राण, वाक् ये तीन रूप किए; अतः इन तीनों का एक होना आत्मा के ही पूर्ण रूप की उपलब्धि है। योगमार्ग मे इसकी साधना मन, प्राण और नाद के लय के रूप में तथा संतों के निर्गुण-भक्ति-मार्ग में मन, पवन, सुरति को एक करने की साधना के रूप में प्रचलित है। दादू कहते है—

सतगुरु माला **मन** दिया, **पवन सुरति** सूँ पोइ।
बिन हाथौ निसदिन जपै, परम जाप यूँ होइ॥
मन पवना गहि **सुरति** सूँ, दादू पावै स्वाद।
सुमिरण मांहै सुख घणां, छोड़ि देहु सब वाद॥

ग्रंथ-सूची

हिंदी

हस्तलिखित

१—कबीर की बानियों के राजस्थानी शाखा के भिन्न भिन्न संग्रह—

(१) सं० १५६१ कालांकित प्रति—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

(२) सं० १८८१ ,, ,, ,, ,,

(३) सं० १७२७ ,, ,, ,, ,,

(४) सं० १८५५ ,, ,, ,, ,,

२—बीजक—विभिन्न प्रतियाँ जो या तो कालांकित नहीं हैं अथवा बहुत इधर की हैं।

३—गोरखनाथ, हरिदास निरंजनी, भक्त रैदास तथा अन्य संतों की बानियाँ (संवत् १८५५ के गुटके में)—ना० प्र० स०, काशी।

४—दादूदयाल की बानियाँ—निजी प्रति।

५—परचइयाँ—नामदेव, कबीर, रैदास, पीपा तथा अन्य संतों की अनंतदास लिखित (सं० १७४० तथा १८५५ के गुटके में)—ना० प्र० स०, काशी।

मुद्रित

आदर्श और यथार्थ—पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव।

आदिग्रंथ (गुरुग्रंथ साहब, नागरी प्रत्यक्षर)—(१) मोहनसिंह वैद्य।
(२) सर्वहिंद सिक्ख मिशन, अमृतसर।

कबीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी।

कबीर कसौटी—लहनासिंह।
कबीर ग्रंथावली—श्यामसुंदरदास (संपादक)।
कबीर मंसूर—परमानंद कृत उर्दू का अनुवाद।
कबीर वचनावली—अयोध्यासिंह उपाध्याय।
कबीर शब्दावली (संग्रह, चार भाग)—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।
कबीर सागर—युगलानंद (संग्रहकर्ता)।
कबीर साहेब का साखीग्रंथ—विचारदास (टिप्पणीकार)।
कामायनी—जयशंकर प्रसाद।
काव्य में रहस्यवाद—रामचंद्र शुक्ल।
कीर्तिलता—विद्यापति; बाबूराम सक्सेना संपादित।
जायसी ग्रंथावली—मलिक मुहम्मद जायसी; रामचंद्र शुक्ल संपादित।
ढोलामारू रा दूहा—संपादक रामसिंह, सूर्यकरण पारीक, नरोत्तम दास स्वामी।
पंचग्रंथी—रामरहस्य।
बीजक (टीका)—पूरनदास; राघवदास; विचारदास; विश्वनाथसिंह जू देव; हनुमानदास।
बीजक (मूल)—हंसदास शास्त्री, महावीर प्रसाद (संपादक)।
बुद्धचरित—रामचंद्र शुक्ल।
भक्तमाल—नाभादास।
भक्तमाल टीका—प्रियादास।
भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय।
भारतीय प्राचीन लिपिमाला—गौरीशंकर हीराचंद ओझा।
भ्रमर-गीत-सार—सूरदास; रामचंद्र शुक्ल संपादित।
मिश्र-बंधु-विनोद—मिश्रबंधु।
योग-प्रवाह—पीतांबरदत्त बड़थ्वाल।
रागकल्पद्रुम—कृष्णानंद व्यास।

रामरसिकावली—रघुराजसिंह ।

विनयपत्रिका—तुलसीदास ।

शिवसिंहसरोज—शिवसिंह सेंगर ।

संत कबीर—रामकुमार वर्मा ।

सतसई—बिहारीलाल ।

सत्य कबीर की साखी—युगलानंद (संशोधक और टिप्पणीकार) ।

हिंदी नवरत्न—मिश्रबंधु ।

हिंदी रस-गंगाधर—संस्कृत रसगंगाधर का पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी कृत अनुवाद ।

हिंदी साहित्य का इतिहास—रामचंद्र शुक्ल ।

हिंदी साहित्य की भूमिका—हजारीप्रसाद द्विवेदी ।

पत्रिकाएँ

गंगा (वेदांक)—वेद, वेदार्थ और वैदिक देवता, आनंदशंकर बापूभाई ध्रुव ।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका (न० सं०) भाग २—पुरानी हिंदी, चंद्रधर शर्मा गुलेरी ।

" " १४।४—कबीर का जीवनवृत्त, चंद्रबली पांडे ।

" " १५।४—कबीर का जीवनवृत्त, पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ।

" " १६।२—राजस्थानी हिंदी और कबीर, सूर्यकरण पारीक ।

वीणा, फरवरी १९३८—कबीर के कुल का निर्णय, पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ।

वीणा, जून १९४३—कबीर का शुद्ध पाठ, रामकुमार वर्मा ।

संस्कृत

अमरकोष ।

उपनिषद्—ईश, कठ, छांदोग्य, जाबाल, नारायण, प्रश्न, बृहदारण्यक, मुंडक, मुक्तिका, श्वेताश्वतर, सूर्य ।

ऋग्वेद ।

काव्यप्रकाश—मम्मट

ध्वन्यालोक—आनंदवर्धन

नारद भक्तिसूत्र ।

प्राकृत व्याकरण—हेमचंद्र ।

शांडिल्य भक्तिसूत्र ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

श्रीमद्भागवत ।

सर्वदर्शनसंग्रह—माधव ।

साहित्यदर्पण—विश्वनाथ ।

हठयोगप्रदीपिका ।

उर्दू

उर्दू सहपारे (जिल्द अव्वल)—मुहीउद्दीन कादिरी ।

सबरस—मुल्ला वजही; अब्दुलहक संपादित ।

अंग्रेजी

A New Approach to the Vedas—A. K. Coomarswamy.

An Introduction to the Buddhist Esoterism—B. B. Bhattacharya.

Aristotle on poetry—English translation by Ingram Bywater.

Bhakti Shashtra—Edited by B. D. Basu.

Bible, New Testament.

Biography of Kabir (Kabir and the Bhagti movement, Vol. I)—Mohah singh

Essays and Lectures chiefly on the Religion of the Hindus—H. H. Wilson.

Garland of letters—John Woodroffe.

Indian Philosophy—S. Radhakrishnan.

Kabir and his Followers—F E. Keay.

Kabir and the Kabir Panth—H. G. Westcott

Medieval Mysticism of India—Kshitimohan Sen.

Method of Historical Research—K. V. Subrahmanya Aiyer. (Karnatak Historical Review, Vol. VII)

Modern Vernacular Literature of Hindustan—G. A. Grierson.

Mysticism in Maharashtra—R. D. Ranade.

Nirguna School of Hindi Poetry—Pitambardutt Barathwal.

One hundred Poems of Kabir—Translated in verse by Ravindranath Tagore.

Outline of Islamic Culture—A. M. A. Shushtary.

Outline of the Religions Literature of India—J. N. Farquhar.

Principles of Literary Criticism—L. Abercrombie.

Psychological Types—C. G Jung; translated by H. Godwin Baynes.

Religion of the Rigveda—H. D. Griswold.

Religious Sects of the Hindus—H. H. Wilson.

The Modern Study of Literature—R. G. Moulton.

Vaisnavism, Saivism and Minor Religions Systems—R. G. Bhandarkar.

संकेत-सूची

ग्रंथ

इं० ऐं०—इंडियन ऐंटिक्वेरी
इति०, इतिहास—हिंदी साहित्य का इतिहास
ईश०—ईशोपनिषद्
ऋ०—ऋग्वेद
कठ०—कठोपनिषद्
ग्रथ—आदिग्रंथ, ग्रंथ साहब
गी०—भगवद्गीता
जाबाल०—जाबालोपनिषद्
ना० प्र० प०—नागरीप्रचारिणी पत्रिका
ना० भ०—नारद भक्तिसूत्र
नारा० उप०—नारायणोपनिषद्
(पा० टि०—पाद-टिप्पणी)
प्रश्न०—प्रश्नोपनिषद्
बानी—कबीर-ग्रंथावली की क प्रति
बा० प०—बानी, पद
बा० सा०—बानी, साखी
बी० क०—बीजक, कहरा
बी० र०—बीजक, रमैनी
बी० श०—बीजक, शब्द
बी० सा०—बीजक, साखी
बृ०—बृहदारण्यक उपनिषद्
भ० र०—भक्तिरत्नावली
भाग०—श्रीमद्भागवत
मुं०, मुंडक०—मुंडकोपनिषद्
मु० उप०, मुक्ति०—मुक्तिकोपनिषद्
विनय०—विनयपत्रिका
शा० भ०—शांडिल्य भक्तिसूत्र
श्वेत०—श्वेताश्वतर उपनिषद्
सं० क०—संत कबीर
स० क० की साखी—सत्य कबीर की साखी
सत्ता० र०—सत्ताईस रमैनी
सा० ग्रं०—कबीर साहेब का साखी-ग्रंथ
सा० द०—साहित्य-दर्पण
ह० प्र०—हठयोग-प्रदीपिका

राग

आ०—आसा
क०—कहरा
ग०—गउड़ी
गू०—गूजरी
गौं०—गौंड
ध०—धनासरी
ब०—बसंत
बि०—बिभास प्रभाती
भै०—भैरउ
रा०—रामकली
स०—सलोक
सो०—सोरठि

अनुक्रमणिका

अच्छी हिन्दी

[लेखक—श्री रामचन्द्र वर्म्मा]

क्या आप जानते हैं कि आप जो हिन्दी बोलते या लिखते हैं, उसमें कहाँ-कहाँ और कितने प्रकारकी अशुद्धियाँ होती हैं? क्या आपको मालूम है कि समाचार-पत्रों और पुस्तकों में आप जो हिन्दी पढ़ते हैं, वह कितनी अशुद्ध और बे-मुहावरे होती है? क्या आप जानते हैं कि कोई शब्द जरा सा आगे-पीछे हो जाने से या एकाध मात्रा हट-बढ़ जाने से ही वाक्यों के अर्थ और भाव में कितना अंतर पड़ जाता है? क्या आप जानते हैं कि आपकी भाषा में से हिन्दीपन किस प्रकार निकलता जा रहा है और उसमें अँगरेजियत कितनी बढ़ती जा रही है? यदि नहीं, तो आपका हिन्दी-ज्ञान अधूरा है। इन सब बातों का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए "अच्छी हिन्दी" पढ़िए।

लेखकों और कवियों के लिए, सम्पादकों और संवाददाताओं के लिए, अध्यापकों और विद्यार्थियों के लिए, व्याख्यानदाताओं और जन-सेवकों के लिए, व्यापारियों और कर्मचारियों के लिए, न्यायालयों के अधिकारियों और वकीलों के लिए 'अच्छी हिन्दी' पढ़ना आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य भी है। इसे पढ़कर लेखक और सम्पादक अपने लेख प्रभावशाली बना सकते हैं, व्याख्यानदाता लोगों पर अधिक प्रभाव डाल सकते हैं और विद्यार्थी परीक्षा में अधिक अंक प्राप्त कर सकते हैं।

छटा संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण, पृष्ठ संख्या ३७७, मूल्य ३), वी० पी० से ३।।)

साहित्य-रत्न-माला कार्यालय,
२० धर्म्म कूप, बनारस।

हिन्दी प्रयोग

[लेखक—श्री रामचन्द्र वर्म्मा]

'अच्छी हिन्दी' तो महाविद्यालयों या कालेजों के आरम्भिक वर्गों के विद्यार्थियों के लिए है; पर यह पुस्तक विशेष रूप से हाई स्कूलों के नवें-दसवें और हिन्दी स्कूलों के आठवें वर्ग के अथवा इनसे मिलते-जुलते अन्य वर्गों के विद्यार्थियों के उपयोग के लिए लिखी गई है। केवल हिन्दी की परीक्षाएँ लेनेवाली संस्थाओं की प्रथमा और मध्यमा और शिक्षा-विभागों के हिन्दी शिक्षकों आदि की नार्मल, ट्रेनिंग, सरटिफायड टीचर्स और कोविद सरीखी परीक्षाओं में बैठनेवाले लोगों की आवश्यकताओं का भी इसमें पूरा-पूरा ध्यान रक्खा गया है। जो शिक्षक यह पुस्तक एक बार भली-भाँति पढ़ लेंगे, वे अपने विद्यार्थियों को अधिक अच्छी भाषा की शिक्षा देकर स्वयं यश के भागी बनेंगे। एडमिशन या मैट्रिक तक की योग्यता प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों के लिए भी यह परम उपयोगी है। जो विद्यार्थी हिन्दी भाषा और व्याकरण की मुख्य-मुख्य बातें और हिन्दी के शुद्ध प्रयोग बहुत सहज में सीखना चाहते हों, उनके लिए यह पुस्तक पढ़ना अनिवार्य है। इससे आरम्भिक विद्यार्थियों को अपनी भाषा विशुद्ध और निर्दोष बनाने में बहुत अधिक सहायता मिलेगी और परीक्षा में वे अच्छे अंक प्राप्त कर सकेंगे। हिन्दी की आरम्भिक कक्षाओं के शिक्षकों के जानने योग्य कठिन और जटिल बातें इसमें इतने सहज और मनोरंजक ढंग से बतलाई गई हैं कि एक बार पुस्तक पढ़ लेने पर लिखने में जल्दी कोई भूल न होगी। इसे संयुक्त प्रान्त, बिहार और राजपूताने तथा मध्य भारत की हाई स्कूल परीक्षाओं, पूर्वी पंजाब की हिन्दी भूषण, प्रयाग महिला विद्यापीठ की विद्या-विनोदिनी तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की प्रथमा परीक्षा के पाठ्य-क्रम में स्थान मिल चुका है। चौथा संस्करण; पृष्ठ-संख्या १८२; मूल्य १।।)